विष्णु पुराण का भारत
डॉ॰ सर्वानन्द पाठक
चौखम्बा प्रकाशन

॥ श्रीः ॥

चौखम्बा राष्ट्रभाषा ग्रन्थमाला

२

विष्णुपुराण का भारत

लेखक

डॉ० सर्वानन्द पाठक

एम० ए०, पी-एच० डी० (द्वितय),

शास्त्री, काव्यतीर्थ, पुराणाचार्य (लब्धस्वर्णपदक),

पूर्व संस्कृतविभागाध्यक्ष, नवनालन्दामहाविहार, नालन्दा (पटना)

चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-१

१९६७

पूज्यः पिता

स्व० जनककुमारपाठकः
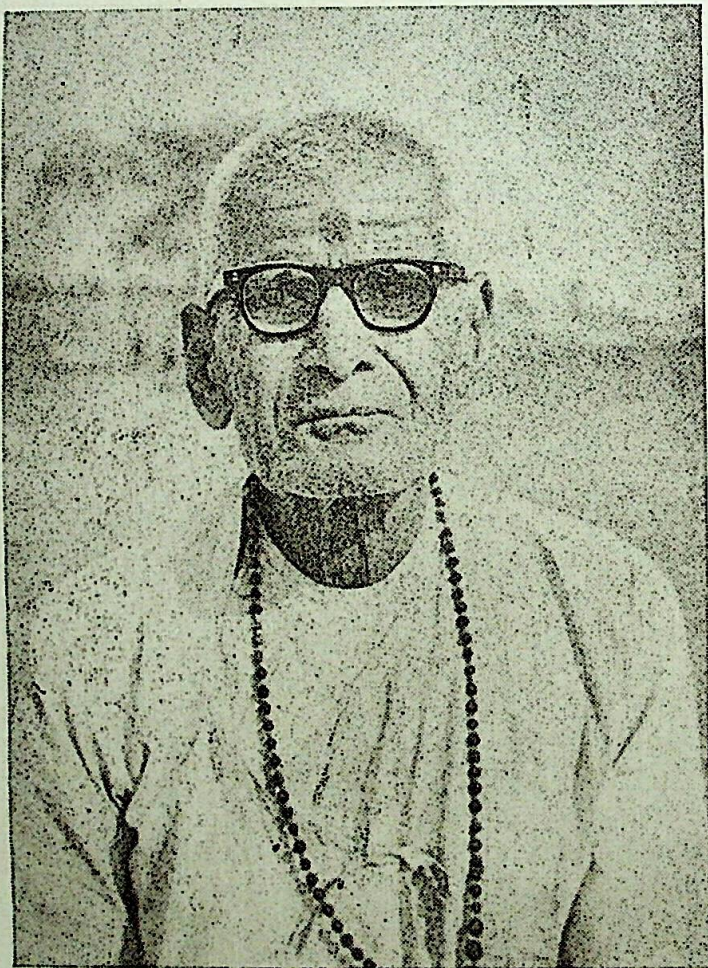
तपोवात्सल्यरूपाभ्यां पितृभ्यामात्मिकीं कृतिम् ।
सर्वानन्दप्रदामेकां भक्तिपूर्णां समर्पये ॥
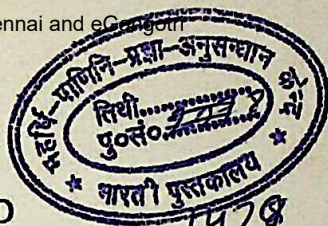
FOREWORD

Professor, Dr. R. C. Hazra, M. A., Ph. D., D. Litt.
Department of Post-Graduate Training and Research,
Government Sanskrit College, Calcutta.

The Viṣṇu-Purāṇa is an early work containing very important and interesting materials for the study of social, religious and political history of ancient India. Even its stories are often based on long-forgotten historical facts, the discovery of which requires wide range of study and a very careful and searching eye at every step. It is highly gratifying to see that Dr. Sarvananda Pathak, M. A., Ph. D. (Bhag), Ph. D. (Pat), Kāvyatīrtha, Puraṇāchārya (Gold-medallist) has made a careful and critical analysis of the contents of this extremely valuable work and brought many interesting facts to the notice of his inquisitive readers. He has arranged his materials in eleven extensive chapters, which practically leave no important topic untouched. As a matter of fact Dr. Pathak has made a thorough study of the Viṣṇu-Purāṇa, which, I believe, will satisfy those who want to have a first-hand knowledge of the contents of this work.

I congratulate Dr. Pathak for his present work and hope that in future he will add to our knowledge by his further studies on the Purāṇa.

P. 555/B,
Panditia Road Extension,
CALCUTTA—29.

R. C. Hazra

OPINION

Among the Mahā-purāṇas the Vishnu-purāṇa is recognised as one of the earliest. It, therefore, commands respect on all hands not only as a piece of religious literature but also as a repository of ancient wisdom embracing different fields of knowledge. It is, therefore, a pleasure to find Dr. Sarvānanda Pāthak engaged in a critical analysis of this eminent Purāṇa. He has not only analysed the religion and philosophy of the work but has dealt with secular topics, such as Geography, Social structure, Politics, Education, the Art of War and so on.

Couched in a language, brief and clear, his venture will cater to the needs of a wider public, besides being useful to the scholarly world. The Purāṇas are meant for the wider public. The present treatise will further the same cause.

I have pleasure to recommend it to the public of India to have access to the heritage of India through this work of Dr. Pāthak.

Dr. S. Bhattacharya,
M.A. (Hons.), Ph.D. (Lond.), D.Litt. (Lille), Bar-at-law (Gray's Inn), Kāvyatīrtha, Nyāya-Vaiśeṣika-Ācārya (Gold-medallist).

Professor and Head of the Dept.
Sanskrit and Pali,
College of Indology,
Banaras Hindu University.
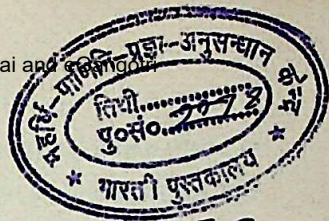
प्रस्तावना

भारतीय इतिहास, राजनीतिक, धार्मिक और सामाजिक परम्पराओं की जानकारी के लिए पुराणों का अध्ययन-अनुशीलन आवश्यक है। भारतीय ज्ञान-विज्ञान के अध्ययन के हेतु वेद, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् एवं महाकाव्यों का जितना महत्त्व है, उतना ही पुराणों का भी। पुराण तो एक प्रकार से ज्ञान-विज्ञान के कोष हैं। इन्हें प्राचीन इतिहास का भाण्डार माना जा सकता है। स्वतन्त्र भारत में संस्कृत वाङ्मय का अध्ययन तो आरम्भ हुआ है—पर पुराण जैसे विशाल वाङ्मय का अभी तक संतोषप्रद अध्ययन-परिशीलन नहीं हो सका है। यह सत्य है कि मानव समाज का इतिहास तब तक अधूरा है, जबतक सृष्टि के आरम्भ से लेकर वर्त्तमान काल तक क्रमबद्ध रूप में उसका सम्बन्ध न जोड़ा जाय। पञ्चलक्षण पुराणों में सृष्टि से आरम्भ कर प्रलय तक का इतिवृत्त, मध्य-कालीन मन्वन्तरों और राजवंशों के उत्थान-पतन का चित्रण, विद्वत्ता के प्रतिनिधि ऋषि और मुनियों के चरित एवं सामाजिक रीति-रिवाजों के वर्णन पाये जाते हैं। अतएव स्पष्ट है कि पुराणों में केवल धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष पुरुषार्थों के उपदेशों से संवलित आख्यान[1] ही अङ्कित नहीं है, अपितु, इनमें समाजशास्त्रीय महनोय सिद्धान्त भी पूर्णतया चित्रित हैं। इतिहास, समाज और संस्कृति को सम्यक् प्रकार से ज्ञात करने के लिए पुराणों की उपयोगिता सर्वाधिक है।

वाङ्मयनिरूपण

समस्त संस्कृत वाङ्मय का आलोडन करने पर ग्रथन की तीन प्रकार की शैलियाँ उपलब्ध होती हैं—(१) तथ्यनिरूपण, (२) रूपकथन एवं (३) आलंकारिक या अतिशयोक्तिपूर्ण प्रतिपादन। प्रथम प्रकार की शैली का प्रयोग व्याकरण, न्याय, ज्योतिष, आयुर्वेद एवं सूत्र-ग्रन्थों में पाया जाता है। द्वितीय प्रकार की शैली वैदिक-मंत्रों एवं तन्त्र-ग्रन्थों के निबन्धन में प्रयुक्त हुई है। पौराणिक वाङ्मय के ग्रथन में तीसरे प्रकार की शैली का व्यवहार पाया जाता है।

---

[1] आर्यादिबहुव्याख्यातं देवर्षिचरिताश्रयम्।
इतिहासमिति प्रोक्तं भविष्याद्भुतधर्मभाक् ॥"
—विष्णुपुराण, वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई श्रीधरी टीका में उद्धृत।

अतः यदि पुराणों के परिशीलन के समय अतिशयोक्तिपूर्ण कथनों को हटा दिया जाय तो समाज-शास्त्र के अनेक महत्त्वपूर्ण सन्दर्भ उपस्थित हो जाते हैं। पुराण के रचयिता या संकलयिताओं ने वेदों में प्रयुक्त प्रतीक रूप आख्यानों का अपने समयानुसार विवेचन प्रस्तुत किया है। हम यहाँ उदाहरण के लिए ऋग्वेद में वर्णित इन्द्र-वृत्र युद्ध को ही उपस्थित करते हैं। इस आख्यान में मेघ तथा अवर्षण का परस्पर संघर्ष प्रतीक रूप में प्रस्तुत किया गया है; पर पुराणों में इसका स्पष्टीकरण विस्तृत उपाख्यानों द्वारा प्रस्तुत हुआ है। वहाँ बताया है कि इन्द्र एक विशाल भूमिपाल है, जिसके पास अजेय सैन्यशक्ति है। शत्रु वृत्र भी सामान्य नहीं है. उसके पास भी सामरिक शक्ति प्रचुर परिमाण में है। दोनों में घनघोर संग्राम होता है और इन्द्र अपने शत्रु को परास्त कर देता है।

उक्त दोनों आख्यानों का तुलनात्मक अनुशीलन करने पर ज्ञात होगा कि दोनों ही सन्दर्भ एक हैं। अन्तर यही है कि ऋग्वेद में प्रतीक रूप में तथ्य को उपस्थित किया है और पुराणों में उस तथ्य की ससन्दर्भ व्याख्या कर दी गयी है। इसी प्रकार ब्राह्मण-ग्रन्थों में जो उपाख्यान यज्ञ के स्वरूप और विधि-विधान का निरूपण हुआ है, उन उपाख्यानों को लौकिक रूप देकर भक्ति और साधना-परक बना दिया गया है। पुराणों के अध्ययन में शैलीगत विशेषताओं का ध्यान अवश्य रखना पड़ेगा अन्यथा यथार्थ रूप में सामाजिक और सांस्कृतिक तथ्यों की उपलब्धि में कठिनाई होगी।

पुराण की प्राचीनता

वैदिक तत्वों को स्फुट रूप से अवगत करने के लिए पुराण वाङ्मय का आविर्भाव हुआ। महर्षि व्यास और उनके शिष्य-प्रशिष्यों ने वैदिक-वाणी को सामान्य जनता तक पहुंचाने के लिए पुराणों का प्रणयन कर 'सत्यं ज्ञानम्' 'अनन्तं ब्रह्म' के रूप में सौन्दर्य-मूर्ति तथा पतित-पावन भगवान के रूप को चित्रित किया। उपनिषदों के नाम, रूप और भाव से परे ब्रह्म को पुराणों में सर्वनामी, सर्वरूपी तथा सर्वभावमय रूप में अंकित कर भगवान् के रूप को सर्वजनग्राह्य बनाया गया है। विभिन्न नाम और रूपों से युक्त, विचित्र शक्ति-सम्पन्न, अनिन्द्य सुन्दर और ललित-लीलाओं से युक्त, सर्वशक्तिमान्, शरणागत-दुःखत्राता, अभीष्ट इच्छाओं का सम्पादक और विपत्ति के समय भक्त के पास दौड़ कर आनेवाले भगवान् का रूप अंकित किया गया है। अतः जन-साधारण के लिए पुराणों से जितना अधिक मानसिक तोष उपलब्ध होने की सम्भावना है, उतना वेद या उपनिषद् से नहीं। वास्तव में पुराण के रचयिताओं ने निराकार
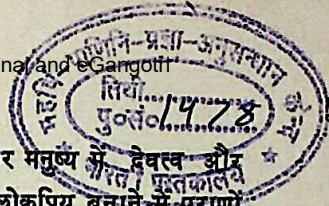
और अरूपी ब्रह्म को मानव-समाज के बीच लाकर मनुष्य में देवत्व और भगवत्तत्त्व की प्रतिष्ठा की। अतः सनातन धर्म को लोकप्रिय बनाने में पुराणों द्वारा किया गया स्तुत्य प्रयास अत्यन्त श्लाघनीय है। जन-मानस भगवान् के उसी रूप से लाभान्वित हो सकता है, जो रूप जनता के दुःख दारिद्रय का नाशक हो और आवश्यकता के समय सब प्रकार से सहायक भी। अतएव स्पष्ट है कि वेद के महनीय तत्त्वों को बोधगम्य भाषा और आलंकारिक शैली में अभिव्यक्त कर पुराण वाङ्मय का प्रणयन किया गया है।

पुराणवाङ्मय कितना प्राचीन है, यह तो निर्णयात्मक रूप मे नहीं कहा जा सकता, पर इतना स्पष्ट है कि पुराण भी वेदों के समान प्राचीन हैं। यह ज्ञातव्य है कि पुराण शब्द का प्रयोग प्राचीन साहित्य में एकवचन के रूप में उपलब्ध होता है। अतः यह अनुमान लगाना सहज है कि सामान्यतः पुराण वैदिक काल में अवस्थित थे, भले ही उनकी संख्या अष्टादश न रही हो। अथर्ववेद संहिता में बताया गया है—"यज्ञ के उच्छिष्ट से यजुर्वेद के साथ ऋक्, साम, छन्द और पुराण की उत्पत्ति हुई[1]।"

बृहदारण्यक और शतपथ ब्राह्मण में आया है—"आर्द्र काष्ठ से उत्पन्न अग्नि से जिस प्रकार पृथक्-पृथक् धूम निकलता है, उसी प्रकार इस महान् भूत के निःश्वास से ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्वाङ्गिरस, इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र व्याख्यान और अनुव्याख्यान निःसृत हुए हैं[2]।" छान्दोग्य उपनिषद् में बताया गया है कि जब नारद जी सनत्कुमार ऋषि के पास विद्याध्ययन के लिए पहुँचते हैं तो सनत्कुमार उनसे पूछते हैं कि आपने किन-किन विषयों का अध्ययन किया है? इस प्रश्न को सुनकर नारद जी उत्तर देते हैं—

"ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदꣳ सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यꣳ राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्याꣳ सर्पदेवजनविद्यामेतद्भगवोऽध्येमि[3]।"

उपर्युक्त उद्धरण में इतिहास-पुराण को पञ्चमवेद के रूप में कहा गया है। नारदजी ने चारों वेदों के समान ही इतिहास-पुराणरूप पञ्चम वेद का भी अध्ययन किया था।

---

[1] ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह। अथर्व ११।७।२४

[2] बृहदारण्यक० २।४।१० तथा शतपथ० १४।६।१०।६

[3] छान्दोग्य उपनिषद्—गीताप्रेस, गोरखपुर, ७।१।२

वेद के अन्तर्गत देवासुर के युद्ध-वर्णन आदि का नाम इतिहास है। इसके और पहले यह असत् था और कुछ भी नहीं था। इत्यादि रूप जगत् की प्रथम अवस्था का आरम्भ करके सृष्टि-प्रक्रिया के विवरण का नाम पुराण है। शंकराचार्य ने[1] भी बृहदारण्यक भाष्य में पुराण की व्याख्या उक्त रूप में ही प्रस्तुत की है। उनका कथन है कि उर्वशी और पुरूरवा के कथोपकथनादि स्वरूप ब्राह्मण-भाग का नाम इतिहास है और 'सबसे पहले एकमात्र असत् था इस असत् से सृष्टि की उत्पत्ति हुई'। सृष्टि की उत्पति-प्रक्रिया एवं प्रलय-प्रक्रिया के विवरण का ही नाम पुराण है।

पुराण के वर्ण्य विषय में उत्तरोत्तर विकास होता रहा है। पञ्चलक्षणात्मक मान्यता ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में प्रचलित हुई है। महाभारत में पुराण के वर्ण्य विषय का प्रतिपादन करते हुए लिखा है कि मनोहर कथाओं और मनीषियों के चरितों का रहना भी इसमें आवश्यक है। यथा—

पुराणे हि कथा दिव्या आदिवंशाश्च धीमताम्।
कथ्यन्ते ये पुरास्माभिः श्रुतपूर्वाः पितुस्तव॥

—महाभारत, गीताप्रेस १।५।२

पुराण और उपपुराणों के गठन के अवलोकन से ऐसा प्रतीत होता है कि ईस्वी सन् की द्वितीय शती से दसवीं शती तक पुराणों का संकलन और संवर्द्धन होता रहा है। इसी कारण इनके विषयनिरूपण में भी उत्तरोत्तर विकास और परिमार्जन हुआ है। यहाँ कतिपय आधुनिक विद्वानों के मतों को उद्धृत कर पुराणों के संकलन या रचना के विषय में मीमांसा प्रस्तुत की जाती है। श्री के० एम० पणिक्कर ने लिखा है—

"धर्मशास्त्र के लेखकों को ईसा से बहुत पहले ही पुराणों के प्राचीन रूप का ज्ञान था। किन्तु महाभारत काव्य का जो रूप हमारे सामने है, वह गुप्त-काल की देन है। बड़े-बड़े पुराणों के संग्रह भी तैयार हुए। इस काल में इन ग्रन्थों को फिर से व्यवस्थित रूप में संशोधित और सम्पादित किया गया। उनमें जोड़-घटाव इस प्रकार किया गया कि वे पूर्णतः नये साहित्य के रूप में परिणत हो गये। महाभारत हिन्दुओं के लिए एक महाकाव्य से कहीं बढ़-चढ़ कर है। इसमें भारत की राष्ट्रीय

[1] इतिहास इत्युर्वशीपुरूरवसोः संवादादिरुर्वशीहाप्सरा इत्यादि ब्राह्मणमेव पुराणमसद्वा इदमग्र आसीदित्यादि। २।४।१०
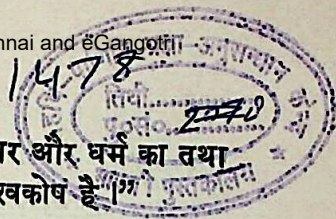
परम्परा की निधि छिपी पड़ी है। यह नीति आचार और धर्म का तथा राजनीतिक और नैतिक कर्त्तव्यों का एक बृहद् विश्वकोष है।"

"प्राचीनतम परम्पराओं का प्रतिनिधित्व करनेवाले श्रीमद्भागवत, स्कन्द, शिव, मत्स्य, वायु और ब्रह्माण्ड पुराण राष्ट्रीय उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए गुप्तकाल में फिर से लिखे गये[1]।"

पुराणों के रचनाकाल के सम्बन्ध में ऊहापोह करते हुए वरदाचार्य ने लिखा है—"पुराणों का समय निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता है। इन पुराणों के कुछ स्थल बहुत प्राचीन हैं और कुछ बहुत नवीन। कुछ पुराणों में राजवंशावलियाँ दी गयी हैं। उनमें हर्ष और ६०० ईस्वी के बाद के राजाओं का उल्लेख नहीं है[2]।"

'दि हिस्ट्री एण्ड कल्चर ऑफ दि इण्डियन पीपुल' ग्रंथ में डॉ० एम० ए० मेहेण्डले ने लिखा है[3]—

पुराणों के बीज वैदिक-साहित्य में ढूंढ़े जा सकते हैं, पर उनकी वास्तविक स्थिति सूत्रग्रन्थों में ही उपलब्ध होती है। गौतम धर्मसूत्र में स्रोत के रूप में विधिविधानों का निरूपण पाया जाता है, पर आपस्तम्ब में भविष्य-पुराण का भी निर्देश है। महाभारत में पुराण के जिन संकलित विषयों का निर्देश प्राप्त होता है, उस निर्देश से भी ईस्वी सन् के पूर्व पुराणों की स्थिति सिद्ध होती है।

वर्त्तमान वाङ्मय में पुराणों का मूलरूप उपलब्ध नहीं होता। पुराणों की पञ्चलक्षणरूप जो परिभाषा उपलब्ध है, वह समस्त पुराणों में घटित नहीं होती। एक विचारणीय बात यह भी है कि पुराणों में वर्णित समस्त विषयों का समावेश इस पञ्चलक्षण परिभाषा में नहीं पाया जाता है। शिव और विष्णु का माहात्म्य-वर्णन, वर्णों और आश्रमों के कर्त्तव्य, व्रतमाहात्म्य आदि अनेक ऐसी बातें हैं जो उक्त परिभाषा में समाविष्ट नहीं हैं। अतएव पुराणों का वर्तमान रूप अधिक प्राचीन नहीं है[3]।

---

[1] भारतीय इतिहास का सर्वेक्षण—एशिया पब्लिशिंग हाउस, बम्बई, १९५७, पृष्ठ ५३–५४।

[2] संस्कृत साहित्य का इतिहास–इलाहाबाद, पृष्ठ ७९।

[3] The Classical Age. Vol. III., Bharatiya Vidya Bhawan, Bombay. Page–297.

विष्णुपुराण

उपलब्ध पुराण वाङ्मय मे ब्रह्माण्डपुराण, विष्णुपुराण, पद्मपुराण और वायुपुराण को प्राचीन माना जाता है। इस पुराण में बताया गया है—

वेदव्यास ने आख्यान, उपाख्यान, गाथा और कल्पशुद्धि के साथ पुराणसंहिता की रचना की। व्यास के सूतजातीय लोमहर्षण नामक एक प्रसिद्ध शिष्य थे। उन्होंने उस शिष्य को पुराणसंहिता अर्पित की। लोमहर्षण के सुमति, अग्निवर्चा, मित्रयु, शांशपायन, अकृतव्रण और सावर्ण्य नामक ६ शिष्य थे। इनमें से कश्यपवंशीय अकृतव्रण, सावर्ण्य और शांशपायन—इन तीनों ने लोमहर्षण से मूलसंहिता का अध्ययन कर और उस अधीत ज्ञान के आधार पर एक पुराणसंहिता की रचना की। उक्त चारों संहिताओं का संग्रहरूप यह विष्णुपुराण है। ब्राह्मपुराण भी समस्त पुराणों का आद्य माना गया है। पुराणविदों ने पुराण के अठारह भेद किये हैं[1]।

अब स्पष्ट है कि विष्णु और ब्राह्मपुराण समस्त पुराणों की अपेक्षा प्राचीन हैं। भगवान् वेदव्यास ने केवल एक पुराणसंहिता की रचना की थी। उस एक से लोमहर्षण के तीन शिष्यों ने तीन संहिताओं का प्रणयन किया। विष्णुपुराण के उपर्युक्त उद्धरण से यह भी ज्ञात होता है कि सर्वप्रथम ब्राह्मपुराण की रचना सम्पन्न हुई। उसके पश्चात् पद्मपुराण रचा गया और तदनन्तर विष्णुपुराण।

विष्णुपुराण ही एक ऐसा पुराण है, जिसमें पञ्चलक्षणरूप परिभाषा घटित होती है। सृष्टि-निर्माण, प्रलय, ऋषि और मुनियों के वंश का इतिवृत्त, राजाओं और पौराणिक व्यक्तियों के उपाख्यान एवं धर्म के विविध अङ्गों का निरूपण इस पुराण में किया गया है। प्रसंगवश स्वर्ग, नरक, भूलोक, भुवर्लोक, चतुर्दश विद्याएँ, विभिन्न प्रकार के उपदेश आदि भी इस ग्रंथ में प्रतिपादित हैं। अतः समाज और संस्कृति के निरूपण की दृष्टि से इस पुराण का महत्त्व सर्वाधिक है।

विष्णुपुराण का रचनाकाल छठी शती के लगभग है। इस पुराण में गुप्त राजवंश का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। अतः छठी शती मे पहले इसका रचनाकाल नहीं हो सकता। ईस्वी सन् ६२८ में ब्रह्मगुप्त ने विष्णु धर्मोत्तर के आधार पर ब्रह्मसिद्धान्त की रचना की। अतः स्पष्ट है कि ६२८ ईस्वी के पश्चात् भी इस ग्रंथ का रचनाकाल नहीं माना जा सकता। विषय सामग्री और शैली आदि को देखने से अवगत होता है कि इस ग्रन्थ का रचना-

---

[1] तु० क० विष्णुपुराण ३।६।१६–२४

काल ईस्वी सन् की छठी शती है। जिन पौराणिक आख्यानों का संक्षिप्त निर्देश विष्णुपुराण में पाया जाता है, उन्हीं का विस्तृत रूप भागवतपुराण में मिलता है। और भागवतपुराण का रचनाकाल षष्ठ या अष्टम शतक है अतएव प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रणयन छठी शती के आरम्भ में हुआ होगा[1]।

इस पुराण के रचयिता पराशर माने जाते हैं। आरम्भ में महर्षि पराशर से मैत्रेय विश्व की उत्पत्ति के सम्बन्ध में प्रश्न करते हैं। प्रथम अंश में वशिष्ठ के पौत्र शक्तिनन्दन द्वारा वशिष्ठ से प्रश्न किये जाने का भी निर्देश है। अतएव इस पुराण के आदि रचयिता वशिष्ठ हैं, पर आधुनिक रूप के कर्त्ता पराशर माने गये हैं क्योंकि उनका कथन है कि यह विष्णुपुराण समस्त पापों को नष्ट करने वाला, समस्त शास्त्रों से विशिष्ट पुरुषार्थ को उत्पन्न करनेवाला है। इसमें वायु, ब्रह्म और मत्स्यपुराणों की अपेक्षा अधिक मौलिक और महत्त्वपूर्ण सामग्री संकलित है। यथा—

"पुराणं वैष्णवं चैतत्सर्वकिल्विषनाशनम्।
विशिष्टं सर्वशास्त्रेभ्यः पुरुषार्थोपपादकम्॥"

विष्णुपुराण ६।८।३

वेदव्यास के पिता का ही नाम पराशर है।

ऋक् संहिता के (१।२२।१६–२९, १।८५।७, १।९०।५९, १।१५४।२–६, १।१५५।१–६, १।१५६।१–५, १।१६४।३६, १।१८६।१०, २।१।३, २।२२।१, ३।६।४, ३।५४।१४, ३।५५।१०, ४।२।४, ४।३।७, ४।१८।११, ८।८९।१२, इत्यादि) शताधिक मन्त्रों में विष्णु का निर्देश आता है। सामवेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद में भी विष्णु के माहात्म्यप्रकाशक मन्त्रोंका अभाव नहीं है। ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् काल में ब्रह्म का महत्त्व विकसित हुआ था, पर पुराण-काल में त्रिदेव अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु, महेश, का महत्त्व ब्रह्म से भी अधिक व्यापक रूप में जनता के समक्ष आया, जिससे जन-सामान्य को बड़ी शान्ति प्राप्त हुई।

भगवत्तत्व

विष्णु-पुराण में सृष्टि के त्राता और पोषणकर्त्ता के रूप में भगवान् का चित्रण है। बताया गया है कि शिशुमार (गिरगिट या गोध) की तरह आकार वाला जो तारामय रूप देखा जाता है, उसकी पूँछ में ध्रुवतारा स्थित है। यह ध्रुवतारा घूमता रहता है और इसके साथ समस्त नक्षत्रचक्र भी। इस शिशुमार स्वरूप के अनन्त तेज के आश्रय स्वयं विष्णु हैं। इन सबके आधार सर्वेश्वर

[1] विशेष ज्ञान के लिए इसी ग्रन्थ का प्रथमांश देखिये।

नारायण हैं। इस पुराण में विष्णु को परम तेजस्वी, अजर, अचिन्त्य, व्यापक, नित्य, कारणहीन एवं सम्पूर्ण विश्व में व्यापक बताया है। यथा—

तदेव भगवद्वाच्यं स्वरूपं परमात्मनः।
वाचको भगवच्छब्दस्तस्याद्यस्याक्षयात्मनः॥
—विष्णुपुराण ६।५।६९

अर्थात् परमात्मा का स्वरूप 'भगवत्' शब्द वाच्य है और भगवत् शब्द ही उस आद्य एवं अक्षय स्वरूप का वाचक है। वास्तव में ऐश्वर्य,[1] धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य गुणों से युक्त होने के कारण विष्णु, भगवान् कहे जाते हैं। विष्णुपुराण में भगवान् शब्द का निर्वचन प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि जो समस्त प्राणियों की उत्पत्ति और नाश, आना और जाना, विद्या और अविद्या को जानता है, वही भगवान् है—

उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामगतिं गतिम्।
वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति॥
—विष्णुपुराण ६।५।७८

विष्णु सबके आत्मरूप में एवं सकल भूतों में विद्यमान हैं इसीलिए उन्हें वासुदेव कहा जाता है[2]। जो जो भूताधिपति पहले हुए हैं और जो आगे होंगे, वे सभी सर्वभूत भगवान् विष्णु के अंश हैं। विष्णु के प्रधान चार अंश हैं। एक अंश से वे अव्यक्तरूप ब्रह्मा होते हैं, दूसरे अंश से मरीचि आदि प्रजापति होते हैं, तीसरा अंश काल है और चौथा सम्पूर्ण प्राणी। इस प्रकार चार तरह से वे सृष्टि में स्थित हैं। शक्ति के तथा सृष्टि के इन चारों आदि कारणों के प्रतीक भगवान् विष्णु चार भुजावाले हैं। मणि-माणिक्य विभूषित, वैजयन्तीमाला से युक्त, ऊपरी बायें हाथ में शंख, ऊपरी दायें हाथ में चक्र, नीचे के बायें हाथ में कमल तथा नीचे के दायें हाथ में गदाधारी भगवान् विष्णु हैं। विष्णुपुराण में बताया है कि इस जगत् की निर्लेप तथा निर्गुण और निर्मल आत्मा को अर्थात्

---

[1] ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसश्श्रियः।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा॥
वसन्ति तत्र भूतानि भूतात्मन्यखिलात्मनि।
स च भूतेष्वशेषेषु वकारार्थस्ततोऽव्ययः॥ विष्णुपुराण ६।५।७४–७५

[2] सर्वाणि तत्र भूतानि वसन्ति परमात्मनि।
भूतेषु च स सर्वात्मा वासुदेवस्ततः स्मृतः॥—विष्णुपुराण ६।५।८०

शुद्ध क्षेत्रज्ञ स्वरूप को श्रीहरि कौस्तुभमणि रूप में धारण करते हैं। अनन्त शक्ति को श्रीवत्स के रूप में बुद्धिश्री को गदा के रूप में, भूतों के कारण राजस अहंकार को शंख के रूप में, सात्त्विक अहंकार को वैजयन्तीमाला के रूप में, ज्ञान और कर्मेन्द्रियों को बाण के रूप में विष्णु धारण करते हैं। इस प्रकार विष्णुपुराण में वर्णित विष्णु सर्वशक्तिमान्, मङ्गलमय, शरणागतत्राता, आर्तिहर्त्ता और भक्तों के रक्षक हैं[1]। उक्त विष्णु की लीला, अवतार एवं कार्यों का चित्रण इस पुराण में पाया जाता है। अतः पाठक और श्रोता को विष्णु के स्मरण, कीर्त्तन आदि से सुख और शान्ति की प्राप्ति होती है।

आख्यान और मूल्य

विष्णुपुराण में ध्रुव, प्रह्लाद, भगीरथ, जह्नु, जमदग्नि, नहुष, ययाति, विश्वामित्र, वासुदेव, कंसवध, शम्बरवध, केशिध्वजोपाख्यान, जरासन्धपराभव, पारिजातहरण आदि इस प्रकार के कथानक हैं, जिनमें तत्कालीन समाज का इतिवृत्त निहित है। यद्यपि कथानकों का रूप अतिशयोक्तिपूर्ण है और प्रत्येक आख्यान को श्रद्धागम्य बनाने के लिए दैवी चमत्कारों की भी योजना की गयी है, पर वास्तव में काव्यात्मक और सांस्कृतिक दृष्टि से इन आख्यानों का मूल्य अत्यधिक है। यहाँ हम उदाहरण के लिए दो चार कथांशों को उद्धृत कर उनका कथात्मक और सांस्कृतिक मूल्याङ्कन उपस्थित करेंगे।

१. विष्णुपुराण के प्रथमांश में प्रह्लाद का आख्यान आया है। यह दैत्यराज हिरण्यकशिपु का पुत्र था। हिरण्यकशिपु देव और परा शक्तियों का विरोधी था। वह अपने से अधिक शक्तिशाली संसार में किसी को नहीं मानता था। प्रह्लाद आरम्भ से ही भगवद्भक्त था। जब हिरण्यकशिपु को प्रह्लाद की भक्ति का परिज्ञान हुआ तो वह अत्यन्त रुष्ट हुआ और उसने प्रह्लाद से कहा कि तुम मेरे शत्रुओं को आमन्त्रित नहीं कर सकते हो। यदि ऐसा करोगे, तो तुम्हें दण्डित किया जायगा। कालान्तर में प्रह्लाद को शुक्राचार्य के यहाँ विद्याध्ययन के लिए भेजा गया। शुक्राचार्य के दो पुत्र थे—षण्ड और अमर्क। ये दोनों वहाँ शिक्षक थे, अतः प्रह्लाद एवं अन्य राक्षसों के लड़कों को उपयोगी विषय पढ़ाया करते थे। प्रह्लाद अपना पाठ याद करके सुना दिया करता था। उसका धर्म-सम्बन्धी व्यवहार उन दोनों को खटकता था, पर वे प्रह्लाद को अपने उपदेशों से विचलित करने में असमर्थ थे। जब विद्याध्ययन समाप्त कर प्रह्लाद घर लौटा,

---

[1] विष्णुपुराण १।२२।६७–७४

तो हिरण्यकशिपु ने उसे अपनी गोद में बैठाकर प्रेम से पूछा—'वत्स ! तुमने बहुत कुछ पढ़ा है, मुझे भी कुछ अच्छी बातें सुनाओ।' इस पर प्रह्लाद ने धर्म और भक्ति की बातें बतलाना आरम्भ किया। इन बातों को सुनते ही हिरण्यकशिपु बिगड़ गया और उसने पुत्र को अपनी गोद से पृथ्वी पर गिरा दिया तथा राक्षस नौकरों को उसे मार डालने की आज्ञा दी। राक्षसों ने गदा, भाला, खड्ग आदि अस्त्रों से प्रह्लाद को मार डालने का प्रयत्न किया, पर विष्णुभक्त प्रह्लाद का वे बाल भी बाँका न कर सके।

उक्त दृश्य को देख हिरण्यकशिपु का माथा ठनका, उसे सन्देह होने लगा कि कहीं विष्णु ही तो मेरे घर में प्रह्लाद के रूप में अवतरित नहीं हुए हैं ? उसने प्रह्लाद की हत्या करने के लिए अनेक उपाय किये। पर वे सब व्यर्थ सिद्ध हुए। जब पवनप्रेरित अग्नि भी प्रह्लाद को दग्ध न कर सकी तो दैत्यराज के पुरोहितों ने निवेदन किया कि स्वामिन् ! हम इस बालक को अपनी शिक्षा द्वारा आपका भक्त बनाने का प्रयास करेंगे। राक्षस पुरोहितों ने प्रह्लाद को अनेक प्रकार से समझाया—'आयुष्मन् ! तुम्हें देवता, ब्रह्म अथवा विष्णु आदि से क्या प्रयोजन ? तुम्हारे पिता सर्वशक्तिसम्पन्न हैं, सम्पूर्ण लोकों के आश्रय हैं अतः तुम्हें उन्हीं की स्तुति करनी चाहिये।' जब प्रह्लाद पर समझाने का कोई प्रभाव न पड़ा तो पुरोहितों ने दण्डनीति के द्वारा उसे सुमार्ग पर लाने की चेष्टा की, पर सब व्यर्थ हुआ[1]।

उपर्युक्त आख्यान के विश्लेषण से निम्नलिखित तथ्य उपस्थित होते हैं—

१. कुतूहलतत्त्व—घटनाप्रधान होने के कारण औत्सुक्य और आश्चर्य आख्यान में आद्योपान्त व्याप्त है। साहित्यदर्पण में कुतूहल की गणना स्वभावज अलंकार में की है। आचार्य विश्वनाथ ने बताया है—'रम्यवस्तुसमालोके लोलता स्यात्कुतूहलम्'[2]—सुन्दर वस्तु के अवलोकन से उत्पन्न मन की चञ्चलता कुतूहल है। जब किसी विराट् या महनीय का चित्रण प्रस्तुत किया जाता है तो कुतूहल तत्त्व स्वयं ही प्रकट होता है। अतः साहित्यदर्पणकार ने स्वभावज अलंकार के विश्लेषण में कुतूहल को एक आवश्यक अंग कहा है। कथा और काव्य दोनों में इस तत्त्व का पाया जाना आवश्यक है। प्रह्लादोपाख्यान में विष्णुपुराण के रचयिता ने आख्यान के अङ्गीभूत कुतूहल की योजना महच्चरित्र

---

[1] विष्णुपुराण १।१७।५०–७०

[2] साहित्यदर्पण, कलकत्ता संस्करण ३.१०९

के उद्घाटन के हेतु की है। विष्णुपुराण में जितने आख्यान हैं, उनमें कौतूहल तत्त्व का समवाय अवश्य पाया जाता है।

२. जिज्ञासा-शान्ति—पौराणिक आख्यानों में काव्य-चमत्कार उत्पन्न करने के लिए चञ्चलता और उत्सुकता की वृद्धि किसी एक निश्चित सीमा तक होती है। जहां आख्यान क्लाइमेक्स (Climax) की स्थिति को प्राप्त होता है, वहाँ नीरस कथावस्तु भी पाठक या श्रोता को चमत्कृत कर देती है। चमत्कार का यह सातत्य जिज्ञासा की शान्ति में परिणत हो जाता है और कथा की परिसमाप्ति महदुद्देश्य के साथ सम्पन्न होती है। अतः विष्णु-पुराण में उल्लिखित यह उपाख्यान ऊब या नैराश्य उत्पन्न नहीं करता है। प्रह्लाद की साधना आसुरी वृत्ति पर दैवी वृत्ति की विजय उपस्थित करती है।

३. द्वन्द्व और संघर्षों के बीच आख्यान का पल्लवन—विष्णुपुराण में सात्त्विक भावों की अभिव्यञ्जना के लिए प्रतीक रूप में दैवी और आसुरी वृत्तियों के संघर्ष उपस्थित किये गये हैं। संघर्षों के रेखाविन्दुओ में ही आख्यान गतिशील लक्षित होते हैं। अतः हिरण्यकशिपुऔर प्रह्लाद का संघर्ष दो संस्कृतियों का संघर्ष है। एक संस्कृति यज्ञ यागादि रूप हिंसाप्रधान है, तो दूसरी जगत् को त्राण देने वाली अहिंसा संस्कृति के रूप में अभिव्यक्त है। हिरण्यकशिपु उन सात्त्विक भावों का विरोधी है, जिनसे मानवता की प्रतिष्ठा होती है। मनुष्य स्वात्मालोचन द्वारा अपने विकार और विषय व्यापारों को नियन्त्रित करता है। वह सत्य या आलोकप्राप्ति के लिए भगवत्स्मरण करता है। अपने को क्रोध, मान, मायादि विकारी प्रवृत्तियों से पृथक् कर भगवान् के सामीप्य की प्राप्ति करता है। प्रह्लाद विष्णुपुराण का सच्चा प्रतिनिधित्व कर रहा है। वह जगत्शान्ति के लिए आसुरी प्रवृत्तियों का दमन आवश्यक समझता है। पर विशेषता यह है कि प्रह्लाद हिंसा के दमन के लिए हिंसा का प्रयोग नहीं करता। वह अपनी आत्मशक्ति का विकास कर अहिंसक प्रवृत्तियों से हिंसा को रोकता है। त्याग और संयम उसके जीवन के ऐसे दो स्तम्भ हैं जिनके ऊपर विष्णुपुराण की आधारशीला स्थित है।

४. कथानक में आरोह और अवरोह—विष्णुपुराण में जितने आख्यान आये हैं उनमें सर्वाधिक मर्मस्पर्शी प्रह्लादोपाख्यान है। पुराणकार ने इस आख्यान के कथानक में आरोह और अवरोह की स्थितियों का नियोजन किया है। हिरण्यकशिपु नाना उपायों के द्वारा प्रह्लाद को साधनामार्ग से विचलित

करना चाहता है। इसके लिए वह छल और बल दोनों का प्रयोग करता है। अतः हिरण्यकशिपु के प्रयासों में कथानक की 'अवरोह' गति छिपी है तो प्रह्लाद के प्रयासों में 'आरोह' स्थिति। प्रह्लाद को नाना प्रकार के कष्ट दिये जाते हैं, समझाया जाता है, साधना से विचलित करने के लिए सम्भव और असम्भव उपाय किये जाते हैं, पर जब हिरण्यकशिपु संकल्प और साधना में प्रह्लाद को दृढ़ पाता है, तो उसके हृदय का नैराश्य ही कथानक में अवरोह ले आता है। इस प्रकार आद्यन्त आरोह और अवरोह की स्थितियाँ प्राप्त होती हैं। इन स्थितियों का जीवनदर्शन की दृष्टि से जितना मूल्य है, उससे कहीं अधिक कथाकाव्य की दृष्टि से। यतः भावों और अनुभूतियों का वैविध्य पाठक और श्रोताओं को सभी प्रकार से रसमग्न बनाये रखता है।

५. संवाद नियोजन द्वारा नाटकीयता का समावेश—शण्ड, अमर्क, राक्षसपुरोहित एवं हिरण्यकशिपु का प्रह्लाद के साथ एकाधिक बार संवाद आया है। इन संवादों में नाटकीयता का ऐसे सुन्दर ढंग से समावेश किया गया है, जिससे पौराणिक इतिवृत्त भी मनोहर कथा के रूप में परिवर्त्तित हो गये हैं और कथारस यथेष्ट रूप में उद्देश्य तक पहुँच गया है।

६. तनाव की स्थिति—जब पौराणिक उपाख्यानों में किसी समस्या का संयोजन किया जाता है और वह समस्या सुलझने की अपेक्षा उत्तरोत्तर उलझती जाती है तो कथानक में तनाव आ जाता है। प्रस्तुत आख्यान में भक्तिसमस्या के साथ एक सर्वोपरि सत्ता का अस्तित्त्व प्रतिपादित किया गया है। हिरण्यकशिपु इस सत्ता के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता, साथ ही प्रह्लाद की आस्था को भी विचलित करने का पूर्ण प्रयास करता है। अतः भक्तिसमस्या उत्तरोत्तर जटिल होती जाती है। वर्त्तमान कथालोचक पौराणिक आख्यानों में देशकाल की परिमितियों को स्वीकार नहीं करते, पर इस उपाख्यान में समस्या का सघन रूप ही देशकाल की परिमितियों के भीतर मार्मिक स्थितियों का नियोजन प्रस्तुत करता है। अतः आधुनिक समीक्षा की दृष्टि से इस उपाख्यान में मिथ (Myth) के साथ कथा का तनाव भी पाया जाता है। वातावरण की योजना भी आख्यान में सन्निहित है, इस कारण कथा की आकृति सूच्याकार होती जाती है और अपने सरल रूप में उद्देश्य को प्राप्त हो जाती है।

७. उपदेश के साथ मण्डन-शिल्प का नियोजन—पुराणों में मण्डन-शिल्प का प्रयोग उन स्थानों पर पाया जाता है जहाँ पुराणकार किसी पात्र

द्वारा भौतिक शक्ति का रम्य रूप में प्रदर्शन कराते हैं। यह भौतिक-शक्ति समृद्धि से भी प्राप्त की जा सकती है और राज्यसत्ता से भी। राज्यसत्ता द्वारा जहाँ इस शिल्प का प्रदर्शन किया जाता है, वहाँ अधिकार की सत्ता सर्वोपरि रहती है और स्वयम्भू समस्त जनसमूह को अपनी इच्छानुसार ही परिचालित करने का प्रयास करता है। प्रह्लादोपाख्यान में हिरण्यकशिपु की स्वार्थमयी प्रभुसत्ता सर्वत्र मण्डन रूप में दृष्टिगोचर होती है। पुराणकार ने इस आख्यान को वड़े ही सजीव रूप में प्रस्तुत कर समृद्धि और सौन्दर्य चेतना का एक साथ समन्वय किया है। मानव-चरित्र के उद्घाटन में भी भावुकता, आदर्श और समृद्धि की एक साथ अभिव्यंजना हुई है।

उपर्युक्त काव्यात्मक तत्वों के अनन्तर इस आख्यान का भारतीय समाज और संस्कृति की दृष्टि से भी कम मूल्य नहीं है। पुराणकार ने जीवनदर्शन की व्याख्या करते हुए अवतारवाद का सिद्धान्त निरूपित किया है। जब अधर्म की वृद्धि होती है और धर्म पर विपत्ति आती है तो भगवान को जगत्-त्राता के रूप में अवतार ग्रहण करना पड़ता है। पुराणकार ने इस आख्यान के माध्यम से अवतार के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। वस्तुतः इस उपाख्यान में हिरण्यकशिपु वैदिक संस्कृति का प्रतीक है और प्रह्लाद पौराणिक संस्कृति का। इसी कारण पुराणकार ने प्रह्लाद के चरित्र द्वारा पौराणिक तत्वों की अभिव्यंजता की है।

इस उपाख्यान में शिक्षा, राजनीति और अर्थशास्त्र के सिद्धान्त भी निहित हैं। वालक पाँच वर्ष की अवस्था के पश्चात् किसी गुरुकुल या पाठशाला में अध्ययन करने जाता था। प्रह्लाद शुक्राचार्य द्वारा संचालित विद्याश्रम में अध्ययन के लिए पहुँचता है। इस आश्रम में शण्ड और अमर्क अध्यापक के रूप में नियुक्त हैं और शुक्राचार्य कुलपति के रूप में। प्रह्लाद कुशाग्रबुद्धि छात्र है। वह अल्प समय में ही राजनीतिशास्त्र का अध्ययन कर लेता है। उस गुरुकुल की व्यवस्था हिरण्यकशिपु के राज्य द्वारा संचालित होती थी। जब हिरण्य-कशिपु प्रह्लाद की भक्ति से रुष्ट हो जाता है, तो वह शिक्षकों को बुलाकर डाँटता है, उन्हें खोटी-खरी सुनाता है। इसका वास्तविक अर्थ यही है कि उस विद्याश्रम पर हिरण्यकशिपु का पूरा अधिकार था। वह जिस प्रकार और जैसी शिक्षा उचित समझता था, उस प्रकार वैसी ही शिक्षा वहाँ दी जाती थी। कुलपति के पद पर शुक्राचार्य का प्रतिष्ठित होना भी इस बात का द्योतक है कि बड़े-बड़े विद्यामन्दिरों का वही व्यक्ति कुलपति हो सकता था, जो एक वड़े समुदाय

का कुलगुरु रहा हो या एक बड़े साम्राज्य द्वारा सम्मानित हो। शुक्राचार्य में उक्त दोनों ही गुण विद्यमान हैं। अतः शिक्षक, शिष्य, विद्यामन्दिर एवं प्रभुसत्ता-सम्पन्न कुलपति तथा विद्यामन्दिरों का राज्यों द्वारा सञ्चालन आदि तथ्यों पर उक्त आख्यान से पूर्ण प्रकाश पड़ता है।

इस आख्यान में राजनैतिक तत्त्वों की कमी नहीं है। प्रह्लाद ने राजनीति-शास्त्र का अध्ययन किया था। वह अपने पिता हिरण्यकशिपु को स्वयं समझाता है कि दण्डनीति आदि का प्रयोग करना उचित नहीं है। केवल मित्रादिक को अनुकूल बनाने के लिए ही इन नीतियों का प्रयोग होना चाहिए। राक्षस-पुरोहित प्रह्लाद को तथाकथित सुमार्ग पर लाने के लिए वे साम, दण्डादि नीतियों का प्रयोग करते हैं। आरम्भ में वे प्रह्लाद को समझाकर हिरण्यकशिपु के अनुकूल बनाना चाहते हैं, पर जब प्रह्लाद उनकी उस नीति से प्रभावित नहीं होता और अपने दृढ़ संकल्प में अडिग रहता है, तो वे दण्डनीति का प्रयोग करते हैं। नाना प्रकार से प्रह्लाद को आतङ्कित करते हैं, उसे विभिन्न प्रकार के भय दिखलाते हैं और बल का भी प्रयोग करते हैं, पर जब उनके समस्त प्रयत्न विफल हो जाते हैं, तो वे निराश हो उसे अपने अभीष्ट मार्ग में छोड़ देते हैं। इस प्रकार साम, दाम, दण्ड नीतियों का प्रयोग इस आख्यान में अन्तर्भूत है।

उपर्युक्त आख्यान का महत्त्व आध्यात्मिक दृष्टि से भी कम नहीं है। दृढ़ संकल्प में कितनी शक्ति होती है, यह भी इस आख्यान से स्पट है। प्रह्लाद संकल्प के बल से ही विरोधी शक्तियों को विफल कर देता है। उसकी आस्था या आस्तिक्य बुद्धि भगवान् विष्णु को भी अवतार ग्रहण करने के लिए प्रेरित करती है। फलतः नृसिंहावतार होता है, जो ज्ञान और शक्ति का एकसाथ प्रतीक है। समाज का कार्य न केवल ज्ञान से सम्पादित होता है और न केवल बल-पौरुष से। ज्ञान के अभाव में बलपौरुष पशुबल है और बल या शक्ति के अभाव में ज्ञान निरीह और अकार्यकारी। ज्ञान चेतना को पूर्ण स्थिति में विकसित होने के लिए वीर्य की आवश्यकता होती है। अतः नृसिंहावतार विवेकपूर्वक बल या वीर्य के प्रयोग किये जाने का सूचक है।

प्रह्लादोपाख्यान के समान ही ध्रुवोपाख्यान भी काव्य और संस्कृति की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इस उपाख्यान में बताया है कि महाराज उत्तानपाद की दो पत्नियाँ थीं—सुरुचि और सुनीति। सुरुचि के पुत्र का नाम उत्तम और सुनीति के पुत्र का नाम ध्रुव था। राजा सुरुचि से विशेष प्यार करता था और सुरुचि ही पट्टमहिषी के पद पर आसीन थी। अतः उत्तम को ही राज्याधिकार

प्राप्त था। एक दिन राजा सिंहासनासीन था और उसकी गोद में उत्तम उपविष्ट था। ध्रुव भी वहाँ खेलता-कूदता पहुंच गया और वह भी अपने पिता की गोद में बैठने लगा। जब सुरुचि ने सौतेले पुत्र ध्रुव को पति की गोद में बैठते देखा तो वह भर्त्सना कर बोली—'अरे वत्स! तुम्हारा जन्म जिस माँ के गर्भ से हुआ है, उस माँ को इतना सौभाग्य कहाँ कि उसका पुत्र राज्य का स्वामी बने। यह सौभाग्य तो मुझे ही प्राप्त है और मेरे उदर से उत्पन्न बालक ही इस राज्यसिंहासन का उत्तराधिकारी हो सकता है। तुम अविवेक के कारण इस सिंहासन पर आसीन होने की अनधिकार चेष्टा करते हो। समस्त चक्रवर्त्ती राजाओं का आश्रयरूप यह सिंहासन तो मेरे पुत्र के ही योग्य है। यदि तुम भविष्य में भी इसे प्राप्त करना चाहते हो तो तपस्या कर मेरे उदर से जन्म ग्रहण करो, तभी तुम्हें यह समृद्धि प्राप्त हो सकेगी।'

विमाता के उक्त वचनों को सुनकर ध्रुव को मार्मिक वेदना हुई और वह रोता हुआ अपनी माँ सुनीति के पास आया। उसने निवेदन किया—'माँ! क्या ऐसा कोई उपाय नहीं है कि मैं भी अपने इस नरजन्म को सफल कर सकूं। मुझे भी 'उत्तम' के समान पिता का अपार स्नेह प्राप्त हो? मेरी विमाता ने आज मेरी ही भर्त्संना नहीं की, बल्कि उन्होंने आपकी भी निन्दा की। मुझे अपना जन्म निरर्थक प्रतीत हो रहा है। मैं कौन-सा काम करूं? कृपया मुझे उचित मार्ग बतलाइये।' पुत्र के इन वचनों को सुन सुनीति विह्वल हो गयी और उसे सान्त्वना देती हुई बोली—'वत्स! तपस्या या साधना द्वारा दैवी शक्तियां प्राप्त की जा सकती हैं। भगवान् का अनुग्रह उपलब्ध हो सकता है। संसार के कठोर और विषम कार्यों को भी प्रभु अनुग्रह से सरल और प्रयत्नसाध्य बनाया जा सकता है। अभी तुम अल्प-वयस्क हो, अतः बड़े होने पर तुम तपश्चरण करना और लोकरक्षक भगवान् का आशीर्वाद प्राप्त करना।'

मां की उपर्युक्त वाणी को सुनकर ध्रुव बोला—'स्नेहमयी माँ! मुझे आशीर्वाद दीजिये, मैं तपस्या करने के लिए आज ही जाता हूं। साधना करने के लिए छोटे और बड़े सभी समान हैं। भगवान् की दृष्टि में आयु, बल, वीर्य, वर्ण, लिङ्ग आदि का कोई महत्त्व नहीं है। वे समदर्शी हैं, प्राणिमात्र को समानरूप से सुखशान्ति प्रदान करते हैं, अतः मैं साधना के लिये प्रस्थान करता हूं।'

ध्रुव ने उग्र तपश्चरण किया, जिससे भगवान् विष्णु आकृष्ट हो, उसके समक्ष प्रादुर्भूत हुए। सत्य है, तपस्या की अग्नि विकारों को तो भस्म करती ही हैं, पर भगवान् को भी पिघला देती है और वे भी द्रवित हो, भक्त के कार्य को

सम्पन्न करने के लिए चले आते हैं। भगवान् विष्णु का दर्शन करते ही ध्रुव कातर हो गया और बोला—'प्रभो! मुझ में आपकी स्तुति करने की बुद्धि नहीं है। मैं अज्ञानी हूँ और शक्तिहीन हूं। अतः अब आपके अनुग्रह से आपकी स्तुति में प्रवृत्त होना चाहता हूँ। भगवान् ने शंख से ध्रुव का स्पर्श किया,[1] जिससे ध्रुव कृतकृत्य हो गया।

उपर्युक्त आख्यान में इतिवृत्तात्मकता के साथ तथ्य-नियोजन भी उपलब्ध होता है। पुराणकार ने घटनाओं का चित्रण इस प्रकार प्रस्तुत किया है जिससे प्रसंगगर्भित मार्मिकता अभिव्यक्त होती गयी है। यथास्थान अलंकारों का नियोजन और कथा का प्रारम्भ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा आदि स्थितियों का संयोजक के रूप में भी होता गया है। आख्यान में प्रवाह इतना तीव्र है, जिससे पाठक अन्त तक पहुंच जाता है।

इस आख्यान में सांस्कृतिक और समाजशास्त्रीय तत्त्वों की प्रचुरता है। राजतन्त्र में विलासी राजा अपनी सुन्दरी रानी के वशवर्त्ती होकर अन्य रानियों के पुत्रों का तिरस्कार करते थे, जिससे कौटुम्बिक कलह उत्पन्न होता था। राज्याधिकार के लिए सौतेले-पुत्रों में संघर्ष भी उत्पन्न होता था। विमाताएँ सौतेली सन्तानों से कितना द्वेष करती थीं, यह भी इस आख्यान से स्पष्ट है।

मनुष्य जिस शक्ति और अधिकार को शारीरिक-बल से प्राप्त नहीं कर सकता है, उस शक्ति और अधिकार को आध्यात्मिक बल से प्राप्त कर लेता है। काम-क्रोध, लोभ-मोह आदि विकारों से मनुष्य की शक्ति क्षीण होती है, और जब ये विकार नष्ट हो जाते हैं तो शक्ति का सर्वांगीण विकास होता है। ध्रुव ने अपनी साधना द्वारा उस अलभ्य वस्तु की प्राप्ति की जिसकी प्राप्ति के लिए ऋषि-महर्षि अनेक जन्मों तक प्रयास करते रहते हैं।

इस आख्यान में यह भी विचारणीय है कि भगवान् विष्णु ने गदा, चक्र आदि के रहने पर भी शंख से ही ध्रुव का स्पर्श क्यों किया? प्रतीक और तन्त्र-शास्त्र की दृष्टि से विचार करने पर अवगत होता है कि शङ्ख शब्द ब्रह्म का प्रतीक है जो अर्थान्तर से ज्ञान की अभिव्यञ्जना करता है। ध्रुव ने जब भगवान् के समक्ष अपनी बुद्धिहीनता की चर्चा की तो विष्णु ने उसे ज्ञानी बनाने के लिए शङ्ख से स्पर्श किया और उसे ध्वनि प्रदान की। भारतीय संस्कृति में शङ्ख को ज्ञान का प्रतीक माना गया है और ज्ञान आत्मालोकन के साथ आगम से प्राप्त होता है।

---

[1] विष्णुपुराण १।१२। ५१–५२

इसी कारण शब्द को ब्रह्म भी कहा गया है। यदि जगत् में यह शब्दब्रह्म न रहे तो सारा संसार अन्धकारमय हो सकता है। महाकवि दण्डी ने बताया है—

"इदमन्धतमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारान्न दीप्यते[1]॥"

अतः स्पष्ट है कि भगवान् विष्णु ने शङ्ख द्वारा स्पर्श कर शब्दब्रह्म की महत्ता प्रतिष्ठित की है। वाणी के अभाव में जगत् गूंगा रहेगा, एक भी कार्य सम्पन्न नहीं हो सकेगा। वाणी द्वारा जगत् को प्रकाश प्राप्त होता है।

व्रतविधान और महत्त्व

विष्णुपुराण में आत्मशोधन, लौकिक अभ्युदय की उपलब्धि एवं जीवन में प्रगति और प्रेरणा प्राप्त करने के हेतु व्रत और पर्वों की साधना आवश्यक मानी गयी है। कृष्णाष्टमी, चातुर्मास्य, द्वादशमासिक, विजयद्वादशी, अजितैकादशी, विष्णुव्रत, आखण्डद्वादशी, गोविन्दद्वादशी, मनोरथद्वादशी, अशोकपौर्णमासी, नरकद्वादशी, अनन्त, नक्षत्रपुरुष, तिलकद्वादशी आदि लगभग अस्सी व्रतों का विधान विष्णुधर्मोत्तर में वर्णित है। योगशास्त्र में चित्तवृत्तियों के निरोध के लिए जिन योगाङ्गों का निरूपण किया गया है, उनका अवलम्बन करना साधारण व्यक्ति के लिए साध्य नहीं है। आलस्यादि विविध तमोमयी वृत्तियाँ आत्मोत्थान के लिए अग्रसर नहीं होने देतीं। अतः पुराणकारों ने विविध व्रतों के प्रसंग में विषय-सेवन से चित्तवृत्ति को हटाने का निर्देश किया है। वास्तव में पुराणों की यह बहुत बड़ी देन है कि व्रतों की साधना से वे आत्मा और परमात्मा को अवगत करने के लिए प्रेरित करते हैं। मनुष्य रागभाव के कारण ही अपनी भौतिक इच्छाओं की पूर्ति करने में संलग्न रहता है। वह अपने को उच्च और बड़ा समझ दूसरों का तिरस्कार करता है। दूसरों की धन-सम्पदा एवं सुख-ऐश्वर्य देखकर ईर्ष्या करता है। कामिनी और काञ्चन की साधना में दिन-रात संलग्न रहता है। नाना प्रकार के सुन्दर वस्त्राभूषण, अलङ्कार और पुष्प-माला आदि उपकरणों से अपने को सजाता है। शरीर को सुन्दर बनाने की चेष्टा करता है। इस प्रकार अपनी सहज प्रवृत्तियों के द्वारा संसार के कार्यों में ही अपना सारा समय लगा देता है। वह एक क्षण के लिए भी भौतिकता से ऊपर उठकर नहीं सोचता। अतएव विष्णुपुराण में प्रतिपादित व्रतविधियाँ व्यक्ति को सुख और शान्ति प्रदान करती हैं। व्यक्ति उपवास और विषयत्याग द्वारा लोकरक्षक

---

[1] काव्यादर्श, १।४,

और लोकरञ्जक भगवान् के स्वरूप से परिचित होता है। अतः स्वयं को समझने, कर्त्तव्य अवधारण करने एवं लोक-परलोक की आस्था को सुदृढ़ बनाये रखने के लिए व्रत साधना की महती आवश्यकता है। उपवास केवल शरीर-शुद्धि का ही साधन नहीं, आत्मशुद्धि का भी साधन है। आत्मशोधन और स्वपरीक्षण का अवसर व्रतानुष्ठान से ही प्राप्त होता है। संस्कृति का व्यावहारिक रूप व्रतसाधना में निहित है, अतः विष्णुपुराण का व्रतविधान कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है।

पुराण का वैशिष्ट्य

विष्णुपुराण का महत्त्व अनेक दृष्टियों से है। इस पुराण के षष्ठांश में कलियुग का बहुत ही जीवन्त स्वरूप वर्णित किया गया है। प्रायश्चित्त-विधान और योग मार्ग का निरूपण अत्यन्त हृदयग्राह्य रूप में वर्णित है। इस पुराण के पञ्चमांश में वैधी और रागानुगा भक्ति का भी सुन्दरतम वर्णन है। वैधी भक्ति में बाह्यविधियों, आचारों और प्रतिमापूजन का विधान है। इस भक्ति-मार्ग द्वारा साधक का मन स्वाभाविक रूप से भगवदुन्मुख हो जाता है। वैधी भक्ति की तीन प्रणालियाँ हैं। विष्णुपुराण में इन तीनों प्रणालियों का वर्णन पाया जाता है। रागानुगा भक्ति में प्रेममूलक भक्ति का वर्णन विस्तार के साथ आया है। प्रह्लाद, ध्रुव इसी भक्ति के अधिकारी हैं। भगवान् के प्रति ममत्व प्राप्त कर लेना इस भक्ति का सर्वोच्च सोपान है। (१) प्रणाम (२) स्तुति (३) सर्वकर्मार्पण (४) उपासना (५) ध्यान एवं (६) कथाश्रवण ये छः वैधीभक्ति के अङ्ग, हैं, पर इनका निरूपण रागानुगा भक्ति में भी पाया जाता है। (१) श्रवण, (२) कीर्तन, (३) स्मरण, (४) पादसेवन, (५) अर्चन, (६) वन्दन, (७) दास्य, (८) सख्य और (९) आत्मनिवेदन रूप नवधा भक्ति का विस्तृत वर्णन इस ग्रन्थ में आया है। अतः विष्णु भगवान् के स्वरूप का परिज्ञान एवं भक्ति के विविध अङ्ग-प्रत्यङ्ग इस ग्रन्थ में विस्तार से वर्णित हैं। स्वयं पुराणकार ने बताया है कि जो व्यक्ति विष्णु का स्मरण करता है, उसकी समस्त पापराशि भस्म हो जाती है और वह मोक्षपद प्राप्त कर लेता है। यथा—

"विष्णुसंस्मरणात्क्षीणसमस्तक्लेशसञ्चयः।
मुक्तिं प्रयाति स्वर्गाप्तिस्तस्य विघ्नोऽनुमीयते[1] ॥"

---

[1] विष्णुपुराण २।६।४०

स्पष्ट है कि नामकीर्त्तन, भगवत् नाम स्मरण, भगवत् स्तवन, भगवद् गुण वर्णन कथा श्रवण, भगवत्प्रतिमा को साष्टाङ्ग प्रणाम आदि के द्वारा मनुष्य अपना हितसाधन कर लेता है। यद्यपि भगवद्भक्ति की प्राप्ति भी भगवत्कृपा के बिना सम्भव नहीं तो भी व्यक्ति रागानुगा भक्ति द्वारा भगवान् का सामीप्य लाभ कर सकता है। वास्तव में मानवजीवन को सुखी बनाने के लिए भगवान की शरण को प्राप्त करना, उनका गुणगान करना, गुणश्रवण करना एवं आत्मशोधन करना आवश्यक है।

भक्तिमार्ग की महत्ता के अतिरिक्त इस पुराण में सृष्टि की उत्पत्ति और प्रलय का भी महत्त्वपूर्ण चित्रण आया है। इस पुराण की मान्यतानुसार विष्णु से ही सारा संसार उत्पन्न हुआ है, उन्हीं में स्थित है, वे ही इसकी स्थिति और लय के कर्त्ता हैं तथा यह जगत् भी उन्हीं का स्वरूप है[1]।

विष्णुपुराण में प्रलय का बहुत ही स्पष्ट चित्राङ्कन किया गया है। बताया है कि प्रलय तीन प्रकार का होता है—नैमित्तिक, आत्यन्तिक और प्राकृतिक। कल्पान्त में जो ब्राह्म प्रलय होता है, उसे नैमित्तिक प्रलय कहते हैं। यह नैमित्तिक प्रलय अत्यन्त भयानक है। चतुर्युगसहस्र के अनन्तर महीतल क्षीण हो जाता है और सौ वर्षों तक वृष्टि नहीं होती, जिससे अधिकांश जीव-जन्तु नष्ट हो जाते हैं। इसके पश्चात् भगवान् विष्णु रुद्र रूप में समस्त प्रजा को अपने में विलीन कर लेते हैं, और सूर्य की रश्मियों द्वारा समस्त जल का शोषण कर लेते हैं। अब जलांश के नष्ट होने से भास्कर की किरणें समस्त भुवन को दग्ध कर डालती हैं। फलतः वृक्ष, वनस्पति आदि सभी सूखकर नष्ट हो जाते हैं और पृथ्वी कूर्मपृष्ठ के समान दिखलाई पड़ती है। प्रखर कालानल के तेज से दग्ध यह त्रिभुवन कटाह के समान दिखलाई पड़ता है। इस समय दोनों लोकों के जीव-जन्तु अनल ताप से पीड़ित हो महर्लोक में प्रश्रय प्राप्त करते हैं। अनन्तर विष्णु के निःश्वास से मेघों की सृष्टि होती है और सौ वर्षों तक अनवरत मूसलधार जल की वर्षा होती रहती है, जिसके फलस्वरूप समस्त प्राणी जल में लीन हो जाते हैं। अनन्तर भगवान् विष्णु के निःश्वास से वायु की उत्पत्ति होती है और प्रचण्ड पवन से मेघ तितर-बितर हो जाते हैं, और भगवान् विष्णु उस समय अनन्त समुद्र में शेष-शय्या पर शयन करते हैं और सनकादि ऋषि उनकी स्तुति। इस प्रकार नैमित्तिक प्रलय का विस्तृत वर्णन पाया जाता है।

---

[1] विष्णोः सकाशादुद्भूतम्······जगच्च सः विष्णुपुराण १।१।३१

जब पूर्वोक्त क्रम से अनावृष्टि, और अनल के सम्पर्क से पाताल आदि सभी लोक निःशेष हो जाते हैं, तब महत्तत्वादि पृथ्वी पर्यन्त प्रकृति के विकार को नष्ट करने के लिए प्रलयकाल उपस्थित होता है। प्राकृतिक प्रलय में सर्वप्रथम जल पृथ्वी के गन्ध गुण को ग्रसित करता है। जब पृथ्वी से समस्त गन्ध जल द्वारा नष्ट हो जाती है तो यह पृथ्वी लय को प्राप्त होती है। और जल के साथ मिल जाती है। इस से जल की उत्पत्ति हुई है। इस कारण जल भी रसात्मक है। इस समय जल प्लावन होता है और सारा संसार जलमग्न हो जाता है। पश्चात् अग्नि द्वारा जल का शोषण होता है। जिससे रस-तन्मात्र रूप में विलीन हो जाता है। जब अग्नि से सारे भुवन दग्ध हो जाते हैं, तो वायु समस्त तेज को ग्रसित कर लेती है। अब रूपतन्मात्र भी स्पर्श में समाविष्ट होता है, इस प्रकार स्पर्श भी शब्द में समाविष्ट हो जाता है। पश्चात् अहंकार तत्त्व और भौतिक इन्द्रियां भी नष्ट हो जाती हैं और अहंकार तत्त्व महत्तत्व में लीन होता है और यह महत् प्रकृति में।

आत्यन्तिक प्रलय जीव का मोक्ष रूप है। मनीषी आध्यात्मिक तापत्रय को अवगत कर ज्ञान और वैराग्य द्वारा आत्यन्तिक लय प्राप्त करते हैं। मोक्ष प्राप्त हो जाने से आत्यन्तिक लय की स्थिति आती है। संसार में वायु-पित्त और श्लेष्माजन्य शारीरिक-ताप होता है, तथा काम-क्रोध आदि षड्रिपुओं द्वारा मानसिक। पशु-पक्षी या पिशाच प्रभृति के द्वारा जो दुःख प्राप्त होता है, उसे आधिभौतिक एवं शीत, उष्ण, वर्षा, आतप आदि से जो दुःख प्राप्त होता है, उसे आधिदैविक कहते हैं। आत्यन्तिक प्रलय होने पर सभी प्रकार के ताप नष्ट हो जाते हैं। जीव का शाश्वत ब्रह्म स्वरूप में लय हो जाता है। विष्णुपुराण[1] में प्रतिपादित प्राकृतिक प्रलय ही महाप्रलय है।

अतएव मानव सभ्यता और संस्कृति के वास्तविक ज्ञान के लिए विष्णु-पुराण का अध्ययन अत्यावश्यक है। इस पुराण में सभ्यता के साथ संस्कृति के महनीय तत्त्व भी विवेचित हैं। जीवन भोग, सौन्दर्य, चिन्तन, त्याग, संयम, शील, भक्ति, साधना आदि का विस्तृत वर्णन आया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ

प्राचीन श्रेय संस्कृत साहित्य में वर्णित संस्कृति और सभ्यता को प्रकाश में लाने का कार्य एक प्रकार से डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल के 'पाणिनिकालीन

---

[1] विष्णुपुराण ६।१।७

भारतवर्ष' ग्रन्थ से आरम्भ होता है। इस ग्रन्थ के पूर्व हिन्दी माध्यम द्वारा भारतीय-संस्कृति का ग्रन्थपरक विवेचन नहीं हुआ था। अतएव उक्त ग्रन्थ से प्रेरणा ग्रहण कर मित्र डॉ० श्री सर्वानन्दजी पाठक, एम० ए०, पी एच० डी०, (संस्कृत एवं दर्शन), काव्यतीर्थ, पुराणाचार्य, लब्धस्वर्णपदक, भूतपूर्व संस्कृत विभागाध्यक्ष, नवनालन्दामहाविहार, नालन्दा (पटना) ने विष्णुपुराण का चिन्तन, मनन और अनुशीलन कर उक्त पुराण में वर्णित भारत की संस्कृति का चित्रण किया है। यह ग्रंथ ग्यारह अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय में पुराणों का सामान्य परिचय और विषय-चयन की समीक्षा के अनन्तर रचना-काल एवं कर्तृत्वमीमांसा प्रस्तुत की गयी है। पाठकजी ने अपनी शोध की शैली के द्वारा विष्णुपुराण में प्रतिपादित ऐतिहासिक तथ्यों का विवेचन किया है। द्वितीय अध्याय में भौगोलिक तथ्यों का निरूपण किया है। पौराणिक कुलाचल, सरोवर, नदियां, द्वीप आदि का निरूपण कर उनके आधुनिक परिचय भी प्रस्तुत किये गये हैं। इस अध्याय में प्राचीन देशों और नगरों के आधुनिक नामान्तर भी वर्णित हैं। तृतीय अध्याय में पुराण में प्रतिपादित समाज-व्यवस्था का निरूपण किया गया है। भारत की वर्णाश्रमव्यवस्था कितनी वैज्ञानिक और उपादेय थी, इसका सोपपत्तिक विवेचन इस अध्याय में वर्तमान है। नारी के विविध रूपों—कन्या, भगिनी, पत्नी, माता, संन्यासिनी, विधवा आदि के दायित्व और कर्त्तव्यों का विष्णुपुराण के आधार पर कथन किया गया है। तुलना के लिए अन्य ग्रन्थों के सन्दर्भ भी उपस्थित किये गये हैं। यह अध्याय अन्य अध्यायों की अपेक्षा अधिक विस्तृत और साङ्गोपाङ्ग है। चतुर्थ अध्याय में पुराण में वर्णित राजनीति का निरूपण किया है। प्रत्येक विचारशील व्यक्ति इस तथ्य से अवगत है कि पुराणों में आख्यान और उपाख्यानों का जाल है। इस घने जंगल में से जीवन-प्रदायिनी बहुमूल्य बूटियों का चयन करना साधारण श्रम-साध्य नहीं है। जो व्यक्ति वाङ्मय के आलोडन में लीन रहता है, वही इस प्रकार की बहुमूल्य सामग्री प्रदान कर सकता है। इस अध्याय में राज्य-उत्पत्ति के सिद्धान्त, दाय-विभाजन, विधेय राजकार्य, राजकर, राष्ट्रीय-भावना आदि बातें सोपपत्तिक रूप से विवेचित हैं।

पञ्चम अध्याय में विष्णुपुराण में निहित शिक्षासम्बन्धी सिद्धान्तों का विवेचन किया गया है। आज के समान बड़े-बड़े विश्वविद्यालय विष्णुपुराण के समय में भी भारत में विद्यमान थे। चतुर्दश[1] या अष्टादश विद्याओं का अध्ययन

---

१. अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः।
पुराणं धर्मशास्त्रञ्च विद्या ह्येताश्चतुर्दश॥

विष्णुपुराण में वर्णित पाठ्यक्रम में समाविष्ट है। डॉ० पाठक ने पाठ्य-साहित्य, सहशिक्षा, गुरु और शिष्य का सम्बन्ध, शिक्षण-शुल्क, शिक्षणसंस्था आदि तत्त्वों की सप्रमाण मीमांसा की है। षष्ठ अध्याय में संग्रामनीति और सप्तम अध्याय में आर्थिक दशा का प्रतिपादन किया गया है। विष्णुपुराण में पशुपालन, कृषि, वाणिज्य आदि का अत्यधिक महत्त्व निरूपित है। इस पुराण में अंकित खनिज-पदार्थ, उत्पादन, वितरण, श्रम, पुञ्जि आदि सिद्धान्तों का सप्रमाण अन्वेषण प्रस्तुत किया गया है।

अष्टम और नवम अध्यायों में धर्म एवं दार्शनिक सिद्धान्तों का प्ररूपण है। लेखक ने अवतारवाद का रहस्य, चौबीस अवतार एवं तत्सम्बन्धी विभिन्न मान्यताओं की समीक्षा प्रस्तुत की है। ज्ञानमीमांसा, प्रमाणमीमांसा, तत्त्व-मीमांसा, सर्वेश्वरवाद, आचारमीमांसा, भक्ति आदि सिद्धान्तों का तुलनात्मक शैली में अंकन किया गया है। यम, नियम आसन, प्राणायाम, प्रत्यहार, धारणा, ध्यान और समाधि का विवेचन भी है। दशम अध्याय में कलासम्बन्धी मान्यताओं का सोपपत्तिक प्रतिपादन किया गया है।

डॉ० पाठक संस्कृत, प्राकृत, पालि एवं अपभ्रंश भाषाओं के साहित्य के विज्ञ विद्वान् हैं। उन्होंने विष्णुपुराण में वर्णित भारत का विभिन्न दृष्टिकोणों से अन्वेषण किया है। उनका यह महत्वपूर्ण कार्य पुराण-वाङ्मय के अध्ययन में परमोपयोगी सिद्ध होगा। मैं डॉ० पाठक को धन्यवाद देता हूं कि उन्होंने उपेक्षित पुराणवाङ्मय के अध्ययन को प्रोत्साहित किया है। वास्तव में पुराणों में साहित्य, कला, धर्म, दर्शन, भक्ति, इतिहास, भूगोल आदि विभिन्न विषयक सामग्रियाँ संकलित हैं। इन विषयों का यह विवेचन भारतीय इतिहास के नवनिर्माण के लिये अत्यन्त उपादेय हुआ है। मैं ग्रन्थ के रचयिता एवं प्रकृत अन्वेषक डॉ० पाठक को पुनः धन्यवाद देता हूँ जिन्होंने 'चार्वाक दर्शन की शास्त्रीय समीक्षा' के अनन्तर 'विष्णुपुराण का भारत' नामक यह शोधग्रन्थ अध्येताओं के समक्ष प्रस्तुत किया है। डॉ० पाठक परिश्रमी, चिन्तनशील, मौलिक विचारक और प्रतिभाशाली लेखक हैं, अतः इनके पाण्डित्य की छाप ग्रन्थ में सर्वत्र विद्यमान है। डॉ० पाठक व्याकरण, न्याय, साहित्य, वेद और पुराण-वाङ्मय के समानरूप से अधिकारी विद्वान् हैं। अतएव उनकी इस कृति में पाठकों के चिन्तन के लिए पर्याप्त पाठ्य सामग्री उपलब्ध होगी। हिन्दी में पुराण ग्रन्थों

आयुर्वेदो धनुर्वेदो गान्धर्वश्चैव ते त्रयः।
अर्थशास्त्रं चतुर्थं तु विद्या ह्यष्टादशैव ताः॥ वि० पु० ३।६।२८–२९

के अध्ययन की नूतन परम्परा को प्रस्तुत कर पाठकजी ने हिन्दी वाङ्मय के भाण्डार को तो समृद्ध किया ही है, साथ ही शोध के क्षेत्र में नयी दिशा भी प्रदान की है। मैं उनके इस परिश्रम का अभिनन्दन करता हूँ, साथ ही अन्य पुराणों का इसी प्रकार अनुशीलन करने का अनुरोध भी।

मैं इस ग्रन्थ के प्रकाशक एवं चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी के संचालक गुप्तपरिवार को भी धन्यवाद देता हूँ, जिनके विद्यानुराग से यह कृति पाठकों के समक्ष उपस्थित हो सकी है।

एच० डी० जैन कालेज,
आरा (मगध विश्वविद्यालय)
६–२–६७

डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री, ज्योतिषाचार्य,
एम० ए० (संस्कृत, हिन्दी एवं प्राकृत),
पी एच० डी०, डी० लिट्०

आत्मिकी

(१)

भारतीय संस्कृति के महिमवर्णन के प्रसंग में अन्यान्य वाङ्मयों के समान पुराण में अत्यन्त उदात्त भावना व्यक्त की गयी है। कहा गया है कि एकमात्र भारतवसुन्धरा ही कर्मभूमि है और अन्यान्य लोक केवल भोगप्राधान्य हैं। भारतधरा पर अनुष्ठित एवं विहित अथवा अविहित कर्मफल के भोग के लिए मानव को यथोचित लोकान्तर की प्राप्ति होती है। अन्य लोकों में कर्मानुष्ठान की कोई व्यवस्था नहीं। स्वर्ग—अमरलोक के निवासी अमरगण को भी भारतीय संस्कृति के लिए श्रद्धा तथा स्पर्धा होती रहती है। स्वर्गवासी देवगण मानव प्राणी को धन्य मानते हैं, क्योंकि मानवभूमि स्वर्ग और अपवर्ग की प्राप्ति के लिए सोपानभूत—सुगम पथ है। कर्म के भी सकाम और निष्काम भेद से दो प्रकार प्रतिपादित हैं, किन्तु यहाँ भगवान् कृष्ण के गीतोपनिषदुक्त निष्काम कर्म को ही आदर्श माना गया है, क्योंकि भारतभू पर उत्पन्न मानव फलाकांक्षा से रहित अपने कर्मों को परमात्मस्वरूप विष्णु को समर्पण कर देने से निर्मल अर्थात् पापपुण्य से विमुक्त होकर उस अनन्त में ही लीन हो जाते हैं। अतः देवगण भारतीय मानव को अपनी अपेक्षा से अधिक धन्य और भाग्यवान् मानते हैं[1]।

भारतीय संस्कृति में इस विशाल तथा अनन्त विश्वब्रह्माण्डरूप रङ्गमण्डप के आयोजन में तीन नायकों—अभिनेताओं की अपेक्षा हुई है। प्रथम हैं सृष्टिकर्ता, द्वितीय हैं स्थितिकर्ता और तृतीय हैं उपसंहृतिकर्त्ता—इन्हीं तीन रूपों से इस अनन्त विश्व का अभिनय निरन्तर सम्पन्न होता रहता है और इन्हीं तीन अभिनेताओं का क्रमिक अभिधान है ब्रह्मा, विष्णु और शिव। ब्रह्मा रजोगुण का आश्रय लेकर सृष्टि करते हैं; विष्णु सत्त्वगुण से कल्पान्त पर्यन्त युग-युग में रचित

---

[1] गायन्ति देवाः किल गीतकानि धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे।
स्वर्गापवर्गास्पदमार्गभूते भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात्॥
कर्माण्यसंकल्पिततत्फलानि संन्यस्य विष्णौ परमात्मभूते।
अवाप्य तां कर्ममहीमनन्ते तस्मिल्लयं ये त्वमलाः प्रयान्ति

(२।३।२४-२५)॥

सृष्टि की रक्षा करते हैं और कल्पान्त में शिव तमःप्रधान रुद्र रूप से सृष्ट विश्व को संहृत कर लेते हैं,[2] किन्तु अपने विष्णुपुराण की घोषणा है कि एकमात्र विष्णु ही स्रष्टा, पालयिता और संहर्ता—इन तीन समस्त अभिनेताओं का व्यापार एकाकी ही सम्पन्न करते हैं; स्वेतर अभिनेता के सहयोग की अपेक्षा नहीं करते[3]।

(२)

मेरा कुल आरम्भ से ही वैष्णवसम्प्रदायी रहा है और मेरे तपोमूर्ति माता-पिता पञ्चदेवोपासक होते हुए विशिष्ट रूप से भागवत वैष्णव थे। पिताजी तो अमरकोष और प्रक्रिया व्याकरण के पण्डित होते हुए, रामायण, महाभारत और पुराण के भी मर्मज्ञ विद्वान् थे। भागवतपुराण के तो वे अनन्य प्रेमी थे और इस पुराण की उन्होंने पञ्चाशदधिक आवृत्तियां की थीं। आवृत्तियों के समय भावुकतावश यथाप्रसंग उनके नेत्रों से अविरल अश्रुधारा प्रवाहित होने लगती थी। उन्हीं के अवाचनिक, पर मानसिक अभिलाषामय आदेश से मैंने उन्हीं की तृप्ति के लिए विष्णुपुराण पर पुस्तक लिखने का उपक्रम किया था। आज वे जीवित होते तो उन्हें अलौकिक प्रसन्नता होती, किन्तु दुर्भाग्य, कुछ ही मास पूर्व अर्थात् अपने ८७ वर्ष के वयःक्रम में गत मार्गशीर्ष कृष्णैकादशी वि० सं० २०२३ (८।१२।१९६६) को ब्राह्ममुहूर्त में हमें छोड़ कर वे इस जगत् से चले गये—पुस्तक के मुद्रित रूप नहीं देख सके। पूज्या माता जी तो आज से लगभग ग्यारह-बारह वर्ष पूर्व ही दिवंगत हो चुकी थीं। एकपुत्र पिताजी की अभिनव स्मृति मेरे हृदय को यदा कदा आन्दोलित करती रहती है—एकाकी पुत्र के अन्तःकरण को झकझोर देती है। आज मैं अन्तःकरण से प्रेरित होकर हार्दिक श्रद्धा के साथ अपने तपोरूप एवं त्यागमूर्ति दिव्य मातापिता को मानसिक पूजाञ्जलि समर्पित करने में हार्दिक प्रसन्नता का अनुभव कर रहा हूँ।

प्रारम्भ में संस्कृत व्याकरण एवं काव्य की प्रथमा से काव्यतीर्थ परीक्षा पर्यन्त मेरी शिक्षा-दीक्षा मुख्यरूप से दो ऋषिरूप गुरुओं के आश्रय में हुई थी :—

---

[1] जुषन् रजोगुणं तत्र स्वयं विश्वेश्वरो हरिः।
ब्रह्मा भूत्वास्य जगतो विसृष्टः सम्प्रवर्तते॥
सृष्टं च पात्यनुयुगं यावत्कल्पविकल्पना।
सत्त्वभृद्भगवान्विष्णुरप्रमेयपराक्रमः (१।२।६१-६२)॥

[2] सृष्टिस्थित्यन्तकरणीं ब्रह्मविष्णुशिवात्मिकाम्।
स संज्ञां याति भगवानेक एव जनार्दनः (१।२।६६)॥

प्रथम हैं प० भृगुनाथ पाठक, काव्यव्याकरणतीर्थ (प्रधानाध्यापक, शङ्करविद्यालय, मसौढ़ी, पटना) और द्वितीय थे प० गौरीलाल मिश्र, व्याकरणतीर्थ (प्रधानाध्यापक, टिकारी राजकीय संस्कृतविद्यालय, टिकारी, गया)। इन्हीं पूज्यपाद महर्षियों की आशीर्वादमयी शुभकामना से केवलमात्र काव्यतीर्थ परीक्षोत्तीर्ण होने के कुछ ही अनन्तर अंग्रेजी शासनकाल में—राँची जिलास्कूल जैसी उच्च राजकीय शिक्षणसंस्था में संस्कृत के प्रधानाध्यापक के पद पर मेरी नियुक्ति हुई थी। इन गुरुवरों के प्रति अपनी प्रणामाञ्जलि समर्पण करना मैं अपना अहोभाग्य समझता हूँ।

सर्वप्रथम मैं उन ऋषिमहर्षियों एवं विद्वानों के प्रति अपनी श्रद्धाञ्जलि समर्पण करता हूँ जिनके साहित्य का मैंने इस ग्रन्थ में निःसंकोच भाव से उपयोग किया है। भारतीयवाङ्मय और अंग्रेजी साहित्य के मूर्धन्यविद्वान् प्रॉफेसर सातकडि मुखर्जी, एम० ए०, पीएच० डी० (भूतपूर्व निदेशक, नवनालन्दा-महाविहार) को यदि मैं अपनी भक्तिपूरित श्रद्धाञ्जलि अर्पित न करूँ तो मेरी ओर से अकृतज्ञता होगी, क्योंकि शोधनिबन्ध लिखने की ओर इन्होंने ही मुझे जागरित, प्रेरित एवं प्रवृत्त किया है। पुराणजगत् के आधुनिक प्रसिद्धतम विद्वान्, कलकत्ता संस्कृत कॉलेज के स्मृतिपुराणानुसन्धानविभागाध्यक्ष एवं स्नातकोत्तर प्रशिक्षण और रिसर्च के विभागीय प्रोफेसर डॉ० राजेन्द्रचन्द्र हाजरा, एम० ए०, पीएच० डी०, डी० लिट्० ने अपने ४ अगस्त, १९६४ दिनाङ्कित पत्र के द्वारा विष्णुपुराण पर क्रियमाण कार्य के लिए प्रसन्नता प्रकट करते हुए मुझे प्रोत्साहित किया था[१]। प्रस्तुत पुस्तक के लिए एक छोटा, किन्तु सारगर्भित Foreword लिख कर भी उन्होंने मुझे अनुगृहीत किया है। अतएव डॉ हाजरा मेरे हार्दिक धन्यवाद एवं श्रद्धा के भाजन हैं। भारतीय संस्कृति के प्रकृत अनुयायी विहारराज्यपाल श्री एम० ए० अय्यंगार महोदय भी मेरे हार्दिक धन्यवाद के पात्र हैं—इन्होंने १८।१०।१९६५ ई० को अपने १९५५ के भाषणग्रन्थ (The Kamala Lectures) की एक प्रति मुझे सप्रेम भेंट की थी और विष्णु-पुराण के सांस्कृतिक विवेचन के लिए मुझे उचित परामर्श दिया था। डॉ०

---

१. "Dear Dr. Pathak,

I am very glad that you have written a work on Visṇu-purāṇa. I shall feel happier if I can be of some help to you.

With best wishes.

Yours sincerely
R. C. Hazra."

सिद्धेश्वर भट्टाचार्य, एम० ए०, पीएच० डी०, डी० लिट्० (मयूरभंज प्रोफेसर तथा संस्कृत-पालिविभागाध्यक्ष, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय) का तो मैं पूर्व से ही ऋणी हूँ, क्योंकि इन्होंने गत १९६५ ई० में प्रकाशित मेरी पीएच० डी० निबन्ध पुस्तक "चार्वाक दर्शन की शास्त्रीय समीक्षा" पर Foreword लिख कर मुझे अनुगृहीत किया था और वर्तमान ग्रन्थ पर भी अपनी अमूल्य सम्मति लिखने का कष्ट किया है। अतः डॉ० भट्टाचार्य के प्रति कृतज्ञताज्ञापन करना मैं अपना कर्तव्य मानता हूँ। मित्रवर डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री, एम० ए०, पी-एच्० डी०, डी० लिट्० (संस्कृत-प्राकृतविभागाध्यक्ष, हरप्रसाद दास जैन कॉलेज, आरा) ने पुस्तक की एक बृहत् प्रस्तावना लिखने का प्रकृत प्रयास किया है। अतएव डॉ० शास्त्री को प्रेमार्पण करना मैं अपना औचित्यपूर्ण कर्तव्य मानता हूँ।

पुस्तक की पाण्डुलिपि और प्रेसकॉपी प्रस्तुत करने में मेरे ज्येष्ठ पुत्र श्री रामावतार पाठक का पूरा सहयोग रहा है अतः ये मेरे आशीर्वादभाजन हैं और पुस्तक की अनुक्रमणी के निर्माण में (१) मेरे द्वितीय पुत्र प्रोफ़ेसर जगदीश-चन्द्र पाठक, एम्० एस्-सी० (भूतत्त्व विज्ञानविभागाध्यक्ष, राँची कॉलेज) और (२) अपने ज्येष्ठ पौत्र श्री सतीशचन्द्र पाठक, बी० एस्-सी० प्रतिष्ठाछात्र (राँची कॉलेज) का ही पूरा सहयोग और श्रेय है। इन दोनों चाचा-भतीजे को तो मैं केवल स्नेहमय आशीर्वाद ही दे सकता हूँ। अन्त में चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी के अधिष्ठाता उदारमना भ्रातृयुगल श्री विट्ठलदास जी गुप्त और श्री मोहनदास जी गुप्त को आन्तरिक धन्यवाद प्रदान करना मेरा उचित कर्तव्य हो जाता है, क्योंकि इन्होंने पूरी तत्परता के साथ पुस्तक के मुद्रण-प्रकाशन में प्रयास किया है। विद्याविलास प्रेस, वाराणसी के कर्मचारिगण ने भी पुस्तक के मुद्रणकार्य में निष्कपट भाव से श्रम किया है अतः वे भी मेरे धन्यवाद के पात्र हैं।

पाश्चात्य देशों में भी संस्कृत साहित्य के खोजी एवं मर्मज्ञ अनेक विद्वान् हुए हैं। उनमें मैक्समूलर, विलसन तथा पार्जिटर एवं विण्टरनित्ज आदि विद्वान् उदाहरणीय हैं। संस्कृतसाहित्य का जितना ठोस और तथ्यपूर्ण अनुसन्धानात्मक कार्य इन विदेशी विद्वानों ने किया है, आनुपातिक दृष्टि से, उतना और वैसा कदाचित् भारतीय मनीषियों ने नहीं। इस दिशा में श्री विलसन संस्कृत वाङ्मय की प्रत्येक शाखा के मर्मज्ञ, उन्नायक तथा भारतीय संस्कृति के विद्वान् मर्मस्पर्शी एवं सच्चे प्रेमी थे। इन्होंने वेदों और काव्यसाहित्य का साङ्गोपाङ्ग इतिहास लिखा था। पुराणों का ऐतिहासिक शोधात्मक कार्य जो इन्होंने किया, वह अद्वितीय है। वे वर्तमान कलकत्ता गवर्नमेन्ट संस्कृत कॉलेज के स्थापक तथा उन्नायक थे। इन्होंने

चुन चुन कर विद्वानों को इस कॉलेज के लिए अध्यापक, नियुक्त किया था । इनके समसामयिक लॉर्ड मेकाले नामक एक विदेशी व्यक्ति विशिष्ट एवं उच्च पदाधिकारी के रूप में भारतवर्ष में ही था । वह भारतीय संस्कृति और संस्कृत भाषा का समूल उच्छेद करना चाहता था और वह सर्वप्रथम कलकत्ता संस्कृत कॉलेज का ही संहार करने के लिए दृढ़प्रतिज्ञ हुआ । उसका यहाँ के अध्यापकों के साथ दुर्व्यवहार होना आरम्भ हुआ । इस परिस्थिति में कॉलेज के अध्यापकों एवं श्री विलसन के साथ जो संस्कृत पद्यात्मक पत्राचार हुआ और उसमें भारतीय संस्कृति के प्रति श्री एच्० एच्० विलसन के जो हार्दिक उद्गार प्रकट होते हैं वे भारतीय हृदय के मर्म को स्पर्श करने लगते हैं । उनका उल्लेख करना पाठकों के लिए अरोचक नहीं होगा । लॉर्ड मेकाले के हृदयहीनतापूर्ण कार्यवाही से मर्माहत होकर कॉलेज के एक अन्यतम आचार्य श्री जयगोपाल तर्कालङ्कार ने विलसन महोदय के पास निम्नलिखित एक श्लोक भेजा था :—

अस्मिन्संस्कृतपाठसद्मसरसि त्वत्स्थापिता ये सुधी-
हंसाः कालवशेन पक्षरहिता दूरं गते ते त्वयि ।
तत्तीरे निवसन्ति संहितशरा व्याधास्तदुच्छित्तये
तेभ्यस्त्वं यदि पासि पालक तदा कीर्तिश्चिरं स्थास्यति ।।

इस संस्कृतविद्यालयरूप सरोवर में आपके द्वारा नियुक्त जो अध्यापकरूप हंस थे वे कालवश पक्षविहीन हो गये हैं । उस (विद्यालय) के तट पर उसके सर्वनाश के लिए प्रस्तुत आज धनुष पर बाण चढ़ाए व्याध निवास कर रहे हैं । हे रक्षक, इन व्याधों से इन अध्यापक-हंसों की यदि आप रक्षा करें तो आपकी कीर्ति चिरस्थायिनी होगी ।

इस पद्यमय पत्र से मर्माहत होकर श्री विलसन ने उत्तर में श्री तर्कालङ्कार के पास चार श्लोक भेजे थे । जिनके भाव से संस्कृत भाषा और भारतीय संस्कृति के प्रति उनकी प्रकृत आस्था ध्वनित होती है :—

(१) विधाता विश्वनिर्माता हंसास्तत्प्रियवाहनम् ।
अतः प्रियतरत्वेन रक्षिष्यति स एव तान् ।।

(२) अमृतं मधुरं सम्यक् संस्कृतं हि ततोऽधिकम् ।
देवभोग्यमिदं यस्माद्देवभाषेति कथ्यते ।।

(३) न जाने विद्यते किन्तन्माधुर्यमत्र संस्कृते ।
सर्वदैव समुन्मत्ता येन वैदेशिका वयम् ।

(४) यावद्भारतवर्षं स्याद्यावद्विन्ध्यहिमाचलौ।
यावद्गङ्गा च गोदा च तावदेव हि संस्कृतम्॥

(१) विश्व के निर्माणकर्ता ब्रह्मा हैं और हंस उनका प्रिय वाहन है। अतः वही (ब्रह्मा ही) अपने प्रियतर वाहन होने के कारण उन (अध्यापक हंसों) की रक्षा करेंगे। (२) अमृत अतिशय मधुर होता है और संस्कृत भाषा उस (अमृत) से भी मधुरतर है। देवता इसका उपयोग करते हैं। इस कारण देव-भाषा नाम से यह प्रख्यात है। (३) मुझे ज्ञात नहीं कि इस संस्कृतभाषा में कौन सीं माधुरी भरी है कि हम विदेशी होने पर भी इस संस्कृत के पीछे मदमत्त से हैं। (४) जब तक भारतवर्ष है, जबतक विन्ध्याचल और हिमालय हैं और जब तक गङ्गा और गोदावरी नदियाँ हैं, तब तक संस्कृत विद्या पर कोई भी आघात सफल नहीं हो सकता।

इस के पश्चात् कॉलेज के एक अन्यतम अध्यापक ने महाविद्यालय की दुर-वस्था पर विलसन महोदय का ध्यान आकर्षित कर एक श्लोकमय पत्र भेजा :—

गोलश्रीदीर्घिकाया बहुविटपितटे कोलिकातानगर्या
निस्सङ्गो वर्तते संस्कृतपठनगृहाख्यः कुरङ्गः कृशाङ्गः।
हन्तुं तं भीतचित्तं विधृतखरशरो 'मेकले' व्याधराजः
साश्रुः ब्रूते स भो भो 'उइलसन' महाभाग मां रक्ष रक्ष॥

कलकत्ता नगरी में अवस्थित 'गोलसर' नामक सरोवर के विविध वृक्षपूर्ण तट पर एक असहाय संस्कृतविद्यालयरूप मृग निरन्तर दुर्बलाङ्ग होता जा रहा है। उस भीत मृग को मारने के लिए लॉर्ड मेकालेरूप तीक्ष्ण बाणधारी व्याधराज सतत सोद्योग हो रहा है। इस अवस्था में यह विद्यालयमृग अश्रुपूरिताक्ष होकर आपको सम्बोधित करता हुआ कह रहा है। 'हे विलसन, मेरी रक्षा कर' 'रक्षा कर'।

उपर्युक्त श्लोक से आहतहृदय होकर भगवान् की सर्वत्र व्यापकता और न्यायपूर्ण सत्ता की सिद्धि में श्री विलसन ने उत्तररूप निम्नाङ्कित श्लोक भेजा :—

निष्पिष्टापि परं पदाहतिशतैः शश्वद्बहुप्राणिनां
सन्तप्तापि करैः सहस्रकिरणेनाग्निस्फुलिङ्गोपमैः।
छागाद्यैश्च विचर्वितापि सततं मृष्टापि कुद्दालकैः
दूर्वा न म्रियते कृशापि सततं धातुर्दया दुर्बले॥

दूर्वा (घास) निरन्तर विविध प्राणियों के पादाघात से सदा पिसती रहती है; अग्नि की चिनगारी के समान सूर्यकिरणों से तपती रहती है; छाग

(बकरी) आदि पशुप्राणियों से निरन्तर विचर्वित और कुदालों से उन्मूलित होती रहती है। फिर भी यह घास नहीं मरती, क्योंकि दुर्बलों के ऊपर विधाता की दया सदा सर्वदा अक्षुण्ण बनी रहती है।

श्री विलसन ने विष्णुपुराण का अंग्रेजी में सारगर्भित अनुवाद किया और साथ ही साथ उसकी एक दीर्घ आलोचनात्मक भूमिका भी लिखी है, जिस में पुराणसम्बन्धी प्रत्येक अङ्ग पर प्रकाश पड़ा है। इनके साहित्यों के अनुशीलन से लगता है कि उनका हृदय भारतीय संस्कृति के पक्के रंग में अभिरञ्जित हो गया था। ऐसे विद्वान् के प्रति अपनी हार्दिक श्रद्धा समर्पित करने के लिए मुझे निसर्ग ही प्रेरित कर रहा है।

(३)

प्रस्तुत पुस्तक १९६६ के दिसम्बर मास में पटना यूनिवर्सिटी से स्वीकृत पीएच० डी० उपाधि-निबन्ध का ईषत्परिवर्तित रूप है। इस पुस्तक के प्रणयन के सम्बन्ध में मुझे यह कहना है कि विष्णुपुराण में अनेक विषय परिवर्णित हुए हैं। उनमें एक-एक विषय पर पृथक्-पृथक् विशाल ग्रन्थों का प्रणयन हो सकता है; मैंने तो इस वार उनमें से केवल एक विषय—सांस्कृतिक अंश ही को ग्रहण किया है। वर्तमान ग्रन्थ में विष्णुपुराण पर आधारित भूगोल, समाज, राजनीति, शिक्षा-साहित्य, संग्राम, अर्थ, धर्म, दर्शन और कला—इन्हीं विषयों पर संक्षिप्त एवं समीक्षात्मक विवेचन प्रस्तुत किया है और पौराणिक विवृतियों के पुष्टीकरण श्रुति-स्मृतिप्रभृति स्वतःप्रमाण भारतीय वाङ्मयों तथा आधुनिक स्तरीय साहित्यों से किया गया है।

पादटीकाओं पर साहित्योद्धरणों का उल्लेख साङ्केतिक नामनिर्देश के साथ हुआ है और जहां उद्धरणों के साथ उद्धारग्रन्थों का साङ्केतिक नामनिर्देश नहीं है उन्हें विष्णुपुराण से ही उद्धृत मानना अभिप्रेत है। पृ० ९६ के पूरे तृतीय अनुच्छेद को क० हि० वा० पृ० १५२–३ से उद्धृत समझना चाहिए।

मुद्रणकार्य में शीघ्रताजनित कतिपय अशुद्धियों का रह जाना सहज-सम्भव-सा हो गया है जिसके लिए मुझे हार्दिक खेद है। इस दिशा में संस्कृत-संसार के प्रख्यात विद्वान् स्व० महामहोपाध्याय रामावतार शर्मा जी की प्रासङ्गिक उक्ति का उल्लेखन आवश्यक प्रतीत होता है। शर्मा जी बहुधा कहा करते थे :—

"कोई भी सांसारिक वस्तु सम्पूर्ण रूप से निर्दोष एवं सन्तोषप्रद नहीं हो सकती। जब मैं स्वयं कोई साधारण भी लेख सावधानता से लिखता हूँ और पश्चात् लिख चुकने पर उसका अवलोकन करता हूँ

तब उसमें से विविध अशुद्धियां दृष्टिपथ पर आ जाती हैं। पुनः संशोधन करता हूँ, फिर भी उसमें नयी-नयी त्रुटियां दृष्टिगत हो ही जाती हैं। इस प्रकार बार-बार संशोधन करने पर भी उस में नये-नये दोषों और नयी-नयी अशुद्धियों—त्रुटियों के दर्शन का कदापि—कथमपि अन्त नहीं होता और तब अन्ततोगत्वा मनोनुकूलता के अभाव में भी विवशतावश सन्तोष करने को बाध्य हो जाना पड़ता है।"

जब इतने महान् मर्मस्पर्शी और मूर्धन्य विद्वान् का ऐसा कथन है तो मेरे-सदृश साधारण व्यक्ति की क्या अवस्था हो सकती है? ऐसी परिस्थिति में शास्त्रोक्ति के इस आधार पर सन्तोष करना पड़ता है कि जो चलता है, प्रमादवश कहीं पर उसका स्खलन होना स्वाभाविक एवं अवश्यंभावी है और इस प्रकार के स्खलन पर दुर्जनों का अट्टहास तथा सज्जनों का सहानुभूतिपूर्ण समाधान करना भी स्वाभाविक ही है। अतएव वर्तमान परस्परागत पद्धति—

"गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः।
हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति सज्जनाः॥"

के आदर्श के अनुसरणकर्त्ता विद्वानों से मेरी क्षमाप्रार्थना है। इति शम्।

खगौल
वसन्तपञ्चमी
वि० सं० २०२३

विद्वद्वशंवदः
सर्वानन्द पाठकः

साहित्यसङ्केतः

अ० को० : अमरसिंह : अमरकोषः ।

अ० पु० द० : ज्वालाप्रसादमिश्र : अष्टादशपुराणदर्पणः ।
लक्ष्मीवेङ्कटेश्वर प्रेस, वि० सं० १९६२ ।

अ० वे० : अथर्ववेदः ।

आ० ला० लि० : Farquhar, J. N. : Ont line of Religious Literature of India, 1920.

इ० ऐ० : Ray Chaudhury, H. C. : Studies in Indian Antiquities.

इ० हि० इ० : Das, S. K. : Economic History of Ancient India, 1944 A. D.

ई० उ० : ईशावास्योपनिषद् : गीताप्रेससंस्करणम् ।

उ० च० : भवभूति : उत्तररामचरितम् ।

ऋ० वे० : ऋग्वेदसंहिता: सायणभाष्यसहिता ।

ए० इ० हि० : Pargiter, F. E. : Ancient Indian Historical Tradition, 1922 A. D.

ए० ज्यॉ० इ० : Cunningham : Ancient Geography of India, 1924 A. D.

ऐ० ब्रा० : ऐतरेयब्राह्मणः ।

क० उ० : कठोपनिषद् : गीताप्रेससंस्करणम् ।

क० ले० : Ayyangar, M. A. : Kamala Lecture (Indian Cultural and religious thought) Calcutta University 1966.

क० हि० वा० : Patil, D. K. K. : Cultural History from Vāupurāna, Poona, 1946.

कु० सं० : कालिदास : कुमारसम्भवम् ।

ग० इ० : Altekar, A. S. : State Government in Ancient India.

गीता : श्रीमद्भगवद्गीता ।

चा० शा० स० : डा० सर्वानन्दपाठक चार्वाकदर्शन की शास्त्रीय समीक्षा ।

छा० उ० : छान्दोग्योपनिषद् : गीताप्रेससंस्करणम् ।

ज्या० ऐ० इ० : Sarkar, D. C. : Studies in the Geography of : Ancient and Medieval India, 1960.

ज्यॉ० डि० : De, N. L. : Geographical Dictionary of Ancient and Medieval India.

टी० जे० : Parker and Haswel : Text Book of Zoology.

डा० ब्र० : Rhys Davids, T. N. : Dialogues of the Buddha, Part I.

त० सं० : अन्नंभट्ट : तर्कसंग्रहः ।

तु० क० : तुलना करें ।

तै० आ० : तैत्तिरीय आरण्यकम् ।

तै० उ० : तैत्तिरीयोपनिषद् : गीताप्रेससंस्करणम् ।

दा० पा० : दाक्षिणात्य पाठः ।

द्र० : द्रष्टव्यम् ।

नी० श० : भर्तृहरि : नीतिशतकम् ।

न्या० को० : म० म० भीमाचार्यझलकीकर : न्यायकोशः निर्णयसागर प्रेस संस्करणम् १९२८ ई० ।

न्या० सू० : गौतम : न्यायसूत्रम् ।

प० पु० : पद्मपुराणम् ।

पा० ई० डि० : Rhys Davids, T. N. Pali—English Dictionary.

पा० टी० : पादटीका ।

पा० यो० : पातञ्जलयोगदर्शनम् : गीताप्रेससंस्करणम् ।

पा० व्या० : पाणिनिव्याकरणम् ।

पु० रे० हि० : Hazra, R. C. : Studies in the Puranic Records on Hindu Rites and Customs 1940.

पो० इ० : Altekar, A. S. : Position of Women in Ancient India.

प्रा० शि० प० : डा० अनन्त सदाशिव अलतेकर : प्राचीन भारतीय शिक्षण-पद्धति, १९५५ ई० ।

प्रि० बु० इ० : Mehta, Rati Lal : Pre-Buddhist India 1939.

बृ० इ० : डॉ० राजवली पाण्डेय : हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, प्रथम भाग।

बृ० उ० : बृहदारण्यकोपनिषद् : गीता प्रेस संस्करणम्।

ब्र० सू० : ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम् : निर्णयसागर प्रेस संस्करणम् १९३८ ई०।

भा० पु० : श्रीमद्भागवतपुराणम् : गीताप्रेससंस्करणम्।

भा० वा० : परमेश्वरीलाल गुप्त : भारतीय वास्तुकला ना० प्र० सभा सं० २००३।

भा० व्या० इ० : कृष्णदत्त वाजपेयी। भारतीय व्यापार का इतिहास, १९५१ ई०।

म० पु० : मत्स्यपुराणम्।

म० भा० : महाभारतम् : गीता प्रेस संस्करणम्।

म० स्मृ० : मनुस्मृति : कुल्लूकभट्ट टीकासहित निर्णयसागर प्रेस १९४६ ई०।

मा० पु० : मार्कण्डेयपुराणम्।

मा० मा० : भवभूति : मालतीमाधवनाटकम्।

मा० मि० : कालिदास : मालविकाग्निमित्रनाटकम्।

मि० भा० द० : म० म० उमेश मिश्र : भारतीयदर्शन।

मु० उ० : मुण्डकोपनिषद् : गीता प्रेस संस्करणम्।

या० स्मृ० : याज्ञवल्क्यस्मृति : मिताक्षराव्याख्यासहिता।

र० वं० : कालिदास : रघुवंशमहाकाव्यम्।

वा० पु० : वायुपुराणम्।

वा० भा० : वात्स्यायन न्यायभाष्यम्।

वा० रा० : वाल्मीकिरामायणम्।

वै० इ० : मैकडोनल एण्ड कीथ : वैदिक इण्डेक्स चौखम्बा हिन्दी संस्करण १९६२ ई०।

वै० ध० : परशुराम चतुर्वेदी : वैष्णव धर्म, १९५३ ई०।

वै० शै० : Bhandarkar, R. G. : Vaisnavism, Saivism.

व्या० शि० : व्याकरण शिक्षा।

श० क० : शब्दकल्पद्रुमः : राजा राधाकान्तदेव सम्पादितः।

श० त० : शक्तिसङ्गमतन्त्रः।

श० ब्रा० : शतपथब्राह्मणः।

शा० भा० : शाङ्करभाष्यम् ।

श्वे० उ० : श्वेताश्वतरोपनिषद् : गीता प्रेस संस्करणम् ।

संस्कृति : कल्याण हिन्दू-संस्कृति-अङ्क ।

स० इ० डि० : Apte, V. S.: Students Sanskrit English Dictionary.

स० भा० द० : डॉ० शतीशचन्द्र चट्टोपाध्याय—डॉ० धीरेन्द्रमोहन दत्त : भारतीय-दर्शन-पुस्तक भण्डार, पटना १९६० ई० ।

स० श० को० : चतुर्वेदी द्वारकाप्रसाद शर्मा : संस्कृतशब्दार्थकौस्तुभ: १९५७ ई० ।

स० फॉ० ट्रु० : Nixon—Sri Krisna Prem : Search for truth.

सा० का० : ईश्वरकृष्ण : सांख्यकारिका ।

सैक्रेड : Maxmuller, F. : Sacred Book of East.

सो० आ० इ० : Fick, Richard : Social organisation in North-east India in Buddha's time 1920.

स्क० पु० : स्कन्दपुराणम् ।

हि० इ० फि० : Dr. Das Gupta, S. N. : History of Indian Philosophy, Vol. III.

हि० इ० लि : Winternitz, M. : History of Indian Literature.

हि० ध० : Kane, P. V. : History of Dharma Sāstra.

हि० रा० त० : काशीप्रसाद जायसवाल : हिन्दू-राजतंत्र, काशी नागरी प्रचारिणी सभा ।

हि० हि० इ० : Vaidya, C. V. : History of Medieval Hindu India.

विषयसूची

तृतीय अंश

समाज व्यवस्था : ५३–११४

चतुर्थ अंश

राजनीतिक संस्थान : ११५–१३८

पञ्चम अंश

षष्ठ अंश

सप्तम अंश

अष्टम अंश

नवम अंश

दशम अंश

एकादश अंश

विष्णुपुराण का भारत

प्रथम अंश

भूमिका

[प्रस्ताव, महिमा, उत्पत्ति, वर्तमानरूप, ऐतिहासिक मूल्य, उपयोगिता, पुराणकर्तृत्व, रचनाकाल, विषयचयन ।]

[प्रयुक्त साहित्य : (१) विष्णुपुराणम् (२) ऋग्वेदः (३) वायुपुराणम् (४) यजुर्वेदः (५) महाभारतम् (६) अष्टादशपुराणदर्पणः (७) अथर्ववेदः (८) शतपथब्राह्मणम् (९) बृहदारण्यकोपनिषद् (१०) याज्ञवल्क्यस्मृतिः (११) छान्दोग्योपनिषद् (१२) हिन्दूसंस्कृति अङ्क (१३) काशिका (१४) पुराणविषयानुक्रमणी (१५) पद्मपुराणम् (१६) मत्स्यपुराणम् (१७) स्कन्दपुराणम् (१८) Ancient Indian Historical Tradition (१९) out line of Religious literature of India (२०) History of Indian Literature (२१) History of Medieval Hindu India (२२) Studies in the Puranic Records on Hindu Rites and Custams और (२३) History of Indian Philosophy]

प्रस्ताव

पुराण भारतीय जीवन-साहित्य के रत्ननिर्मित अमूल्य शृङ्गार हैं और हैं अतीत को वर्त्तमान के साथ जोड़नेवाली स्वर्णमयी शृङ्खला। विश्वसाहित्य के अक्षय भण्डार में अष्टादश महापुराण अनुपम एवं सर्वश्रेष्ठ अष्टादश रत्न हैं। ये हमारे सामाजिक, सांस्कृतिक. राजनीतिक, धार्मिक और दार्शनिक जीवन को स्वच्छ दर्पण के समान प्रतिविम्वित करते हैं और साथ ही सरल भाषा एवं क्रमवद्ध कथानक-शैली के कारण प्राचीन होते हुए भी नवीनतम स्फूर्ति को संचारित भी।

महिमा

भारतीय वाङ्मय में पुराण-साहित्य के लिए एक विशिष्ट और महत्त्वपूर्ण स्थान है। धार्मिक परम्परा में वेद के पश्चात् पुराण की ही अधिमान्यता है। पौराणिक महिमा के प्रतिपादन में भारतीय परम्परा की घोषणा है कि जो द्विज अङ्गों और उपनिषदों के सहित चतुर्वेदों को तो जानता है, किन्तु पुराण को यदि सम्यक् प्रकार से नहीं जानता वह विचक्षण नहीं हो सकता[1]। सारांश यह है कि पौराणिक ज्ञान के अभाव में वैदिक साहित्य का सम्पूर्ण रूप से अर्थावबोध असंभव है। इसके पुष्टीकरण में यहाँ पर कतिपय वैदिक उदाहरणों का उपस्थापन आवश्यक प्रतीत होता है। यथा—(१) "इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्। समूढमस्य पांसुरे" (ऋग्वेद १।५।२२।१७)

---

१. यो विद्याच्चतुरो वेदान्साङ्गोपनिषदो द्विजः।
न चेत्पुराणं संविद्यान्नैव स स्याद्विचक्षणः॥ —वा० पु० १।१०००

इस मंत्र का भाष्यानुसारी अर्थ होता है कि विष्णु ने इस दृश्य जगत् को माया, तीन प्रकार से पद रखा और इनमें धूलियुक्त सम्पूर्ण विश्व स्थित है। इस मूल मन्त्रार्थ का यह स्पष्टीकरण सायण आदि भाष्य से भी नहीं होता कि विष्णु ने कब, क्यों और किस रूप से सम्पूर्ण विश्व को अपने तीन पगों में माप डाला। किन्तु पुराणों में इस मन्त्रार्थ का पूरा विवरण उपलब्ध हो जाता है और तब सन्देह के लिए कोई अवकाश नहीं रह जाता। इसी प्रकार अन्य वैदिक प्रसङ्ग में एक मन्त्र उद्धरणीय है। यथा—(२) नमो-नीलग्रीवाय" (यजुर्वेद १६।२८) महीधर ने अपने भाष्य में इस मंत्र का अर्थ किया है कि विषभक्षण करने से नील हो गया है गला जिसका उस शंकर को नमस्कार है। परन्तु इस भाष्यार्थ से यह स्पष्ट नहीं हो पाता कि शंकर ने क्यों, कैसे और कब विष भक्षण किया, किन्तु पुराणों में इसका सम्पूर्ण रूप से स्पष्ट समाधान हो जाता है।

उपर्युक्त विवरणों से निष्कर्ष यह निकलता है कि पौराणिक सहायता के बिना वेदों की गूढ समस्याओं का समाधान संभव नहीं। यह तो निःसंकोच रूप से कहा जा सकता है कि वेद संक्षिप्त तथा सूत्ररूप हैं और पुराण उनके विस्तृत रूप से भाष्य के समान प्रकृत अर्थज्ञापक होकर वेदों की उपयोगिता को स्पष्टतः कर बढ़ा देते हैं। शास्त्रीय प्रतिपादन है कि इतिहास और पुराणों के द्वारा ही वेदार्थ का विस्तार करना चाहिए। जिन्होंने पुराणेतिहास आदि शास्त्रों का सम्यक् प्रकार से श्रवणाध्ययन नहीं किया, उनसे वेदों को भय होता है कि हम पर प्रहार (आक्षेप) करेंगे[२]।

उत्पत्ति

भिन्न-भिन्न शास्त्रों में भिन्न-भिन्न प्रकार से पुराणोत्पत्ति का प्रतिपादन किया गया है। पुराणोत्पत्ति के सम्बन्ध में स्वयं पौराणिक विवरण है कि ब्रह्मा ने सम्पूर्ण शास्त्रों के आविष्करण के पूर्व पुराण को प्रकट किया तत्पश्चात् उनके मुख से वेदों का आविर्भाव हुआ[३]। प्रसङ्गान्तर में पौराणिक प्रतिपादन है कि पुराणार्थ विशारद वेदव्यास ने वेदविभाजन के पश्चात् प्राचीन आख्यानों,

---

२. इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।
विभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति ॥ —म० भा० १।१।२६७

३. पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम्।
अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिर्गताः ॥
—अ० पु० द० उपो० पृ० ११

उपाख्यानों, गाथाओं और कल्पशुद्धियों के सहित एक पुराण संहिता का निर्माण किया[४]। श्रुति में पुराण की वेदसमकक्षता प्रदर्शित कर कथन है कि ऋच्, सामन्, छन्दस् और पुराण -- ये समस्त वाङ्मय यजुस् के साथ उत्पन्न हुए[५]। ब्राह्मण ग्रन्थों में पुराण को वेद से अभिन्न प्रतिपादित किया गया है[६]। औपनिषदिक मत से ऋच् आदि वेदचतुष्टय के समान पुराण भी महद्भूत (परमात्मा) का ही निःश्वासरूप है। अतः पुराण अपौरुषेय और अनादि है[७]। स्मृति की घोषणा है कि पुराण आदि काल से विद्याओं और धर्म के उद्गम स्रोतों में से एक है[८]। श्रुति के एक प्रसङ्ग में पुराण को पंचम वेद की ही अधिमान्यता दी गई है[९]। चिर अतीत काल से जीवित रहने के कारण यह वाङ्मय पुराण के नाम से समाख्यात है[१०]।

अब विवेचनीय विषय यह है कि जिस पुराण का वैदिक साहित्य में प्रसंग आया है वह आधुनिक अष्टादश महापुराण ही हैं अथवा तदितर? उपर्युक्त विवरणों में सर्वत्र पुराण शब्द का प्रयोग एक वचन में ही हुआ है। अतः यह अनुमान होता है कि प्राचीन काल में साधारण रूप में एक ही पुराण रहा होगा। इस अनुमान के समाधान में डा० पुसालकर का मत यहाँ उल्लेखनीय है। "अथर्ववेद में 'पुराण' शब्द का एक वचन में प्रयोग, पुराण में दी हुई

---

४. आख्यानैश्चाप्युपाख्यानैर्गाथाभिः कल्पशुद्धिभिः ।
पुराणसंहितां चक्रे पुराणार्थविशारदः ।। — ३।६।१५

५. ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह ।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिवि श्रिताः ।। — अ० वे० ११।७।२४

६. अध्वर्युस्ताक्ष्यों वै पश्यतो राजेत्याह--पुराणं वेदः सोऽयमिति किंचित्पुराणमचक्षीत । —श० ब्रा० १३।४।३।११

७. ...अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राणि । —बृ० उ० २।४।१०

८. पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्रांगमिश्रिताः ।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश ।। — या० स्मृ० १।३

९. स होवाच ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदम् । —छा० उ० ७।१।१-२

१०. यस्मात्पुरा ह्यनीतीदं पुराणं तेन हि स्मृतम् । — वा० पु० १।२०३

वंशावलियों की सर्वत्र एकसमानता और यह परम्परागत जनश्रुति कि आरम्भ में केवल एक ही पुराण था—इन विवृतियों से जैक्सन तथा अन्य विद्वानों को यह विश्वास हो गया कि आरम्भ में केवल एक ही पुराण था। परन्तु एक-वचन का प्रयोग पुराणों की समष्टि पुराणसंहिता का वाचक है। वंशावलियों के विषय में यह बात है कि विभिन्न पुराण विभिन्न वंशावलियों के साथ आरम्भ होते और विभिन्न समयों में समाप्त होते हैं, तथा विभिन्न स्थानों में उनका निर्माण हुआ है। अतः एक ही पुराण नहीं था—जैसे एक ही वेद नहीं है, न एक ही ब्राह्मण है[११] "पुराण" शब्द का एकवचन का प्रयोग यहाँ जाति-वाचक के रूप में किया गया अवगत होता है और यह एकवचन रूप पौराणिक बहुत्व का द्योतक है। वैयाकरण परम्परा में भी एक सूत्र के उदाहरण में एकवचन में प्रयुक्त कतिपय जातिवाचक शब्द बहुत्वबोधक रूप में उपलब्ध होते हैं। यथा—"ब्राह्मणः पूज्यः" और 'ब्राह्मणाः पूज्याः"— इन दोनों प्रयोगों के अर्थ में कोई पार्थक्य नहीं। ये प्रयोग जातिवाचक होने के कारण ब्राह्मण जाति के समस्त व्यक्तियों के ज्ञापक हैं[१२]। इसी प्रकार 'पुराण' शब्द का एकवचन का प्रयोग यहाँ अनेक पुराणों का वाचक है।

वर्तमानरूप

इसमें सन्देह नहीं कि मूल पौराणिक अंश अत्यन्त प्राचीन है, किन्तु आज जिस रूप में पुराण उपलब्ध होते हैं, रचना की दृष्टि से और भाषा के आधार पर वे इतने प्राचीन नहीं माने जा सकते। साथ ही विषय के दृष्टिकोण से पुराणों के अधिकांश रूप परवर्त्ती और अर्वाचीन अवश्य हैं। परन्तु पाश्चात्य विद्वानों ने जितना पश्चात्कालीन उनको माना है उतने आधुनिक वे नहीं हैं। संभावना-बुद्धि से विचार करने पर अवगत, होता है कि जिस रूप से वैदिक साहित्य में पुराण की चर्चा है उसका समावेश आधुनिक अष्टादश पुराणों में कालक्रम से हो गया तथा कालक्रम से ही पुराणों ने वैदिक साहित्य के साथ ही, अन्य नवोदित शास्त्रों को भी अपने विशाल कोषागार में समाविष्ट करना आरम्भ किया। परवर्ती कालों में पुराणों ने अपना पौराणिक रूप धारण किया। अमरकोष के मत से पुराणों की अपर संज्ञा है—पंचलक्षण और तदनुसार पुराणों में (१) सृष्टि, (२) लय और पुनः सृष्टि, (३) देव तथा ऋषियों

---

११. द्र० संस्कृति० —पृ० ५५३-४

१२. जात्याख्यायामेकस्मिन् बहुवचनमन्यतरस्याम् सम्पठनो यवः। सम्पन्नो यवः। सम्पन्नो व्रीहिः। पूर्ववया ब्राह्मणः प्रत्युत्थेयः।

—काशिका० १।२।५८

की वंशावली, (४) मनु के कालविभाग और (५) राजवंशों का इतिहास—इन पाँच विषयों का समावेश हुआ।[13]

डा० राजवली पाण्डेय की सम्भावना है कि महाभारतकाल में ही वैदिक संहिताओं के समान पौराणिक साहित्य का संघटन आरंभ हुआ। उसी समय वेदव्यास ने ही पुराणों की रचना की। यदि यह सर्वथा सत्य न भी हो तो भी यह मानने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती कि प्रायः उसी समय प्राचीन पौराणिक परम्परा का संकलन और सम्पादन भी हुआ और उनके मुख्य विषय उपर्युक्त पाँच थे। पुराणों में अपने विस्तार की अनन्त शक्ति थी अतः प्रत्येक आगत युग में उनमें नवीन सामग्रियाँ प्रक्षिप्त होती गईं। इससे पुराणों के केवल कथाभाग में ही वृद्धि नहीं हुई, अपि तु विषय की दृष्टि से भी उनमें नूतन विषयों का समावेश हुआ। देश में जितने भी ज्ञानस्रोत थे, उन समस्तों को यथासंभव आत्मसात् कर पुराणों ने विशाल संहिता का रूप धारण किया[14]।

प्रत्येक पुराण में अष्टादश पुराणों की नामावली का संकेत मिलता है। नामावली का क्रम समस्त पुराणों में प्रायः एक सा ही है। इसमें दो-एक साधारण परिवर्तनों के अतिरिक्त प्रायः एकरूपता ही है। विष्णुपुराण का क्रम निम्न प्रकार है। यथा (१) ब्राह्म, (२) पाद्म, (३) वैष्णव, (४) शैव, (५) भागवत, (६) नारदीय, (७) मार्कण्डेय, (८) आग्नेय, (९) भविष्यत्, (१०) ब्रह्मवैवर्त, (११) लैंग, (१२) वाराह, (१३) स्कान्द, (१४) वामन, (१५) कौर्म, (१६) मात्स्य, (१७) गारुड और (१८) ब्रह्माण्ड[15]। अष्टादश महापुराणों में छः सात्त्विक, छः राजस और छः तामस

---

१३. सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशमन्वन्तराणि च।
सर्वेष्वेतेषु कथ्यन्ते वंशानुचरितं च यत्॥ —३।६।२५

१४. द्र० अनुक्रमणी प्रस्तावना, पृ० २।

१५. ब्राह्मं पाद्मं वैष्णवं च शैवं भागवतं तथा।
तथान्यन्नारदीयं च मार्कण्डेयं च सप्तमम्॥
आग्नेयमष्टमं चैव भविष्यन्नवमं स्मृतम्।
दशमं ब्रह्मवैवर्तं लैङ्गमेकादशं स्मृतम्॥
वाराहं द्वादशं चैव स्कान्दं चात्र त्रयोदशम्।
चतुर्दशं वामनं च कौर्मं पञ्चदशं तथा॥
मात्स्यं च गारुडं चैव ब्रह्माण्डं च ततः परम्।
महापुराणान्येतानि ह्यष्टादश महामुने॥ —३।६।२१-२४

हैं। वैष्णव, नारदीय, भागवत, गारुड, पाद्म और वाराह—ये छः महापुराण सात्त्विक हैं[१६]।

सात्त्विक पुराणों में विशेषतः भगवान् हरि के ही माहात्म्य का परिवर्णन है[१७]। अष्टादश पुराणों में दश में शिवस्तुति है, चार में ब्रह्मा की और दो दो में देवी तथा हरि की[१८]। हरिपरक पुराणों में (१) वैष्णव और (२) भागवत—ये ही दो सम्भावित हैं, क्योंकि इन दो पुराणों में एकमात्र वैष्णव धर्म का ही प्रतिपादन है। अत एव ये दोनों सर्वोत्कृष्ट श्रेणी के पुराण हैं। विष्णुपुराण में तो सर्वत्र प्रायः वैष्णव माहात्म्य का ही वर्णन है[१९]। विष्णुपुराण में भी विष्णुपरक पाद्म के पश्चात् और भागवत के पूर्व विष्णुपुराण का ही नामोल्लेख हुआ है[२०]। इस कारण से भी वैष्णव महापुराण का स्थान उच्चतम श्रेणी में आता है। पराशर मुनि का कथन है कि इस महापुराण में पाँचो पौराणिक लक्षण अवतरित हुए हैं[२१]।

ऐतिहासिक मूल्य

पुराणों की ऐतिहासिकता के सम्बन्ध में आधुनिक गवेषी विद्वानों की धारणा समय समय पर परिवर्तित होती रही है। वर्तमान युग के प्रसिद्ध अन्वेषक डां० पुसालकर का मत है कि भारतीय इतिहास के संशोधन के आरंभिक काल में ईसा के १८ वीं शताब्दी के अन्तिम दशकों और १९ वीं शताब्दी के आरम्भ में पुराणों का कोई ऐतिहासिक मूल्य नहीं माना जाता था। तत्पश्चात् कैप्टेन स्पेक ने नूबिया (कुशद्वीप) जाकर नील नदी के उद्गम स्थान का पता लगाया और उससे पुराणों के वर्णन का समर्थन हुआ। तब शनैः शनैः

---

१६. वैष्णवं नारदीयं च तथा भागवतं शुभम्।
गारुडं च तथा पाद्मं वाराहं शुभदर्शने।
सात्त्विकानि पुराणानि विज्ञेयानि शुभानि वै।
—प० पु० उत्तर खण्ड, २६३।८२-८३

१७. सात्त्विकेषु पुराणेषु माहात्म्यमधिकं हरेः। —म० पु० ५३।६८

१८. अष्टादशपुराणेषु दशभिर्गीयते शिवः।
चतुर्भिर्भगवान् ब्रह्मा द्वाभ्यां देवी तथा हरिः॥
—स्क० पु० केदार खण्ड, १

१९. कथ्यते भगवान्विष्णुरशेषेष्वेव सत्तम। —३।६।२७

२०. द्र० ३।६।२१।

२१. सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशमन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितं कृत्स्नं मयात्र तव कीर्तितम्॥ —६।८।१३

पुराणों पर विद्वानों की आस्था दृढ होने लगी। किन्तु ताम्र पत्रों और मुद्राओं से ऐतिहासिक तथ्य को खोज निकालने की प्रवृत्ति भी इसी समय जागरित हुई। इस कारण पौराणिक मूल्य में ह्रास होने लगा और कहीं-कहीं पुराणगत परम्परा का इतिहासवृत्त अयथार्थ भी प्रमाणित हुआ। कुछ अंशों में बौद्ध ग्रन्थों ने भी पौराणिक प्रतिपादनों का खण्डन किया। इस प्रकार सन्देहवृद्धि से पुराणों पर अविश्वास उत्पन्न होने लगा। पिछली शताब्दी के आरंभिक दशकों में पाश्चात्य देशीय विद्वान् विलसन ने पुराणों का पद्धतियुक्त अध्ययन किया और विष्णुपुराण का अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित किया। इसकी एक बहुत बड़ी सारगर्भित भूमिका उन्होंने लिखी तथा तुलनात्मक टिप्पणियाँ भी जोड़ीं। इससे संस्कृत साहित्य के इस महान् अङ्ग की ओर यूरोपियन विद्वानों का अध्ययन विशेष रूप से आकर्षित हुआ। अब तक पुराणों की जो अनुचित उपेक्षा हो रही थी, उसका अन्त हुआ और स्वतःप्रमाण के रूप में पुराण विश्वास-स्थापन के योग्य समझे जाने लगे। आधुनिक युग के शिक्षित समाज में जो आज पौराणिक उपयोगिता की ओर प्रवृत्ति दृष्टिगोचर हो रही है उसका सम्पूर्ण एवं सर्वप्रथम श्रेय श्री विलसन को ही है और इस दिशा में वे प्रधान नेतृत्व के आसन पर आसीन होने के योग्य हैं। पुराणों का विशेष अध्ययन इसी शताब्दी के आरंभ में पार्जिटर ने किया। उनके धैर्य और अध्यवसाययुक्त अनुसन्धान का यह फल हुआ कि पुराणों की ऐतिहासिक सामग्रियों का एक पर्यालोचनात्मक विवरण जगत् के समक्ष आया। पुराणों में जो ऐतिहासिक वर्णन हैं, उनका पक्ष इस से बहुत पुष्ट हुआ है। स्मिथ ने यह प्रमाणित किया है कि मत्स्य पुराण में आन्ध्रों का जो वर्णन है, वह प्रायः यथार्थ है। इतिहास के विद्वान् अब यह समझने लगे हैं कि मौर्यों के विषय में विष्णुपुराण का और गुप्तों के विषय में वायुपुराण का वर्णन विश्वसनीय है"[२२]।

उपयोगिता

अब भारत के परम्परागत इतिहासवृत्त के लिए एक स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में पुराणों की अधिमान्यता होने लगी है। ऐतिहासिक सामग्रियों की खोज के लिए आज कल पुराणों का विशेष रूप से आलोचनात्मक अध्ययन होने लगा है। आधुनिक इतिहासकार और प्राच्य तत्त्ववेत्ता विल्सन, रैप्सन, स्मिथ, पार्जिटर, जायसवाल, भण्डारकर, रायचौधरी, प्रधान, दीक्षितार, आल्तेकर, रंगाचार्य, जयचन्द्र, हाजरा, डॉ० पुसालकर आदि ने अपने ऐतिहासिक ग्रन्थों, समीक्षाओं,

---

२२ संस्कृति, पृ० ५५७।

प्रबन्धों और लेखों में पौराणिक सामग्रियों का प्रचुर उपयोग किया है। दीक्षितार ने पुराण इण्डेक्स नामक एक विशालकाय ग्रंथ तीन भागों में लिखा है। यह ग्रन्थ पुराण के गवेषी विद्वानों के लिए अत्यन्त उपयोगी है। डाक्टर आर० सी० हाज़रा ने पुराण सम्बन्धी अनेक आलोचनात्मक ग्रन्थ प्रणीत किये हैं और कर रहे हैं। उनकी लिखी 'स्टडीज़ इन पुराणिक रेकर्ड्स आव हिन्दु राइट्स ऐण्ड कस्टम्स" नामक पुस्तक पौराणिक शोध कार्य के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथा उपयोगी है। सब से अन्तिम ग्रन्थ गत वर्ष प्रकाशित हुआ है। वह है इनकी विस्मृत भूमिका के साथ विष्णुपुराण का अंग्रेजी संस्करण। डा० देवेन्द्र कुमार राजाराम पटिल के द्वारा निबद्ध 'कल्चरल हिस्टरी फ्रॉम दि वायुपुराण' एक शोध ग्रन्थ गत १९४४ ई० मे बम्बई विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत होकर जून, १९४६ ई० में पूना से प्रकाशित हुआ था। यह ग्रन्थ पौराणिक गवेषणात्मक कार्य के लिए अतिशय उपयोगी है।

परिशीलन के द्वारा अवगत होता है कि भारतीय संस्कृति और सभ्यता के व्यापक इतिहास के लिए पौराणिक साहित्य की बडी उपादेयता है। क्योंकि पौराणिक वाङ्मय में भूतत्त्व, भूगोल, खगोल, समाज, अर्थ, राजनीति, धर्म, दर्शन, तत्त्वज्ञान, संविधान, कलाविज्ञान आदि सम्पूर्ण शास्त्रीय विषयों के सांगोपांग विवरण उपलब्ध होते हैं।

पुराणकर्तृत्व

सात्त्विक होने के कारण विष्णुपुराण मुख्यतम पुराणों में एक है। इस महापुराण का कर्तृत्व निर्धारण करना भी एक जटिल समस्यामय है। प्रथम प्रसंग में वसिष्ठ के पौत्र शक्तिनन्दन पराशर और मैत्रेय के मध्य वार्तालाप के क्रम से वैष्णव महापुराण का कथारंभ होता है। महर्षि पराशर से मैत्रेय विश्व की उत्पत्ति और प्रकृति आदि के सम्बन्ध में प्रश्न करते हैं और तदुत्तर में महर्षि कहते हैं कि इस प्रश्न से उनके एक प्रसंग की स्मृति जागरित हो गई जो उन्होंने अपने पितामह वसिष्ठ से सुना था। तत्पश्चात् पराशर मैत्रेय से उसी जागरित स्मृति के आधार पर वैष्णव महिमा के वर्णन क्रम में प्रवृत्त होते हैं[२३]। अत एव इस पुराण के आदि कर्ता वसिष्ठ और वर्तमान कर्ता पराशर सिद्ध होते हैं।

अन्य एक प्रसंग में मैत्रेय के प्रति पराशर का कथन है कि मैंने तुम्हें श्रवणोन्मुख देख कर सम्पूर्ण शास्त्रों में श्रेष्ठ सर्वपापविनाशक एवं पुरुषार्थ प्रतिपादक वैष्णव-

---

२३. १।१।४–१० और ३०।

महापुराण सुना दिया। मैंने तुमको जो यह वेदसम्मत पुराण सुनाया है इसके श्रवण मात्र से सम्पूर्ण दोषों से उत्पन्न पापपुंज नष्ट हो जाता है[२४]।

इस प्रसंग से वेदसंमत वैष्णव महापुराण के कर्ता के रूप में पराशर ही स्पष्टतया सिद्ध होते हैं।

पुराण के अन्तिम स्थल पर एक यह विवरण उपलब्ध होता है : मैत्रेय से पराशर का कथन है कि पूर्व काल में कमलोद्भव ब्रह्मा ने यह आर्ष (वैष्णव) पुराण सर्वप्रथम ऋभु को सुनाया था और ऋभु ने प्रियव्रत को। इस प्रकार क्रमागत रूप से ब्रह्मा से बीसवीं पीढ़ी में जातुकर्ण के पश्चात् मैंने तुम्हे यथावत् रूप में सुना दिया है। तुम भी कलियुग के अन्त में इसे शिनीक को सुनाना[२५]।

उपर्युक्त कतिपय विवरणों के अध्ययन से प्रतीत होता है कि विष्णुपुराण के आदि कर्ता ब्रह्मा हैं, किन्तु वर्तमान रूप विष्णुपुराण के साक्षात्कर्तृत्व के रूप में पराशर ही स्पष्टतः सिद्ध होते हैं।

रचनाकाल

डा० हाजरा के मत से यह महापुराण पाँचरात्र साम्प्रदायिक है तथा साम्प्रदायिक समस्त पुराणों में विष्णुपुराण का स्थान उच्चतम माना गया है। इसमें आदि से अन्त तक केवल वैष्णव धर्म का प्रतिपादन है। अन्य पुराणों के ही समान इस में स्मृति सम्बन्धी अनेक अध्याय हैं। यथा–२।६ में विविध नरकों का वर्णन है। ३।८–१६ में वर्णाश्रम धर्म, गृहस्थ सम्बन्धी सदाचार तथा श्राद्धादि क्रियाकलापों का सांगोपांग विवरण है। ६।१–२ में युगधर्म और कर्मविपाक और ६।५ में विविध तापों का वर्णन है। इस परिस्थिति में इस पुराण के तिथिक्रम का निर्धारण करना भी एक कठिन समस्या ही है। इस दिशा में विद्वानों का मत एक नहीं। पार्जिटर के मत से विष्णुपुराण की रचना बहुत पीछे और एक ही समय में हुई है, क्योंकि वायु, ब्रह्म और मत्स्यपुराणों में जैसी-जैसी विविध समयों की सामग्रियाँ उपलब्ध होती हैं वैसी इसमें नहीं। जैन और बौद्धवादों के उल्लेख होने के कारण प्रतीत होता है कि इसकी रचना

---

२४. पुराणं वैष्णवं चैतत्सर्वकिल्बिषनाशनम्।
विशिष्टं सर्वशास्त्रेभ्यः पुरुषार्थोपपादकम्॥
तुभ्यं यथावन्मैत्रेय प्रोक्तं शुश्रूषवेऽव्ययम्।
एतत्ते यन्मयाख्यातं पुराणं वेदसम्मतम्।
श्रुतेऽस्मिन्सर्वदोषोत्थः पापराशिः प्रणश्यति॥ —६।८।३-४ और १२

२५. तु० क० ६।८।४३–५०।

ब्राह्मणवाद की समाप्ति के पश्चात् हुई होगी। अनुमानतः विष्णुपुराण पंचम शतक के पूर्व की रचना नहीं है। यह सम्पूर्ण रूप में ब्राह्मणवाद का प्रतिपादक है[२६]। डॉक्टर फार्क्युंहर का मत है कि "हरिवंश" का काल ४०० ई० के पश्चात् नहीं हो सकता और रचनासादृश्य से ज्ञात होता है कि विष्णुपुराण भी उसी समय रचित हुआ होगा[२७]। श्री पार्जिटर के मत से सहमत होते हुए डॉक्टर विण्टरनित्ज़ का कथन है कि विष्णुपुराण पञ्चम शतक से अधिक पश्चात्कालीन रचना नहीं है[२८]। विष्णुपुराण (४।२४।५५) में कैङ्किल नामक यवन जातीय राजाओं का उल्लेख है। कैङ्किलों ने "आन्ध्र" में ५७५–९०० ई० के मध्य में शासन किया था और ७८२ ई० में उनका प्रभुत्व चरम सीमा पर पहुँचा हुआ था[२९]। इसी तथ्य के आधार पर सी० वी० वैद्य विष्णुपुराण को नवम शतक से पूर्व कालीन रचना नहीं मानते। डॉक्टर विण्टरनित्ज़ के अतिरिक्त अन्य समस्त विचार-धाराएँ आपत्ति से रहित नहीं हैं। अत एव एक नवीन पद्धति से विष्णुपुराण के रचनाकाल को निर्धारित करना आवश्यक प्रतीत होता है। इसका उल्लेख आलवेरुनि ने किया है तथा निबन्ध लेखकों और रामानुज जैसे एकादश शती के धर्मप्रचारकों ने जिसका उद्धरण अपने वेदान्त सूत्र के भाष्य में प्रमाण रूप से किया है। ब्रह्मसूत्र के भाष्य में शङ्कराचार्य ने भी असूचित रूप से विष्णुपुराण से अनेक श्लोकांश उद्धृत किये हैं। यथा—"तेषां ये यानि" (१।५।६१) और ब्रह्मसूत्र (१।३।३०)। "नाम रूपं च भूतानाम्" (१।५।६४) और ब्र० सू० (१।३।२८)। "ऋषीणां नामधेयानि" (१।५।६५) और ब्र० सू० (१।३।३०)[३०]। पर इन आलोचनात्मक विवरणों से विष्णुपुराण के समय-निर्धारण में कोई स्पष्ट सहायता नहीं मिलती।

डॉक्टर हाजरा का प्रतिपादन है कि वर्तमान कूर्मपुराण दो मुख्य अवस्थाओं के द्वारा आया है। प्रथम पांचरात्र के रूप में, जिसकी रचना ५५०–६५० ई० के मध्य में हुई। किन्तु पीछे चलकर ७००-८०० ई० के मध्य में संशोधित होकर पाशुपत रूप में हमें उपलब्ध हुआ। इन अध्यायों में ईश्वरीय तत्त्व की अपेक्षा अहिर्बुध्न्य संहिता के समान अधिकतर मात्रा में शाक्त तत्त्व निहित हैं।

---

२६. ए० इ० हि० पृ० ८०।

२७. आ० ला० लि० पृ० १४३।

२८. हि० इ० लि० भाग १, पृ० ५४५, पा० टी० २।

२९. हि० हि० इ० पृ० ३५०।

३०. पु० रे० हि० पृ० २०।

ईश्वरीय विज्ञान के दृष्टिकोण से तुलना करने पर विष्णुपुराण वैष्णव प्रभावित कूर्मपुराण से प्राचीनतर है। विष्णुपुराणीय सृष्टि निर्माण के प्रसंग में शक्ति के रूप में लक्ष्मी का कोई योग विवृत नहीं हुआ है। केवल एक प्रसंग (१।८।२९-अवष्टम्भो गदापाणिः शक्तिर्लक्ष्मीर्द्विजोत्तम) के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भी विष्णु की शक्ति के रूप में लक्ष्मी का उल्लेख नहीं हुआ है। विष्णुपुराण का वह भाग, जहाँ (१।८।१७-३५) लक्ष्मी और विष्णु का अविच्छेद्य सम्बन्ध प्रदर्शित किया गया है, पश्चात्कालीन प्रक्षेपमात्र है। क्योंकि पद्मपुराण के सृष्टि-खण्ड में इसका उल्लेख नहीं मिलता, जब कि वह खण्ड विष्णूपुराण (१।८) का उद्धरण मात्र है। इस उद्धरण की प्रक्षिप्तता स्वयं विष्णुपुराण से ही सिद्ध होती है। यथा—विष्णुपुराण (१।८।१६) में मैत्रेय जिज्ञासा करते हैं—"सुना जाता है कि लक्ष्मी (श्री) अमृत-मन्थन के समय क्षीर-सागर से उत्पन्न हुई थी, पुनः आप ऐसा क्यों कहते हैं कि वह भृगु के द्वारा ख्याति से उत्पन्न हुई ?" इस जिज्ञासा के समाधान में पराशर प्रासंगिक विषय को छोड़ कर प्रसंगान्तर उपस्थित कर देते हैं और बहुत पीछे जाकर नवम अध्याय में उस पूर्व प्रश्न के उत्तर में कहते हैं—"हे मैत्रेय, जिसके विषय में तुमने पूछा था वह "श्री" का इतिहास मैंने भी मरीचि से सुना था।" इसके पश्चात् वह "श्री" का पूर्ण इतिहास सुनाने लगते हैं। उस प्रश्न के पश्चात् उसका उत्तर भी पराशर से लगातार ही अपेक्षित था, किन्तु इस प्रकार प्रश्न और उत्तर के मध्य में जो अप्रासंगिक वार्तालाय हुए इस कारण से प्रक्षिप्तांश प्रतीत होते हैं। अतः अब यह निष्कर्ष निकलता है कि यदि वैष्णवप्रभावित कूर्मपुराण ५५०–६५० ई० के मध्य में रचित हुआ हो तो विष्णुपुराण सप्तम शतकारंभ से पश्चात्कालीन नहीं हो सकता[३१]।

भागवत और विष्णुपुराण के तुलनात्मक अध्ययन से भी ज्ञात होता है कि विष्णुपुराण भागवतपुराण से प्राचीनतर है। डॉक्टर विण्टर्नित्ज का मत है कि भागवत पुराण में कतिपय विषयविवरण विष्णुपुराण से उद्धृत हुए हैं[३२]। पार्जिटर का भी कथन है कि उपर्युक्त दोनों पुराणों में परिवर्णित वंशावलियों से ज्ञात होता है कि भागवतपुराण की रचना में विष्णुपुराण का उपयोग किया गया है[३३]। कतिपय पौराणिक कथाएँ, जो विष्णुपुराण में संक्षिप्त और प्राचीन

---

३१. वही, पृ० २१–२२।

३२. हि० इ० लि० भाग १, पृ० ५५५।

३३. ए० इ० हि० पृ० ८०।

रूप में उपलब्ध होती हैं, वे भागवतपुराण में अतिविस्तृत और आधुनिकतर रूप में परिवर्णित हुई हैं। यथा-ध्रुव, वेन, पृथु, प्रह्लाद, जडभरत आदि की कथाएँ दोनों पुराणों में हैं—उनकी तुलना की जा सकती है। भागवतपुराण में कुछ कथाएँ हैं, जो विष्णुपुराण में नहीं मिलती हैं। उदाहरण स्वरूप भागवत (१०।२।४०) में विष्णु के हंसावतार की चर्चा है, किन्तु इस सम्बन्ध में विष्णु-पुराण एकान्त मौन है। इन विवरणों से अवगत होता है कि विष्णुपुराण भागवतपुराण से प्राचीनतर है और विष्णुपुराण षष्ठ शतक से पूर्वकालीन रचना है, क्योंकि डॉक्टर हाजरा ने भागवतपुराण का समय षष्ठ शतक माना है[३४]।

ज्योतिषशास्त्र की प्राचीन पद्धति के अनुसार विष्णुपुराण में नक्षत्रों का गणनाक्रम "कृतिका" से आरम्भ कर "भरणी" तक प्रतिपादित हुआ है। यथा—"कृतिकादिषु ऋक्षेषु"—(२।९।१६)। इस क्रम का वराहमिहिर (५५० शती) ने परिवर्त्तन कर आधुनिक परम्परा में "अश्विनी" से आरम्भ कर "रेवती" तक निर्धारण कर दिया है। इस आधार पर डॉक्टर हाजरा के मत से ज्ञात होता है कि नक्षत्रों का प्राचीन गणनाक्रम पंचम शतक के पश्चात् अपने अस्तित्व में नहीं था। अत एव नक्षत्र पद्धति के प्रतिपादक वर्त्तमानरूप विष्णुपुराण का समय पंचम शतक के अन्तिम भाग के परवर्ती काल में नहीं जा सकता है[३५]।

विष्णुपुराण (२।८) में राशिचक्र संस्थान का विवरण मिलता है, जिससे ध्वनित होता है कि इस पुराण के रचनाकाल में राशिचक्रों की पूर्ण प्रसिद्धि हो चुकी थी। इस आधार पर कहा जा सकता है कि याज्ञवल्क्यस्मृति के युग तक तिथि-नक्षत्र-ग्रहोपग्रहों से पूर्ण परिचय हो चुकने पर भी राशि-संस्थान से लोग परिचित नहीं हुए थे। इससे निष्कर्ष यह निकलता है कि भारतीय समाज द्वितीय शतक के पूर्व तक राशि संस्थान से सर्वथा अपरिचित था। अत एव डॉक्टर हाजरा का यह कथन है कि राशि पद्धति और होरा पद्धति से परिचित विष्णुपुराण का रचना-काल प्रथम शतक के अन्तिम भाग से पूर्व नहीं हो सकता[३६]। डॉक्टर हाजरा का उपर्युक्त निर्धारण अयुक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता है।

---

३४. पु० रे० हि० पृ० ५५।
३५. वही पृ० २२—२३।
३६. वही पृ० २४।

इस प्रकार विष्णुपुराण का रचना-काल २००–३०० शतकों के मध्य में कभी पड़ना चाहिये। डॉक्टर सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त ने विष्णुपुराण का समय तृतीय शतक माना है[३७]।

विषयचयन

सात्त्विक पुराणों के अन्तर्गत होने के कारण सर्वप्रथम शोधकार्य के लिए मैंने विष्णुपुराण को मनोनीत किया है। यद्यपि इस पुराण पर भी मेरे पूर्ववर्ती श्री विल्सन तथा डॉक्टर हाजरा प्रभृति कतिपय गवेषी विद्वान् कार्य कर चुके हैं। फिर भी उसी कृतकार्य ग्रन्थपर कार्य करने के लिये मैंने अपने को भी आधारित किया है, क्योंकि आधार-ग्रन्थ के अभिन्न होने पर भी भिन्न-भिन्न कार्यकर्ताओं के भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण होते हैं। तदनुसार मैं भी एक भिन्न दृष्टिकोण को ग्रहण कर इस कार्यपथ पर अग्रसर हुआ। इस पुराण पर अपने शोधकार्य के लिए जिस लक्ष्य पर अपने दृष्टिकोण को आधारित किया है, निश्चय ही उसका प्रयाणपथ विभिन्न है। और निबन्ध की रूपरेखा के निर्माण में जिस दिशा का मैंने अवलम्बन किया है उस ओर भी मेरा प्रयाण-प्रयास प्रथम ही है—इसी मन्तव्यता को अभिप्रेत कर विष्णुपुराण की तत्त्वसमीक्षा के पथ पर अपने को पथिक बनाया है।

तत्त्वसमीक्षण के अङ्ग हैं—पौराणिक भूगोल, समाज, राजनीति, धर्म और दर्शन आदि। इन विषयों को विष्णुपुराण पर आधारित कर अन्यान्य श्रुति, स्मृति, उपनिषद्, पुराण आदि प्राचीन एवं स्वतःप्रमाण शास्त्रों से तथा आधुनिक स्तरीय ग्रन्थों और प्रामाणिक निबन्ध-लेखों से उद्धृत प्रमाणों के द्वारा उनके पुष्टीकरण का यथासंभव प्रयास किया गया है।

---

३७. हि० इ० फि० भाग ३, पृ० ५०१, पा० टी० १।

द्वितीय अंश

भौगोलिक आधार

[प्रस्ताव, प्रतिपाद्यसंक्षेप, जम्बूद्वीप, सुमेरु, विभाजन, केसराचल, मर्यादा-पर्वत, ब्रह्मपुरी, गिरिद्रोणियाँ, देवमन्दिर, गङ्गा, सरोवर, वन, प्रकृतभारत-वर्ष, आधुनिक भारतवर्ष, नवमद्वीप, प्राकृतिक विभाजन, हिमालय, कुल-पर्वत, नदनदियाँ, प्रजाजन, संस्कृति, महिमा, प्लक्षद्वीप, चतुर्वर्ण, शाल्मलद्वीप, कुशद्वीप, क्रौंचद्वीप, शाकद्वीप, पुष्करद्वीप, काञ्चनीभूमि, लोकालोकपर्वत–अण्डकटाह, समीक्षण, निष्कर्ष]

[प्रयुक्त साहित्य : (१) विष्णुपुराणम् (२) महाभारतम् (३) वायुपुराणम् (४) पातञ्जलव्याकरणमहाभाष्यम् (५) ब्रह्माण्डपुराणम् (६) पद्मपुराणम् (७) Studies in Indian Antiquities (८) Pali-English Dictionary (९) मार्कण्डेयपुराणम् (१०) शब्दकल्पद्रुमः (११) Geographical Dictionary of Ancient and Medieval India (१२) Studies in the Geography of Ancient and Medieval India (१३) हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास (१४) कुमारसम्भवम् (१५) रघुवंशम् (१६) ऋग्वेदः (१७) मनुस्मृतिः (१८) महाभारत की नामानुक्रमणिका (१९) Ancient Geography of India (२०) शक्तिसंगमतन्त्रः (२१) वैदिक इन्डेक्स (२२) हिन्दू संस्कृति अंक]

प्रस्ताव—

किसी देश के समाज, राजनीति और धर्म आदि सांस्कृतिक जीवन के अध्ययन के लिए उस देश का भौगोलिक ज्ञान परम प्रयोजनीय होता है। यथार्थ भौगोलिक ज्ञान के अभाव में किसी विशिष्ट देश-के समाज, राजनीति और धर्म आदि सांस्कृतिक जीवन का सम्यक् परिचय प्राप्त करना सर्वथा असम्भव है। अन्य पुराणों के समान विष्णुपुराण में भी सप्तद्वीपा एवं सप्तसागरा वसुन्धरा का वर्णन पाया जाता है। द्वीपान्तर्गत वर्षों का वर्णन, उनकी सीमा और विस्तार आदि के विषय में इतना तो कहना ही होगा कि वे आधुनिक परिमाणों में समाविष्ट नहीं हो सकते। पृथ्वीपरिक्रमा के भी आख्यान पुराण में आये हैं। पौराणिक युग के स्वार्थहीन ऋषि-मुनि अधिकतर अरण्यवासी, दिव्य-दृष्टिसम्पन्न और चन्द्रादि अगम्य लोकों तक यात्रा करने में समर्थ होते थे। उनके मुख से यह परिमाण या ऐसे द्वीपों का कल्पनातीत वर्णन कैसे सम्भव हो सकता है। सम्भव है उस समय की भौगोलिक सीमा कुछ अन्य ही रही होगी, क्योंकि युग-युग में देश और काल के मान में भी परिवर्तन होता रहता है।

इस पुराण में समग्र भूवलय पर स्थित देशों का वर्णन दृष्टिगत होता है। प्रत्येक देश के निवासी प्रजाजन के आचार-विचार, स्वभाव, सभ्यता, रुचि, भौगोलिक आधार आदि का वर्णन है। पुराण में चित्रित राष्ट्र, प्रजा-जाति, वन पर्वत, नद-नदी तथा ग्राम-नगर आदि का वर्णन भौगोलिक परम्परा के लिए परमोपयोगी माना गया है[1]। अत एव सर्वप्रथम भूगोल के विवेचन की दिशा में अग्रसर होना उपादेयतम है।

---

१. नदीनां पर्वतानां च नामधेयानि संजय।
तथा जनपदानां च ये चान्ये भूमिमाश्रिता॥
—म० भा० जम्बुखण्ड विनिर्माणपर्व ५।१

प्रतिपाद्यसंक्षेप—पुराण का भौगोलिक क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत एवं हमारी बुद्धि के लिए अगम्य है। इस कारण से आधुनिक दृष्टिकोण की विचारधारा में यह अनन्त तथा कल्पनातीत-सा प्रतीत होता है। इस के विवेचन के लिए अवश्य ही तत्कालीन दृष्टिकोण अपेक्षित है। पौराणिक दृष्टिकोण के अभाव में उसकी यथार्थता एवं उपयोगिता हमें अवगत नहीं हो सकती। अतः पौराणिक दृष्टिकोण के साथ पृथिवी के विस्तार एवं आकार आदि के आवश्यक विवेचन में हम प्रवृत्त होते हैं। विष्णुपुराण के प्रतिपादन के अनुसार सम्पूर्ण भूमण्डल का विस्तार पचास करोड योजन में है[२]। योजनमान के विवरण में यह पुराण एकान्त मौन है। पुराणान्तर के मतानुसार दस अंगुलिपर्वों का एक "प्रदेश" होता है। अंगूठे से आरम्भ कर तर्जनी तक के विस्तार-परिमाण को "प्रदेश", मध्यमा पर्यन्त का "ताल", अनामिका के अन्त तक "गोकर्ण" और कनिष्ठिकान्त परिमाण की एक "वितस्ति" होती है। वितस्ति का परिमाण बारह अंगुलियों का होता है। इक्कीस अंगुलियों के पर्वों की "रत्नि", चौबीस अंगुलियों के पर्वों का एक हस्त और दो रत्नियों अर्थात् बयालीस अंगुलियों का एक "किस्कु" होता है। चार हाथों का एक "धनु", "दण्ड" वा "नालिकायुग" होता है। दो सहस्र धनुओं की एक "गव्यूति" और आठ सहस्र धनुओं का एक "योजन" होता है[३]।

पूर्वकाल में यह सम्पूर्ण वसुन्धरा ब्रह्मा के पौत्र एवं स्वायम्भुव मनु के पुत्र महाराज प्रियव्रत के अधिकार में थी। पौराणिक परिशीलन से यह परिज्ञात होता है कि समस्त भूमण्डल की परिधि पद्म के[४] समान मण्डलाकार है। सृष्टिकाल से ही यह पृथिवी जम्बू, प्लक्ष, शाल्मल, कुश, क्रौंच, शाक और पुष्कर—इन सात द्वीपों में विभाजित है तथा प्रत्येक द्वीप क्रमशः क्षारजल, इक्षुरस, सुरा, घृत, दधि, दुग्ध और मधुर जल के सागरों से वलयित है। ये समस्त द्वीप गोलाकार हैं एवं प्रत्येक क्रमशः एक दूसरे से द्विगुणित होता गया है। किन्तु द्वीपावरोधक मण्डलाकार समुद्रों का विस्तार परिमाण में अपने अपने द्वीप के समान ही है[५]।

---

२. पंचाशत्कोटिविस्तारा सेयमुर्वी महामुने।
सहैवाण्डकटाहेन सद्वीपाब्धिमहीधरा॥ —२।४।९७

३. वा० पु० ८।९८–१०२।

४. भूपद्मस्यास्य। —२।२।९

५. जम्बूप्लक्षाह्वयौ द्वीपौ शाल्मलश्चापरो द्विज।
कुशः क्रौंचस्तथा शाकः पुष्करश्चैव सप्तमः॥

(१) जम्बूद्वीप पृथिवी के मध्यभाग में अवस्थित है और विस्तार में शेष सात द्वीपों में लघिष्ठ। इस द्वीप का विस्तार एक लाख योजन है और अपने ही समान विस्तारमय क्षार सागर से आवृत है[६]। (२) प्लक्ष द्वीप विस्तार में जम्बूद्वीप से द्विगुणित अर्थात् दो लाख योजन है तथा अपने ही समान विस्तृत इक्षुरस के समुद्र से परिवृत है[७]। (३) शाल्मलीद्वीप आकार में प्लक्षद्वीप से द्विगुणित अर्थात् चार लाख योजनों में विस्तारवान् और अपने ही तुल्य विस्तारमय सुरासागर से आवृत है[८]। (४) कुशद्वीप शाल्मल द्वीप से द्विगुणित अर्थात् आठ लाख योजनों में विस्तृत और परिमाण में अपने ही समान विस्तृत घृतसागर से सब ओर से वलयित है[९]। (५) क्रौंचद्वीप कुशद्वीप से द्विगुणित अर्थात् सोलह लाख योजनों में प्रसृत और अपने ही समान विस्तारवान् दधिसागर से संवलयित है[१०]। (६) षष्ठ शाकद्वीप विस्तार में क्रौञ्चद्वीप से द्विगुणित अर्थात् बत्तीस लाख योजनों में विस्तारवान् एवं अपने ही समान विस्तरवान् दुग्धसागर से परिवलयित है[११]। (७) अन्तिम पुष्कर द्वीप शाकद्वीप से द्विगुणित अर्थात् चौसठ लाख योजनों में व्याप्त है और चौसठ लाख योजनों में विस्तृत मधुरजल के सागर से सर्वतः परिवलयित है[१२]।

वैयाकरण पतंजलि ने सात ही द्वीपों की अधिमान्यता दी है[१३]। ब्रह्माण्ड पुराण में भी सात ही द्वीपों की प्रामाणिकता घोषित की गयी है[१४]। पुराणान्तरीय प्रतिपादन सात से बढ़ा कर नौ द्वीपों को सिद्ध करता है[१५]। महाभारत में तेरह द्वीपों का वर्णन मिलता है[१६]। बौद्ध परम्परा में मुख्यतः केवल

ऐते द्वीपाः समुद्रैस्तु सप्तसप्तभिरावृताः।
लवणेक्षुसुरासर्पिर्दधिदुग्धजलैः समम् ॥ —२।२।५-६

६. २।३।२७-२८।
७. २।४।२ और २०।
८. २।४।२४ और ३३।
९. २।४।३४ और ४५।
१०. २।४।४६ और ५७।
११. २।४।५८ और ७२।
१२. २।४।८७।
१३. सप्तद्वीपा वसुमती। —महाभाष्य (किल्हॉर्न) पृ० ९
१४ सप्तद्वीपवती मही। —३७।१३
१५. ससागरा नव द्वीपा दत्ता भवति मेदिनी। —प० पु० स्वर्ग० ७।२६
१६. त्रयोदश समुद्रस्य द्वीपानश्नन्पुरूरवा'। —आदि० ७४।१९

चार द्वीपों की ही अधिमान्यता है। विवरण में कहा गया है कि समुद्र में एक गोलाकार सोने की थाली पर स्वर्णमय सुमेरुगिरि आधारित है। सुमेरु की चारों ओर सात पर्वत और सात सागर हैं। उन सात स्वर्णमय पर्वतों के बाहर क्षीरसागर है और उस सागर में (१) कुरु, (२) गोदान, (३) विदेह और (४) जम्बु नामक चार द्वीप अवस्थित हैं[१७]। इसके अतिरिक्त इस परम्परा में परित्त अर्थात् छोटे छोटे दो सहस्र द्वीपों की मान्यता है[१८]।

जम्बूद्वीप—महाराज प्रियव्रत के नौ पुत्र थे। उनमें मेधा, अग्निबाहु और पुत्र नामक तीन पुत्र योगासक्त होने के कारण राज्यादि के सुखोपभोग में मन न लगाकर विरक्त हो गये थे। शेष सात पुत्रों को पिता ने सात महाद्वीपों में राज्याभिषिक्त कर दिया था:—अग्नीध्र को जम्बूद्वीप में, मेधातिथि को प्लक्षद्वीप में, वपुष्मान् को शाल्मलद्वीप में, ज्योतिष्मान् को कुशद्वीप में, द्युतिमान् को क्रौंचद्वीप में, भव्य को शाकद्वीप में और सवन को पुष्कर द्वीप में[१९]। महाराज अग्नीध्र का अधिकृत यह जम्बूद्वीप आकार में समस्त महाद्वीपों में लघिष्ठ और उनके ठीक मध्य भाग में अवस्थित है। जम्बू नामक विशिष्ट वृक्ष से आवृत होने के कारण इसका नामकरण जम्बूद्वीप हुआ[२०]। महाभारत में इस को 'सुदर्शनद्वीप' नाम से समाख्यात किया गया है। इस संज्ञा से समाख्यात होने का कारण यह है कि इस महाद्वीप को चारों ओर से सुदर्शन नामक विस्तृत जम्बूवृक्ष ने परिवृत कर रखा है। उस वनस्पति के विशिष्ट नाम पर ही यह जम्बूद्वीप 'सुदर्शनद्वीप' नाम से भी समाख्यात हुआ है[२१]। जम्बूद्वीप के मण्डल का विस्तार एक लाख योजन में निर्धारित किया गया है[२२]।

सुमेरु—जम्बूद्वीप के मध्य भाग में सुमेरु नामक एक सुवर्णमय गिरि की अवस्थिति विवृत हुई है। इसकी उच्चता चौरासी सहस्र योजन में है और निम्न भाग सोलह सहस्र योजन पृथ्वी में प्रविष्ट है। उपरि भाग में इसका चतुर्दिक विस्तार बत्तीस सहस्र योजन और निम्न भाग में चतुर्दिक् विस्तार

---

१७. इ० ऐ० ६६ पा० टी० ५।

१८. पा० ई० डि० (क-न०) पृ० १५९।

१९. तु० क० २।१।१२-१५।

२०. जम्बूद्वीपस्य सा जम्बूर्नामहेतुर्महामुने। —२।२।१८

२१. सुदर्शनो नाम महान् जम्बुवृक्षः समन्ततः।
तस्य नाम्ना समाख्यातो जम्बुद्वीपो वनस्पतेः॥
—भीष्म० ५।१३-६ और ७।१९-२२

२२. लक्षयोजनविस्तरः। —२।३।२७

सोलह सहस्र योजन मात्र है। अत एव पृथिवी का आकार सुमेरुरूप कर्णिका से युक्त पद्म के समान निर्धारित किया गया है अर्थात् सम्पूर्ण वसुन्धरा प्रफुल्ल पद्म है और स्वर्णमय सुमेरु गिरि इसकी कर्णिका है[२३]। सुमेरु के चतुर्दिक् में चार विष्कम्भ पर्वत हैं। पूर्व में मन्दर, दक्षिण में गन्धमादन, पश्चिम में विपुल और उत्तर में सुपार्श्व। ये चार पर्वत दस दस सहस्र योजन उन्नत हैं। इन पर्वतों के ऊपर ग्यारह ग्यारह सौ योजन उन्नत कदम्व, जम्बू, पीपल और वट के विशाल वृक्ष केतुरूप से विद्यमान हैं[२४]। मन्दर पर कदम्ब, गन्धमादन पर जम्बू, विपुल पर पीपल और सुपार्श्व पर वटवृक्ष विराजमान हैं[२५]।

भागवत पुराण में गन्धमादन और विपुल दो पर्वतों के स्थान में मेरुमन्दर और कुमुद दो पर्वतों का नाम आया है तथा वट वृक्ष के स्थान में चूत वृक्ष का[२६]। अनुमित होता है कि इस महाकाय पर्वत के उपरिभाग के विस्तृत और मूल (निम्न) भाग के संकुचित होने के कारण उसके गिर जाने की आशंका से परिरक्षक के रूप में अर्गल के सदृश निर्मित हुए हैं।

ऊपर के चार वृक्षों में से जम्बू वृक्ष के फल, जिसके नाम पर यह द्वीप समाख्यात हुआ है, महान् गजराज के समान अतिशय विशाल होते हैं। जब वे पक कर गिरते हैं तब फट कर सर्वत्र प्रसरित हो जाते हैं। उसके रस से निर्गत जम्बूनामक प्रसिद्ध नदी वहां प्रवाहित होती है। उसी का जल वहां की प्रजा पीती है। इस जल के पानकर्ता शुद्धचित्त हो जाते हैं और उनके स्वेद दुर्गन्ध, जरा तथा इन्द्रियक्षय आदि रोग नहीं होते। उसके तीर की मृत्तिका उस रस से मिल कर मन्द वायु से सूखकर स्वर्ण हो जाती है। वही सुवर्ण वहां की प्रजाओं के लिए आभूषण के रूप में परिणत हो जाता है[२७]।

पुराण में विभिन्न वर्षों के विभाजक हिमवान्, हेमकूट, निषध, नील, श्वेत और शृङ्गी—इन छः वर्ष पर्वतों का उल्लेख है। हिमवान्, हेमकूट और निषध

---

२३. तु० क० २।२।७–९।

२४. तु० क० २।२।१५–१८।

२५. कदम्बो मन्दरे केतुर्जम्बु वै गन्धमादने।
विपुले च तथाश्वत्थः सुपार्श्वे च वटो महान्॥
—मा० पु० ५४।२०–२१

२६. मन्दरो मेरुमन्दरः सुपार्श्वः कुमुद इत्ययुतयोजनविस्तारोन्नहा मेरोश्चतुर्दिशमवष्टम्भगिरय उपक्लृप्ताः। चतुर्ष्वेतेषु चूतजम्बूकदम्बन्यग्रोधाश्चत्वारः पादपप्रवराः पर्वतकेतव इव···। —५।१६।११–१२

२७. तु० क० २।२।१८–२२।

सुमेरु के दक्षिण में और नील, श्वेत और शृङ्गी उत्तर में अवस्थित हैं[२८]। इनमें से मध्यस्थ निषध और नील एक-एक लाख योजन में प्रसृत हैं, हेमकूट और श्वेत नब्बे-नब्बे सहस्र योजन में तथा हिमालय और शृङ्गी अस्सी-अस्सी योजन में। इनमें से प्रत्येक की ऊँचाई एवं चौड़ाई दो सहस्र योजन है[२९]।

विभाजन—जम्बूद्वीप के अधीश्वर महाराज अग्नीध्र के नौ पुत्र हुए और उन्होंने इस द्वीप के नौ भाग कर अपने नौ पुत्रों में इसका वितरण कर दिया था। यथा—नाभि को हिमवर्ष का, किम्पुरुष को हेमकूट वर्ष का, हरिवर्ष को नैषधवर्ष का, इलावृत को इलावृतवर्षका, रम्य को नीलाचलाश्रित वर्ष का, हिरण्वान को श्वेत वर्ष का, कुरुको शृङ्गोत्तर वर्ष का, भद्राश्व को मेरुवर्ष का और केतुमाल को गन्धमादन वर्ष का शासक बनाया[३०]। मेरु के दक्षिण में प्रथम भारतवर्ष है, द्वितीय किम्पुरुष वर्ष और तृतीय हरिवर्ष है। उत्तर में प्रथम रम्यकवर्ष, द्वितीय हिरण्मय वर्ष और तृतीय उत्तरकुरुवर्ष है। उत्तर कुरुवर्ष की आकृति भारतवर्ष के ही समान (धनुषाकार) है। इनमें से प्रत्येक वर्ष का विस्तार नौ सहस्र योजन है और इलावृत ने सुमेरु को चतुर्दिक में मण्डलाकार होकर परिवृत कर रखा है। इस वर्ष का विस्तार भी नौ सहस्र योजन है। मेरु के पूर्व में भद्राश्ववर्ष और पश्चिम में केतुमालवर्ष है। इन दोनों का मध्यवर्ती इलावृतवर्ष है[३१]। इसका आकार दोनों के मध्यवर्ती होने के कारण अर्धचन्द्राकार प्रतीत होता है[३२]। जम्बूद्वीप के आकृतिवर्णन में पौराणिक प्रतिपादन है कि इस मण्डलायित क्षिति के दक्षिणोत्तर भाग निम्न तथा मध्यभाग उच्छ्रित और आयत (विस्तृत) है[33]। भारत (हिमवर्ष) दक्षिणीयतम और उत्तरकुरु उत्तरीयतम छोर पर होने के कारण धनुषाकार दृष्टिगोचर होते हैं[३४]।

पौराणिक परम्परा के अनुसार महात्मा नाभि के द्वारा अनुशासित हिमवर्ष ही आधुनिक भारतवर्ष प्रतीत होता है, क्योंकि नाभि के पौत्र एवं ऋषभदेव

---

२८. हिमवान्हेमकूटश्च निषधश्चास्य दक्षिणे।
नीलः श्वेतश्चशृंगी च उत्तरे वर्षपर्वताः॥ —२।२।१०

२९. लक्षप्रमाणौ द्वौ मध्यौ दशहीनास्तथापरे।
सहस्रद्वितयोच्छ्रायास्तावद्विस्तारिणश्चते॥ —२।२।११

३०. तु० क० २।१।१५–२३।

३१. तु० क० २।२।१२–१५ और २३।

३२. वेद्यर्द्धे दक्षिणे त्रीणि त्रीणि वर्षाणि चोत्तरे।
इलावृतं तयोर्मध्ये चन्द्रार्धाकारवत्स्थितम्॥ —मा० पु० ५४।१३

३३. दक्षिणोत्तरतो निम्ना मध्ये तुंगायताक्षितिः। —वही ५४।१२

३४. धनुःसंस्थे महाराज द्वे वर्षे दक्षिणोत्तरे। —म० भा० भीष्म० ६।३८

के पुत्र भरत को जब हिमवर्ष दिया गया तब से यह (हिम) वर्ष ही भारत वर्ष के नाम से प्रसिद्ध हुआ[३५]। एक अन्य उल्लेख से अवगत होता है कि भारत वर्ष हिमवर्ष का ही पर्यायवाचक है। यथा—उन लोगों ने इस भारतवर्ष को नौ भागों में विभूषित—विभाजित किया[३६]। यह विभाजन हिमवर्ष को ही लक्षित करता है। अतः सिद्ध होता है कि आधुनिक भारतवर्ष हिमवर्ष ही है। ये दोनों शब्द परस्पर में एक दूसरे के पर्याय हैं।

अध्ययन से अवगत होता है कि इस अखण्ड हिमवर्ष पर स्वायम्भुव मनु के प्रपौत्र महाराज नाभि के वंशज शतजित् अर्थात् स्वायम्भुव मनु की सत्ताइसवीं पीढ़ी तक ने अखण्ड राज्य किया था[३७]।

केसराचल—सुमेरु की चतुर्दिशाओं में कतिपय केसराचलों की चर्चा है। पूर्व में शीतांभ, कुमुन्द, कुररी, माल्यवान् और वैंकक आदि पर्वत हैं। दक्षिण में त्रिकूट, शिशिर, पतंग, रुचक और निषाद आदि हैं। पश्चिम में शिखिवासा, वैडूर्य, कपिल, गन्धमादन और जारुधि आदि पर्वत हैं। और उत्तर में शंखकूट, ऋषभ, हंस, नाग तथा कालंज आदि केसर पर्वत अवस्थित हैं[३८]।

मर्यादापर्वत—आठ मर्यादापर्वतों की चर्चा पायी जाती है। जठर और देवकूट नामक मर्यादापर्वत उत्तर और दक्षिण की ओर नील तथा निषध गिरियों तक प्रसृत हैं। गन्धमादन और कैलाश नामक मर्यादापर्वत पूर्व और पश्चिम की ओर प्रसृत हैं। इनका विस्तार अस्सी योजन है तथा इनकी स्थिति समुद्र के अभ्यन्तर में है। पूर्व के समान ही मेरु की पश्चिम दिशा में निषध और पारियात्र नामक दो मर्यादापर्वत हैं। और उत्तर दिशा की ओर त्रिश्रृङ्ग और जारुधि नामक दो वर्ष पर्वत हैं। ये दोनों पूर्व और पश्चिम की ओर समुद्र के गर्भ में स्थित हैं[३९]। इन मर्यादापर्वतों के बहिर्भाग में स्थित भारत (हिम) वर्ष, केतुमालवर्ष, भद्राश्ववर्ष और कुरुवर्ष—ये चार वर्ष लोकपद्म अर्थात् जम्बूद्वीपरूप कमल के चार पत्तों के समान दृष्टिगत होते हैं[४०]।

ब्रह्मपुरी—सुमेरु के ऊपर अन्तरिक्ष में चौदह सहस्र योजन में विस्तृत एक महापुरी की अवस्थिति निर्दिष्ट की गयी है। यह महापुरी ब्रह्मपुरी नाम से

---

३५. ततश्च भारतं वर्षमेतल्लोकेषु गीयते।
भरताय यतः पित्रा दत्तं प्रातिष्ठता वनम् ॥ —२।१।३२

३६. तैरिदं भारतं वर्षं नवभेदमलंकृतम्। —२।१।४१

३७. तु० क० —२।१।३ ४१

३८. तु० क० —२।२।२६-२९

३९. तु० क० २।२।४०-४३।

४०. पत्राणि लोकपद्मस्य। —२।२।३९

भी विख्यात है। इसके अशेष भागों में इन्द्रादि लोकपालों के अत्यन्त मनोरम आठ नगर हैं[४१]। पूर्वदिशा में इन्द्रनगर, अग्निकोण में वह्निनगर, दक्षिण दिशा में यमनगर नैऋत कोण में निऋतनगर, पश्चिम दिशा में वरुणनगर, वायु कोण में मरुतनगर, उत्तर दिशा में कुवेरनगर और ईशानकोण में ईशनगर हैं[४२]।

गिरिद्रोणियाँ—उपर्युक्त शीतांभ आदि केसर पर्वतों के मध्य में कतिपय गिरिद्रोणियाँ—पर्वतकन्दराएँ हैं। उन कन्दराओं के अभ्यन्तर अनेक सुरम्य नगर एवं उपवन विद्यमान हैं। उन नगरों के निवासी सिद्ध, चारण, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, दैत्य और दानव आदि जाति के लोग निरन्तर क्रीडा करते हैं[४३]।

देवमन्दिर—पर्वतद्रोणियों के अन्तरवस्थित नगरों में लक्ष्मी, विष्णु, अग्नि, सूर्य आदि देवी-देवताओं के सुन्दर मन्दिर हैं, जिन की सेवा-पूजा में वहाँ के निवासी किन्नर आदि निरन्तर तत्पर रहते हैं। ये समस्त स्थान भौम (पृथ्वी के) स्वर्ग कहे गये हैं। यहाँ धार्मिक पुरुषों का ही निवास हो सकता है। पापकर्मा पुरुष सौ जन्मों में भी यहाँ नहीं जा सकते हैं[४४]।

गङ्गा—पौराणिक संस्कृति में गङ्गा नदी का स्थान अधिकतम महत्त्वपूर्ण है। इस परम पावनी नदी की उत्पत्ति साक्षात् विष्णु के पादपङ्कज से हुई है। यह चन्द्रमण्डल को चारों ओर से आप्लावित कर स्वर्गलोक से ब्रह्मपुरी में गिरती है। वहाँ गिरने पर गङ्गा चारों दिशाओं में क्रमशः सीता, अलकनन्दा, चक्षु और भद्रा—इन चार नामों से चार भागों में विभक्त हो जाती है। सीता पूर्व की ओर आकाश मार्ग से एक पर्वत से दूसरे पर्वत पर जाती हुई अन्त में भद्राश्व वर्ष को पार कर समुद्र में मिल जाती है। अलकनन्दा दक्षिण दिशा की ओर भारतवर्ष में आती है तथा सात भागों में विभक्त होकर समुद्र में मिल जाती है। चक्षु पश्चिम दिशा के समस्त पर्वतों को पार कर केतुमाल वर्ष में बहती हुई अन्त में सागर में जा मिलती है। अन्तिम भद्रा उत्तरीय पर्वतों और उत्तर कुरुवर्ष को पार करती हुई उत्तरीय समुद्र में मिल जाती है। इसके अतिरिक्त कुलपर्वतों से निर्गत सैकड़ों नदियाँ हैं[४५]।

---

४१. तु० क० २।२।३०-३-३१।

४२. तु० क० श० क० काण्ड २, पृ० ७०९।

४३. तु० क० २।२।४५-४६ और ४८।

४४. लक्ष्मीविष्ण्वग्निसूर्यादिदेवानां मुनिसत्तम।
तास्वायतनवर्याणि जुष्टानि वरकिन्नरैः॥
भौमाह्येते स्मृताः स्वर्गा धर्मिणामालया मुने।
नैतेषु पापकर्माणो यान्ति जन्मशतैरपि॥ —२।२।४७ और ४९

४५. तु० क० २।२।३२-३७ और ५६।

सरोवर—इस महापर्वत पर चार सरोवरों का अस्तित्व वर्णित हुआ है। उन के नाम हैं अरुणोद, महाभद्र, असितोद और मानस। इन सरोवरों का जल देवगण ही पान करते हैं[४६]।

वन—इन सरोवरों के अतिरिक्त चार वनों का उल्लेख है। वे मेरु को चारों ओर से अलंकृत करते हैं। पूर्व दिशा में चैत्ररथ, दक्षिण में गन्धमादन, पश्चिम में वैभ्राज और उत्तर में नन्दन नामक प्रसिद्ध वन है[४७]।

विष्णुपुराण में इस प्रकार सुमेरुगिरि की स्थिति के सम्बन्ध में विवरण मिलता है। अन्य शास्त्रों में भी इसके अस्तित्व के सम्बन्ध में पर्याप्त विवृतियों की उपलब्धि होती है। किन्तु आधुनिक भूगोल परम्परा के विद्वान् सुमेरु या मेरु गिरि को काल्पनिक मानते हैं। कुछ विचारकों के मत से महाभारत में वर्णित गढ़वाल प्रान्तीय रुद्र हिमालय ही सुमेरु गिरि है, जो गंगा नदी के मूल स्रोत के रूप में बदरिकाश्रम के समीप में अवस्थित है। "फ्रेज़र्स टूर थ्रू दि हिमला माउण्टेन्स्" (४७०–४७१) के अनुसार पंचशिखर संयुक्त होने के हकारण य पंचपर्वत के नाम से भी प्रसिद्ध है। वे पांच शिखर हैं—रुद्रहिमालय, विष्णुपुरी, ब्रह्मपुरी, उद्गारिकण्ठ और स्वर्गारोहिणी। "जॉर्नल ऑव दि शियाटिक सोसायटी ऑव बंगाल" (खण्ड १७।३६१) के अनुसार गढ़वाल प्रान्तीय केदारनाथ पर्वत को ही मूल सुमेरु के रूप में मान्यता दी गयी है। "शेरिंग वेस्टर्न तिब्बत" पृ० ४०) के अनुसार मेरु का प्रसार आधुनिक अल्मोड़ा जिला के उत्तर में है[४८]।

पौराणिक निर्देशानुसार हिमवर्ष (बृहत्तर भारत) को छोड़ कर जम्बूद्वीप के किम्पुरुष आदि इतर आठ वर्षों में सुख का बाहुल्य रहता है। बिना यत्न के स्वभाव से ही समस्त सिद्धियाँ प्राप्त होती रहती हैं। किसी प्रकार के विपर्यय (असुख वा अकाल मृत्यु) तथा जरा-मृत्यु आदि का कोई भय नहीं रहता है। धर्माधर्म अथवा उतम मध्यमाधम आदि का कोई भेदभाव नहीं रहता और न कोई युगपरिवर्त्तन ही होता है। शोक, श्रम, उद्वेग और क्षुधा का भय आदि अनभीष्ट भावनाएं नहीं हैं। प्रजावर्ग स्वस्थ, आतंकरहित और सम्पूर्ण दुःखों से मुक्त है। मनुष्य दस-बारह सहस्र वर्षोंतक स्थिर आयुष्मान होते हैं। वर्षा कभी नहीं होती—पार्थिव जल ही पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध

---

४६ २।२।२५।

४७. वनं चैत्ररथं पूर्वे दक्षिणे गन्धमादनम्।
वैभ्राजं पश्चिमे तद्वदुत्तरे नन्दनं स्मृतम्॥ —२।२।२४

४८. ज्यॉ० डि० १९६–१९७।

होता रहता है। उन स्थानों में कृत-त्रेता आदि युगों की कल्पना भी नहीं है[४९]।

प्रकृतभारतवर्ष—आज जिस देश को हम भारतवर्ष मान रहे हैं, वास्तव में वह प्रकृत भारतवर्ष नहीं है। यह तो प्रकृत भारतवर्ष के नौ खण्डों में से एकतम मात्र है, क्योंकि ऋषभपुत्र भरत के अधीश्वरत्व के कारण जिस देश का नामकरण 'भारतवर्ष' हुआ था वह तो हिमवर्ष था। हिमवर्ष के प्रथम अधीश्वर महाराज नाभि थे, जो स्वायम्भुव मनु के प्रपौत्र थे और नाभि के पौत्र महाराज भरत हुए। महाराज भरत के वंशधर—उनकी इक्कीसवीं पीढ़ी में राजा शतजित् हुए। यहाँ तक प्रकृत भारतवर्ष—हिमवर्ष अखण्ड रहा, किन्तु राजा शतजित् के विष्वग्ज्योति प्रभृति सौ पुत्र हुए। अतः हिमवर्ष में इतनी प्रजावृद्धि हुई कि विवश होकर शतजित् के पुत्रों को हिमवर्ष के नौ खण्ड करने पड़े और उनके वंशधरों ने ही पूर्वकाल में कृत-त्रेता आदि युगक्रम से इकहत्तर युग पर्यन्त इस भारती वसुन्धरा का भोग किया था[५०]। पौराणिक

---

४९. तु० क० २।१।२४-२६ और २।२।५३-५५

५०. तु० क० २।१।३३-४२।

यहाँ पर ब्रह्मा की वंशपरम्परा का उल्लेखन उपयोगी एवं प्रयोजनीय है। वंशपरम्परा का क्रम निम्न प्रकार है :—

(१) ब्रह्मा	के पुत्र	(१५) प्रस्ताव	के पुत्र
(२) स्वायम्भुवमनु (१।७।१६)	,, ,,	(१६) पृथु	,, ,,
(३) प्रियव्रत (१।७।१८)	,, ,,	(१७) नक्त	,, ,,
(४) अग्नीध्र	,, ,,	(१८) गय	,, ,,
(५) नाभि	,, ,,	(१९) नर	,, ,,
(६) ऋषभ	,, ,,	(२०) विराट	,, ,,
(७) भरत	,, ,,	(२१) महावीर्य	,, ,,
(८) सुमति	,, ,,	(२२) धीमान्	,, ,,
(९) इन्द्रद्युम्न	,, ,,	(२३) महान्त	,, ,,
(१०) परमेष्ठी	,, ,,	(२४) मनस्यु	,, ,,
(११) प्रतिहार	,, ,,	(२५) त्वष्टा	,, ,,
(१२) प्रतिहर्ता	,, ,,	(२६) विरज	,, ,,
(१३) भव	,, ,,	(२७) रज	,, ,,
(१४) उद्गीथ	,, ,,	(२८) शतजित्	,, ,,

(२९) विष्वग्ज्योति आदि सौ पुत्र (२।१।७-८, १६-१७ और २७-४२)

परम्परा में भारतवर्ष जम्बूद्वीपान्तर्गत हिमवर्ष का ही पर्यायवाची था, क्योंकि शतजित् के पुत्रों ने इस भारतवर्ष (हिमवर्ष) के नौ भाग किये थे[५१]। यह तो स्पष्ट ही है कि नौ भाग हिमवर्ष के ही किये गये थे, क्योंकि विश्वग्ज्योति आदि के पिता राजा शतजित् पर्यन्त अखण्ड हिमवर्ष के ही अधीश्वर थे। भारतवर्ष हिमवर्ष का पर्याय था—इस का एक और प्रमाण यह है कि जम्बूद्वीप के खण्डों के दिशानिर्धारण के प्रसङ्ग में किम्पुरुषवर्ष और हरिवर्ष के धसा भारतवर्ष का नाम निर्देश किया गया है। इस से भी स्पष्टीकरण होता है कि किम्पुरुषवर्ष और हरिवर्ष जम्बूद्वीप के नौ खण्डों के अन्तर्गत हैं और उन किम्पुरुषवर्ष और हरिवर्ष के साथ निर्देशितनामा होने के कारण यह भारतवर्ष हिमवर्ष का ही पर्याय है—आधुनिक भारतवर्ष का नहीं। दिशानिर्धारण में प्रथम भारतवर्ष का नाम आया है[५२]।

आधुनिक भारतवर्ष—इस भारतवर्ष के नौ भाग हैं। यथा—इन्द्रद्वीप, कसेरु, ताम्रपर्ण, गभस्तिमान्, नागद्वीप, सौम्य, गन्धर्व, वारुण और यह सागरसंवृत द्वीप उनमें नवम है[५३]।

उपर्युक्त इन्द्रद्वीप आदि आठ देशों के सम्बन्ध में महाभारत में कहा गया है कि सहस्रार्जुन ने इन्द्रद्वीप, कसेरु, ताम्रद्वीप, गभस्तिमान्, गान्धर्व, वारुण और सौम्य—इन सात द्वीपों को जीत कर अपने अधिकार में कर लिया था[५४]। स्कन्दपुराण में वर्णित इन्द्रद्वीप को महेन्द्रपर्वतमाला के निकट में निर्देशित किया गया है[५५]। नागद्वीप के विषय में महाभारत में इतना ही संकेत है कि इसकी आकृति चन्द्रमण्डल के मध्यस्थित शशकर्ण के समान है[५६]।

---

५१. तु० क० पा० टी० ३६।

५२. भारतं प्रथमं वर्षं ततः किम्पुरुषं स्मृतम्।
हरिवर्षं तथैवान्यन्मेरोर्दक्षिणतो द्विज॥ —२।२।१२

५३. इन्द्रद्वीपः कसेरुश्च ताम्रपर्णो गभस्तिमान्॥
नागद्वीपस्तथा सौम्यो गन्धर्वस्त्वथ वारुणः।
अयं तु नवमस्तेषां द्वीपः सागरसंवृतः॥ —२।३।६-७

५४. तु० क० सभा० पृ० ७९१-७९२।

५५. महेन्द्रपर्वतश्चैव इन्द्रद्वीपो निगद्यते।
पारियात्रस्य चैवार्वाक् खण्डं कौमारिकं स्मृतम्॥
—इ० ऐ० ८४, पा० टी० २

५६. कर्णौ तु नागद्वीपश्च काश्यपद्वीप एव च। —भीष्म० ६।५५

प्राचीन भारतीय इतिहास के अर्वाचीन विद्वानों के मत से आधुनिक वर्मादेश ही **इन्द्रद्वीप** है। **कसेरुमान्** को आलवेरुनि ने मध्यदेश के पूर्व में और अबुल फ़ज़्ल ने महेन्द्र और शुक्तिमान् पर्वतों के मध्य में निर्धारित किया है। **ताम्रपर्ण** का परिचय सिलोन (लंका) के साथ हो सकता है, क्योंकि प्राचीन यूनानी इसे तपोवन नाम से घोषित करते थे और तपोवन शब्द ताम्रपर्ण का अपभ्रंस प्रतीत होता है। **गभस्तिमान्** अबुल फ़ज़्ल के मत से ऋक्ष और परियात्र पर्वतों के मध्य में है। **नागद्वीप** का परिचय जफ्न नामक प्रायद्वीप के साथ हो सकता है। तामिल परम्परा में यह प्रायद्वीप नाग नामक राजा को लक्षित करता है। **सौम्यद्वीप** के सम्बन्ध में आलवेरुनि और अबुलफज्ल दोनों विचारक मौन हैं, किन्तु कोयडेस नामक एक फ्रेंच विद्वान् ने सौम्य को कटाह का विकृत रूप माना है। कटाह का परिचय उसने मलाय प्रायद्वीप में स्थित केउह नामक बन्दरगाह के साथ दिया है। **गान्धर्वद्वीप**को आलवेरुनि ने मध्य देश के पश्चिमोत्तर कोण पर स्थित गान्धार से अभिन्न स्वीकृत किया है। भारत के अष्टम विभाग **वारुणद्वीप** की स्थिति के सम्बन्ध में भी आलवेरुनि ने मौन ही धारण कर लिया है, किन्तु अबुल फज्ल ने इस द्वीप को सह्य (पश्चिमीयघाट) और विन्ध्य के मध्य में स्वीकृत किया है[५७]।

नवमद्वीप— नवमद्वीप का नाम निर्देश नहीं हुआ है। केवल इतना ही संकेत है कि समुद्र से संवृत यह द्वीप है[५८]। इससे ध्वनित होता है कि नवम द्वीप ही आधुनिक भारतवर्ष है, क्यों कि स्पष्ट नाम निर्देश न होने पर भी भारत की पौराणिक सीमा इसी नवम द्वीप के साथ चरितार्थ होती है। भारत के सीमानिर्धारण में प्रतिपादन है कि जो देश समुद्र से उत्तर तथा हिमालय से दक्षिण है वही भारतवर्ष है, जहाँ भरत की सन्तान वास करती है[५९]।

मार्कण्डेयपुराण के विवरण के अनुसार डा० रायचौधरी के मत से भारतवर्ष के तीन भाग महासागर से और चतुर्थ भाग संसार की विशाल पर्वतशृङ्खला से परिवृत है। उत्तरीय पर्वतशृङ्खला इसके उत्तरीय भागको धनुष की तांत के समान तानती-सी आभासित हो रही है[६०]।

---

५७. तु० क० इ० ऐ० ८४–८५।

५८. तु० क० पा० टी० ५३।

५९ उत्तरं यत्समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणम्।
वर्षं तद्भारतं नाम भारती यत्र सन्ततिः॥ —२।३।१

६०. कार्मुकस्य यथा गुणाः। —इ० ऐ० ६३

विस्तार—प्रकृतभारत—हिमवर्ष का विस्तार नौ सहस्र योजन माना गया है और यह आधुनिक द्वीप भारत उत्तर से दक्षिण तक एक सहस्र योजन में विस्तृत है। इसके पूर्व भाग में किरात, पश्चिम भाग में यवन और मध्य भाग में अपने अपने विहित कर्मों में निरत ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र अवस्थित हैं[६१]।

डॉक्टर डी० सी० सरकार ने बिहार प्रान्तस्थित राजगिरि के तप्तकुण्डों से आरंभ कर रामक्षेत्र—रामगिरि पर्यन्त और विन्ध्याचल के भाग को किरातदेश माना है। किरात शब्द का यहां तात्पर्य है विन्ध्याचल के प्रान्तस्थित कतिपय पहाड़ी जातियों से, यद्यपि वे प्राचीन साहित्य में साधारणतः हिमालयीय भूभाग से सम्बन्धित निर्दिष्ट हुए हैं। यथार्थतः पुलिन्द और किरात—ये नाम कतिपय विशिष्ट पार्वत्य जातियों के लिए आये हैं, परन्तु परवर्ती काल में इनका अर्थ-विस्तार हुआ और किसी भी पर्वतीय जाति की मान्यता इस (किरात-पुलिन्द) श्रेणी में होने लगी[६२]।

वाराह कल्प के प्रथम मन्वन्तराधिप स्वायंभुव मनु के वंशधर राजा ऋषभ देव ने वन जाने के समय अपना राज्य अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत को दिया था अतः तब से यह (हिमवर्ष) इस लोक में अपने अधीश्वर भरत के नाम पर भारतवर्ष की संज्ञा से प्रसिद्ध हुआ[६३]। भागवतपुराण भी इसी मत से सहमत है[६४]। मत्स्यपुराण का मत है कि प्रजाओं के भरण करने के कारण मनु ही भरत नाम से सम्बोधित होते थे। अतः निरुक्त वचनों से उनके द्वारा शासित होने के कारण यह देश भारत नाम से प्रसिद्ध हुआ[६५]। महाभारत की घोषणा है कि शकुन्तला एवं दुष्यन्त के पुत्र भरत के नाम पर इस देश का नाम भारत पड़ा[६६]।

---

६१. पूर्वे किराता यस्यान्ते पश्चिमे यवनाः स्थिताः।
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्या मध्ये शूद्राश्च भागशः॥ —२।३।८-९

६२. ज्यॉ० ऐ० इ० ९५।

६३. २।१।३२।

६४. येषां खलु महायोगी भरतो ज्येष्ठः श्रेष्ठगुण
आसीद्येनेदं वर्षं भारतमिति व्यपदिशन्ति॥ —५।४।९

६५ भरणात्प्रजनाश्चैव मनुर्भरत उच्यते।
निरुक्तवचनैश्चैव वर्षं तद्भारतं स्मृतम्॥ —११३।५-६

६६. शकुन्तलायां दुष्यन्ताद्भरतश्चापि जज्ञिवान्।
यस्य लोके सुनाम्नेदं प्रथितं भारतं कुलम्॥ —आदि० ७४।१३१

भारतवर्ष के नामकरण के विषय में उपर्युक्त तीन मत उपलब्ध होते हैं। विष्णु और भागवत पुराणों के मत से आर्षभ भरत के नाम पर, मत्स्यपुराण के मत से मनु भरत के नाम पर और महाभारत के मत से दौष्यन्ति भरत के नाम पर इस देश का नामकरण हुआ। इस परिस्थिति में तथ्य को निश्चित करना एक कठिन समस्या है। किन्तु संभावना-बुद्धि में महाभारत का ही मत युक्ति-सह प्रतीत होता है, क्योंकि वाराह कल्प के प्रथम मनु स्वायंभुव हुए और स्वायंभुव मनु की षष्ठी परम्परा में ऋषभपुत्र महाराज भरत हुए। भरत हिम-वर्ष के राजा थे और भारतवर्ष के नाम से समाख्यात हिमवर्ष की परम्परा तब तक चली होगी, जब तक वैवस्वत मनु का युग नहीं आया होगा। और इस मध्य युग के काल का व्यवधान अनन्त है, क्योंकि स्वायंभुव मनु से सप्तमी परम्परा में वैवस्वत मनु का काल आता है। इन दोनों मन्वन्तरों के मध्य में पांच मनुओं का काल समाप्त हो जाता है। दौष्यन्ति भरत का काल है अन्तिम वैवस्वत युग में और इसी युग में हिमवर्ष के नवमखण्ड की प्रसिद्धि भारतवर्ष के नाम से हुई होगी। दौष्यन्ति भरत के पूर्ववर्ती काल में सम्पूर्ण हिमवर्ष भारतवर्ष के नाम से समाख्यात होगा और दौष्यन्ति भरत के पश्चात् हिमवर्ष का नवम खण्ड मात्र भारतवर्ष के नाम से प्रसिद्ध हुआ होगा।

प्राकृतिक विभाजन—भौगोलिक जगत् में पर्वत, नदी तथा प्रजाजाति का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। नैसर्गिक सुषमा के मूल स्रोत के रूप में पर्वत, नदी और वन की अधिक प्रधानता है। ये प्रकृति-स्थापना के लिए मुख्य आधार हैं। प्रकृति लोक में पर्वत का मूल्य अनेक दृष्टियों से अतिमहान् है। पुराण परम्परा में पर्वतों को देवतुल्य ही पूज्य माना गया है और अधिष्ठातृ रूप में गिरियज्ञ के अनुष्ठान का भी उल्लेख है[६७]।

हिमालय—भौगोलिक, प्राकृतिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, साहित्यिक और सैनिक आदि अनेक दृष्टियों से पर्वतों में हिमालय का स्थान उच्चतम है। पुराण में हिमालय की लम्बाई अस्सी सहस्र योजन, ऊँचाई दो सहस्र योजन और चौड़ाई भी दो सहस्र योजन मानी गई है[६८]।

आधुनिक विद्वानों के मत से हिमालय पर्वत की लम्बाई—पूर्व से पश्चिम तक सोलह सौ मील है[६९]। हिमालय की गणना वर्षपर्वतों में हुई है और वह

---

६७. ५।१०।४४।
६८. २।२।११।
६९. बृ० इ० ६।

इस कारण से कि यह भारतवर्ष को एशिया के अन्य देशों से पृथक् करता है। यथार्थतः भारत की पश्चिमोत्तरीय, उत्तरीय और उत्तर-पूर्वीय सीमा हिमालय तथा उसकी शृंखलाओं से विनिर्मित हुई है तथा इस अभेद्यप्राय सीमा के कारण ही भारतवर्ष पर उत्तर से सैनिक आक्रमण की संभावना नहीं रहती है। इसका परिणाम यह हुआ कि इस देश में एक विशेष प्रकार की सभ्यता, संस्कृति और जीवन का निर्माण हुआ जो चिरकाल तक अपने अस्तित्व को वाह्य प्रभावों से सुरक्षित रख सका। इसके अतिरिक्त यह नगाधिराज प्रारंभ से ही भारतीय मानस और साहित्य को प्रभावित करता रहा है। उत्तुङ्गशृङ्ग तथा गगनचुम्बी यह गिरिराज सृष्टि की विशालता एवं उच्चता का द्योतक है। अत एव यह मानव अहंकार और दर्प को खण्डित भी करता है। इसके संमुख खड़ा मानव अपने शरीर की भौतिक स्वल्पता का अनुभव करता है। पाण्डवों का स्वर्गारोहण, कार्तिकेय का जन्म, शिवार्जुन का द्वन्द्व युद्ध प्रभृति अनेक साहित्यिक घटनाओं और कथानकों का मूल स्रोत यह हिमालय ही रहा है। ऋषि-मुनियों तथा साधक-योगियों के चिन्तन एवं अनुभूतियों के लिए प्रधान और ऊर्वर क्षेत्र यह हिमालय ही रहा है। कालिदास ने हिमालय को देवताओं का आत्मा माना है[७०]। महाभारत का प्रतिपादन है कि इस हिमवान् के शिखर पर महेश्वर उमा के साथ नित्य निवास करते हैं[७१]।

कुलपर्वत—भौगोलिक अध्याय में कुलपर्वत अथवा कुलाचल शब्द का अर्थ कहीं प्रतिपादित नहीं हुआ है। आप्टे की डिक्शनरी में कुल शब्द को देश, राष्ट्र और जाति का पर्याय माना गया है। यहाँ पर कुल शब्द का अभिप्राय राष्ट्रविभाजक पर्वतों से है। प्रत्येक कुलपर्वत विशिष्ट रूप में देश तथा देशीय जाति से सम्बन्धित है। यथा—(१) महेन्द्र पर्वत कलिंग देश का आश्रित है, (२) मलय पर्वत पाण्ड्य देश का (३) सह्य अपरान्त देश का (४) शुक्तिमान् भल्लाट का, (५) ऋक्ष माहिष्मती प्रजाओं का, (६) विन्ध्य आटव्य और मध्यभारत के अन्यान्य वन्य प्रजाओं के अधिकार में है और (७) पारियात्र निषध देशाश्रित[७२] है। इन्हीं सात कुलपर्वतों की मान्यता है[७३]।

---

७०. कु० सं० १।१

७१. तु० क० उद्योग० १११।५

७२. इ० ऐ० ९६–९७

७३. महेन्द्रो मलयः सह्यः शुक्तिमानृक्षपर्वतः।
विन्ध्यश्च पारियात्रश्च सप्तात्र कुलपर्वताः॥ —२।३।३

साहित्य और शिलालेखों में महेन्द्र पर्वत का बहुधा उल्लेख हुआ है। कालिदास ने रघु की वीरता के वर्णन में कहा है कि उन्होंने महेन्द्राधिपति कलिंगराज को जीत लिया था[७४]। पार्जिटर का कहना है कि महेन्द्र की शृंखला पूर्वी घाट के अंश के साथ गोदावरी और महानदी के मध्य में स्थित है। इस का थोड़ा सा भाग गंजाम के निकट में पड़ता है[७५]। मलय को दक्षिण भारत की एक मुख्य पर्वतमाला के रूप में माना गया है। संस्कृत साहित्य में हिमाचल के अनन्तर इसी का स्थान है। पाण्डेय देश के अन्तर्गत इसकी स्थिति वतलायी गयी है[७६]। सह्यनामक कुलपर्वत का विवरण गौतमी पुत्र शातकर्णि की नासिक प्रशस्ति में उत्कीर्ण हुआ है। इसकी स्थिति कावेरी नदी के उत्तर-स्थित पश्चिमी घाट के उत्तरीय भाग में मानी गयी है[७७]।

शुक्तिमान् भल्लाट नामक देश के अन्तर्गत है। इसे पूर्वदिग्विजय के अवसर पर भीमसेन ने जीता था[७८]। यह विन्ध्यपर्वत माला का एक भाग है तथा पारियात्र और ऋक्ष पर्वतों को, गोण्डवन एवं महेन्द्र की पर्वत-शृङ्खला को अपने में समाविष्ट कर लेता है[७९]। ऋक्ष विन्ध्याचल की पर्वतशृङ्खला का पूर्वीय भाग है। इसका प्रसार बंगाल के आखात (खाड़ी) से नर्मदा और शोणभद्र के स्रोतःस्थान तक है[८०]। विन्ध्य दक्षिणापथ को उत्तर से पृथक् करता है, जिस प्रकार हिमालय भारत को एशिया से पृथक् करता है। भारत के कटिप्रदेश में होने के कारण यह विन्ध्यमेखला नाम से भी परिचित है। सूर्य एवं चन्द्रमा के मार्ग को रोकने के लिए इसने बड़ी चेष्टा की थी[८१]। अन्तिम पारियात्र कुलपर्वत का परिचय पारिपात्र नाम से भी होता है। यह विन्ध्य पर्वतमाला का पश्चिमीय भाग है तथा भण्डारकर के मत से यह विन्ध्य पर्वतमाला का वह

---

७४. तु० क० रघुवंश० ४।३९-४०।

७५. इ० ऐ० ९७।

७६. वही १००।

७७. वही १०१ और ज्यॉ० डि० १७१।

७८. भल्लाटमभितो जिग्ये शुक्तिमन्तं च पर्वतम्।

—म० भा० सभा० ३०।५

७९. ज्यॉ० डि० १९६

८०. वही १६८।

८१. एवमुक्तस्ततः क्रोधात्प्रवृद्धः सहसाचलः।
सूर्याचन्द्रमसोर्मार्गं रोद्धुमिच्छन्परन्तप॥

—म० भा० वन० १०४।६।

अंश है जिससे चैम्बल और वेतवा नदियाँ उत्पन्न होती हैं। इसका विस्तार चैम्बल के उद्गम स्थान से कम्बे के आखात (खाड़ी) पर्यन्त है[८२]।

नदनदियाँ—भारत के प्राकृतिक विभाजन में पर्वतों के समान ही नद-नदियों की उपयोगिता है। भारतीय संस्कृति में नद-नदियों का स्थान धार्मिक, राजनीतिक तथा व्यापारिक आदि दृष्टियों से प्रारम्भ से ही महत्त्वपूर्ण रहा है। इन्हीं के कारण भारतभूमि आदि काल से शस्यश्यामला, सुषमासम्पन्ना एवं समृद्धिशालिनी रही है। भारतीय नद नदियों में गंगा का स्थान प्रधानतम है। महाभारत के अनुसार गंगा प्राचीन काल में हिमालय के स्वर्ण शिखर से निकल कर सात धाराओं में विभक्त होती हुई समुद्र में गिर गयी है। सातों के नाम हैं—गङ्गा, यमुना, सरस्वती, रथस्था, सरयू , गोमती और गण्डकी। इन धाराओं के सम्बन्ध में धार्मिक भावना है कि इन धाराओं के जलपायी पुरुषों के पाप तत्काल नष्ट हो जाते हैं। यह गंगा देवलोक में अलकनन्दा और पितृलोक में वैतरणी नाम धारण करती है। मर्त्यलोक में इसका नाम गंगा है[८३]। वैदिक युग में भी नदियों के प्रति धार्मिक दृष्टिकोण और उदात्त भावना का विवरण पाया जाता है। वैदिक नदियों में गंगा, यमुना, सरस्वती, शतुद्री (सतलज), परुष्णी (रावी), असिक्नी (चिनाव), मरुद्वृद्धा (मरुवर्धान), वितस्ता (झेलम), आर्जिकीया (विपाशा) और सुषोमा (सुवन) नदियों की स्तुति का उल्लेख है[८४]। भौगोलिक, धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक तथा व्यापारिक जीवन के प्रसिद्ध केन्द्र हरिद्वार, कानपुर, प्रयाग, काशी, पटना, भागलपुर और कलकत्ता आदि प्रसिद्ध नगर गंगा के तीर पर ही अवस्थित हैं।

पुराण में शतद्रू, चन्द्रभागा, वेदस्मृति, नर्मदा, सुरसा, तापी, पयोष्णी, निर्विन्ध्या, गोदावरी, भीमरथी, कृष्णवेणी, कृतमाला, ताम्रपर्णी, त्रिसामा, आर्यकुल्या, ऋषिकुल्या और कुमारी आदि भारतीय नदियों, सहस्रों शाखा-नदियों तथा उपनदियों का वर्णन है[८५]।

(१) शतद्रू आजकल सतलज नाम से प्रसिद्ध है। यह पंजाब की पाँच नदियों में से एक है।

---

८२. ज्यो० डि० १४९।

८३. तु० क० म० भा० वन० ८५।८८–९९।

८४. इमं गंगे यमुने सरस्वति शुतुद्रि स्तोमं सचता परुष्णया।
असिक्नया मरुद्वृधे वितस्तयार्जकीये शृणुह्या सुषोमया॥
—ऋ० वे० १०।७५।५।

८५. तु० क० २।३।१०–१४।

(२) चन्द्रभागा पंचनद प्रदेश में एक प्रख्यात नदी है। आधुनिक काल में चिनाव नाम से इसकी प्रसिद्धि है।

(३) वेदस्मृति संभवतः तोंस और गुमती नदियों के मध्य में प्रवाहिनी अवध प्रान्तीय वैता नदी है। यह मालव देश की वेसुला भी संभावित है।

(४) नर्मदा विन्ध्यगिरि से उत्पन्न है। यह अमरकण्टक से निकल कर अरब सागर में गिरती है।

(५) सुरसा विष्णुपुराण के अनुसार विन्ध्यगिरि से उत्पन्न है। इसके सम्बन्ध में अन्यत्र कोई परिचय उपलब्ध नहीं मिलता है।

(६) तापी ऋक्ष पर्वत से उत्पन्न है। यह ताप्ति के नाम से भी प्रसिद्ध है। यह अरब सागर में गिरती है। सूरत इसी के तट पर स्थित है।

(७) पयोष्णी मध्यदेश में प्रवाहिनी 'वार्धा' नदी की शाखा नदी है। यह पैन वा पैन-गंगा नाम से प्रसिद्ध है।

(८) निर्विन्ध्या मालव की वेत्रवती (वेतवा) और सिन्ध नदियों की मध्यवाहिनी चैम्बल की शाखा नदी है।

(९) गोदावरी का उद्गम ब्रह्मगिरि है जो नासिक से बीस मील की दूरी पर अवस्थित त्र्यम्बक नामक ग्राम के निकट में है।

(१०) भीमरथी भीमा नाम से प्रसिद्ध है और कृष्णा नदी में मिल जाती है।

(११) कृष्णवेणी कृष्णा और वेणा नामक दो नदियों का संयुक्त स्रोत है।

(१२) कृतमाला की वैगा नाम से प्रसिद्धि है। इसके तट पर मदुरा (दक्षिण मथुरा) स्थित है।

(१३) ताम्रपर्णी के नाम से बौद्धों का सिंहलद्वीप भी अभिहित होता था। अशोक के गिरनार शिलालेख में इसका उल्लेख है। ताम्रपर्णी का स्थानीय नाम ताम्वरवरि है अथवा यह अगस्तिकूट गिरि से निस्सृत तिन्नवेली की ताम्बरवरी और चित्तार नामक दो नदियों का संयुक्त स्रोत है।

(१४) त्रिसामा के सम्बन्ध में कोई विशिष्ट वर्णन उपलब्ध नहीं है।

(१५) आर्यकुल्या गीता प्रेस के संस्करण के अनुसार महेन्द्र गिरि से उत्पन्न नदी है। इसके सम्बन्ध में कोई विवरण उपलब्ध नहीं, किन्तु वेङ्कटेश्वर प्रेस के संस्करण में ऋषिकुल्या का नामोल्लेख हुआ है। इस ऋषिकुल्या नदी के तट पर गंजाम नामक मण्डल की स्थिति निर्दिष्ट की गयी है।

(१६) ऋषि-कुल्या आर्कियॉलॉजिकल सर्वे रिपोर्ट (भाग ८ पृ० १२४) के अनुसार विहारराज्यान्तर्गत राजगिरि की समीपवर्तिनी "किउल" नामक नदी सभावित हो सकती है । और अन्तिम—

(१७) कुमारी भी आर्कियॉलॉजिकल सर्वे रिपोर्ट (भाग ८, पृ० १२५) के अनुसार विहार प्रदेशीय राजगिरि की शुक्तिमत्पर्वतमाला से उत्पन्न कओहेंरी नदी सम्भावित है[८६] ।

उपर्युक्त नदियों का जल पुष्टिकर और स्वादिष्ट वतलाया गया है । प्रजागण इन्हीं का जल पान कर हृष्ट-पुष्ट रहते हैं[८७] ।

प्रजाजन उपरिवर्णित नदीतटस्थ कतिपय भारतीय जनपदों का नामोल्लेख हुआ है । यथा :–(१) कुरु, (२) पांचाल, (३) मध्य, (४) पूर्वदेश, (५) कामरूप, (६) पुण्ड्र , (७) कलिंग, (८) मगध, (९) दाक्षिणात्य, (१०) अपरान्त, (११) सौराष्ट्र, (१२) शूर, (१३) आभीर, (१४) अर्बुद, (१५) कारूष, (१६) मालव, (१७) पारियात्र, (१८) सौवीर, (१९) सैन्धव, (२०) हूण, (२१) साल्व, (२२) कोशल, (२३) माद्र, (२४) आराम, (२५) अम्बष्ठ और (२६) पारसीक[८८] । अपने पुराण में इन जनपदों अथवा जानपदों के नाम मात्र के अतिरिक्त कोई विशेष विवरण उपलब्ध नहीं किन्तु शक्तिसंगमतंत्र (३।७।४-५७), मनुस्मृति, और महाभारत आदि साहित्यों में इनकी स्थिति तथा महिमा आदि के विषय में विशिष्ट प्रतिपादन मिलता है ।

(१) कुरुदेश हस्तिनापुर से आरंभ कर कुरुक्षेत्र के दक्षिण तक विस्तृत है और यह पांचाल के पूर्वभाग में विराजमान है[८९] । यह देश सरस्वती और पूर्व पंचनद की दृषद्वती नदियों का मध्यवर्ती क्षेत्र है । इस देश को ब्रह्मावर्त माना गया है[९०] । इस देश की महिमा के वर्णन में महाभारत में प्रतिपादन है

---

८६. ज्या० डि० १०७-१८२ ।

८७. २।३।१८ ।

८८ तु० क० २।३।१५–१७ ।

८९. हस्तिनापुरमारभ्य कुरुक्षेत्राच्च दक्षिणे ।
पांचालपूर्वभागे तु कुरुदेशः प्रकीर्तितः ॥ —ज्या० ऐ० इ० ७९ ।

९०. सरस्वतीदृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम् ।
तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्तं प्रचक्षते ॥ ––म० स्मृ० २।१७ ।

कि जो कुरुक्षेत्र में निवास करते हैं वे स्वर्ग में ही निवास करते हैं[९१]। इसी आधार पर कुरु देश को स्वर्ग की मान्यता दी जा सकती है।

(२) पांचाल देश कुरुक्षेत्र से पश्चिमोत्तर तथा इन्द्रप्रस्थ से उत्तर तेरह वा तीस योजन में विस्तृत माना गया है[९२]।

आधुनिक दिल्ली के क्षेत्र को इन्द्रप्रस्थ माना गया है और पूर्व पंजाब के कर्नल-अम्बाला क्षेत्र में प्रवाहिनी सरस्वती से दक्षिण और दृषद्वती से उत्तर में कुरुक्षेत्र निश्चित किया गया है। डा० सरकार के मत से प्राचीन पांचाल उत्तरीय एवं दक्षिणीय दो भागों में विभाजित था। उत्तरीय पांचाल की राजधानी अहिच्छत्र था और दक्षिणीय पांचाल की राजधानी काम्पिल्य। बरैली मण्डलान्तर्गत आधुनिक रामनगर को अहिच्छत्र की मान्यता दी गयी है और फरूखाबाद मण्डलान्तर्गत आधुनिक काम्पिल को काम्पिल्य माना गया है[९३]।

(३) मध्यदेश की सीमा कुरुक्षेत्र, प्रयाग, हिमालय और विन्ध्य के समीप में प्रवाहिनी सरस्वती नदी है। स्मृति के अनुसार अन्तर्वेद अर्थात् गंगा और जमुना की मध्यवर्तिनी धारा मध्यप्रदेश के अन्तर्गत ही है[९४]। बौद्ध परम्परा के अनुसार पूर्व में कजंगल, वहिर्भाग में महासाल, दक्षिण-पूर्व में सलावती नदी, दक्षिण में सेतकन्निक नगर, पश्चिम में थन नामक नगर और उत्तर में उसिरध्वज पर्वत मज्झिम देश की सीमा है[९५]।

(४) पूर्वदेश वाराणसी का पूर्वीय भाग है[९६]।

(५) कामरूप की सीमा कालेश्वर से श्वेतगिरि और त्रिपुर से नीलगिरि तथा गणेशगिरि के शिखर पर्यन्त है। कालिका पुराण (७९।७४) में वर्णित कामाख्या पर्वत नीलाद्रि वा नील कूट नाम से समाख्यात है। संभवतः

---

९१. दक्षिणेन सरस्वत्या दृषद्वत्युत्तरेण च।
ये वसन्ति कुरुक्षेत्रे ते वसन्ति त्रिविष्टपे॥ वन० ८३।४।

९२. कुरुक्षेत्रात्पश्चिमे तु तथा चोत्तरभागतः।
इन्द्रप्रस्थान्महेशानि दशत्रियोजनोत्तरम्॥
पांचालदेशो देवेशि सौन्दर्यगर्वभूषितः। —ज्यॉ० ऐ० इ० ७६।

९३. ज्यॉ० ऐ० इ० ३० ९२।

९४. हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्ये यत्प्राग्विनशनादपि।
प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेशः प्रकीर्तितः॥ —म० स्मृ० २।२१।

९५. ज्यॉ० डि० ११६।

९६. इ० ऐ० ५०।

त्रिपुर आधुनिक तिपरा का अपभ्रंश है। कामाख्या का प्रसिद्ध मन्दिर, जिसे योनिपीठ की मान्यता दी गयी है, गौहाटी से अधिक दूरी पर नहीं है[९७]।

(६) **पुण्ड्र** और पौण्ड्र दोनों संभवतः अभिन्न देश हैं। यह एक प्राचीन जनपद है। आधुनिक मान्यता के अनुसार मालदा का जिला, कोसी नदी के पूर्व पूर्णिया का कुछ अंश और दीनाजपुर का कुछ भाग तथा राजशाही का सम्मिलित भूभाग 'पुण्ड्र' जनपद के अन्तर्गत रहा है[९८]।

(७) **कलिंग** देश का विस्तार जगन्नाथ के पूर्वीय भाग से कृष्णा के तटों तक है। जनरल कनिंघम के मत से कलिंग देश गोदावरी नदी के दक्षिण-पश्चिमीय कोण तथा इन्द्रावती नदी की गौलीय शाखा के उत्तर पश्चिमीय भाग के मध्य में था। कालिदास के समय में उत्कल और कलिंग दोनों विभिन्न राज्य थे[९९]।

(८) **मगध** महादेश का विस्तार कालेश्वर से तप्तकुण्ड पर्यन्त है। इसका दक्षिणीय भाग कीकट नाम से और उत्तरीय भाग मगध नाम से प्रसिद्ध था। कालेश्वर शब्द वाराणसी में स्थित कालभैरव मन्दिर को लक्षित करता है एवं तप्तकुण्ड शब्द मूंगेर के समीपस्थ सीताकुण्ड को। ह्वेंत्संग की गणना के अनुसार मगध महादेश की परिधि का विस्तार मण्डलाकार में ८३३ मील था। इसके उत्तर में गंगा थी, पश्चिम में वाराणसी, पूर्व में हिरण्य पर्वत वा मूंगेर और दक्षिण में सिंहभूमि। अत एव उस समय मगध का प्रसार पश्चिम में कर्मनाशा नदी और दक्षिण में दमूद नदी के स्रोत तक रहा होगा। सरल चित्र में इसके गोलाकार का विस्तार ७०० मील था तथा राजमार्ग से इस का विस्तार ८०० मील। धार्मिक सुधारक के रूप में मगध बुद्ध के प्रारंभिक जीवन की रंगभूमि था। अत एव यहाँ भारत के अन्यान्य प्रान्तों की अपेक्षा बौद्ध तीर्थ स्थानों की संख्या अधिकतर है। तीर्थ स्थानों में बुद्ध गया,

---

९७. कालेश्वरश्वेतगिरिं त्रिपुरान्नीलपर्वतम्।
कामरूपाभिधो देवि गणेशगिरिमूर्द्धनि॥

—ज्यॉ० ऐ० इ० ७४ और ८६-८७।

९८. म० भा० नामानुक्रमणिका १९९।

९९. जगन्नाथात्पूर्वभागात् कृष्णातीरान्तगं (गः) शिवे।
कलिंगदेशः संप्रोक्तो वाममार्गपरायणः॥

—ज्यॉ० ऐ० इ० ७४ और ज्यॉ० डि० ८५।

कुक्कुटपद, राजगृह, कुसागरपुर, नालन्दा, इन्द्रसीलगुह और कपोतिक मठ आदि प्रमुख हैं[१००]।

(९) **दाक्षिणात्य देश** भारत के उस भाग को कहा जाता है जो विन्ध्यपर्वतमाला के दक्षिण में है। यथा डेकान[१०१]।

(१०) **अपरान्त** दक्षिण भारत के एक प्रदेश का नाम है। यह पश्चिम समुद्र के तट पर और पश्चिम घाट के पश्चिमीय तीर पर है। कोंकण नाम से भी इसका परिचय होता है[१०२]।

(११) **सौराष्ट्र** प्रदेश पश्चिम में कोंकण से हिंगुलाज पर्वन्त सौ योजन में विस्तृत है। गुर्जर नाम से भी इसकी ख्याति है। प्रारम्भ में काठियावाड़ का दक्षिणीय भाग सौराष्ट्र नाम से प्रसिद्ध था, किन्तु परवर्ती काल में विस्तृत अर्थ में इसके लिए 'गुजरात' नाम भी व्यवहृत होने लगा एवं सम्पूर्ण काठियावाड़ सौराष्ट्र में समाविष्ट हो गया[१०३]।

(१२) **शूर** नामक जनपद का कोई परिचय उपलब्ध नहीं है। राय चौधरी और सरकार आदि विद्वान् भी इसके स्थिति निर्धारण में प्राय: मौन हैं। महाभार, में 'शूरसेन' नामक एक जनपद की चर्चा है। संभव है यह 'शूर' के लिए भी प्रयुक्त हुआ हो। शूरसेन देश के लोग जरासन्ध के भय से अपने भाइयों तथा सेवकों के साथ दक्षिण दिशा में भाग गये थे[१०४]।

(१३) **आभीरदेश** की स्थिति विन्ध्यगिरि के ऊपर निर्दिष्ट की गयी है। दक्षिण में कोंकण और पश्चिमोत्तर में तापी वा ताप्ति है[१०५]।

---

१००. कालेश्वरं समारभ्य तप्तकुण्डान्तकं शिवे।
मगधाख्यो महादेशो यात्रायां नहि दुष्यति।
दक्षोत्तरक्रमेणैव क्रमात्कीकटमा(म)गधौ ॥
—वही ७८ और कनिंघम ज्यॉ० ५२१।

१०१. तु० क० ज्यॉ० डि० ५२।

१०२. वही ९।

१०३. कोंकणात्पश्चिमं तीर्त्वा समुद्रप्रान्तगोचरः।
हिंगुलाजान्तको देवि शतयोजनमाश्रितः ॥
सौराष्ट्रदेशो देवेशि नाम्ना तु गुर्जराभिधः (श० त० ३।७।१३) ॥

१०४. तु० क० सभा० १४।२६–२८।

१०५. श्रीकोंकनादधोभागे तापीतः पश्चिमोत्तरे।
आभीरदेशो देवेशि विन्ध्यशैले व्यवस्थित (श० त० ३।७।२०) ॥
—ज्या० ऐ० इ० ७६ और ९१।

(१४) **अर्बुद** का अपभ्रंस रूप आधुनिक 'आबू' है। राजपुताने के 'सिरोही' राज्यस्थित 'अरावलि' पर्वतमाला के अन्तर्गत आबू की अवस्थिति है। यहाँ वसिष्ठ ऋषि का आश्रम था। इस पर अनेक जैनमन्दिर हैं, जो ऋषभदेव और नेमिनाथ के नाम पर उत्सृष्ट कर दिये गये हैं। जैन परम्परा के अनुसार यह पवित्र पञ्च पर्वतों में से एक है। यथा–(१) शत्रुञ्जय, (२) समेतशिखर, (३) अर्बुद, (४) गिरनार और (५) चन्द्रगिरि[१०६]।

(१५) **कारूष** देश के सम्बन्ध में पार्जिटर का कथन है कि यह चेदी जनपद के पूर्व और मगध के पश्चिम में है। परम्परा शोणभद्र और कर्मनाशा नदियों के मध्यस्थित शाहाबाद के दक्षिणीय भाग को भी कारूख वा कारूष नाम से अभिहित करती थी[१०७]।

(१६) **मालव** महादेश अवन्ती के पूर्व और गोदावरी के उत्तर में है। राजा भोज के समय धारानगर मालव महादेश की राजधानी थी। उसके पूर्व मालव की राजधानी अवन्ती वा उज्जयनी थी[१०८]।

(१७) **पारियात्र** विन्ध्यपर्वतमाला का पश्चिमीय भाग है। इसका प्रसार चैम्बल के उद्गम से कैम्बे के आखात (खाड़ी) तक है। डा० भण्डारकर का मत है कि इसी महादेश में चैम्बल और वेतवा नामक नदियाँ उत्पन्न हुई हैं[१०९]।

(१८) **सौवीर** देश शौरसेन के पश्चिम और कण्ठक के पूर्व में है। यह सम्पूर्ण देशों में अधम माना गया है[११०]।

(१९) **सैन्धव** महादेश का विस्तार लंका से आरम्भ कर मक्का पर्यन्त है। इसकी स्थिति पर्वत के ऊपर है। मक्का का तात्पर्य संभवतः यहाँ एशिया के पश्चिमीय भूभाग (मुसलमानों का क्षेत्र) से प्रतीत होता है।

---

१०६. ज्यॉ० डि० १०।

१०७. वही ९५।

१०८. अवन्तीतः पूर्वभागे गोदावर्यास्तथोत्तरे।
मालवाख्यो महादेशो धनधान्यपरायणः (श० त० ३।७।२१)॥
—ज्यॉ० ऐ० इ० ७६ और ज्यॉ० डि० १२२।

१०९. ज्यॉ० डि० १४९।

११०. शूरसेनात्पूर्वभागे कण्ठकात्पश्चिमे वरे।
सौवीरदेशो देवेशि सर्वदेशाधमाधमः (श० त० ३।७।५४)।
—ज्यॉ० ऐ० इ० ७९।

अनुमानतः इससे आधुनिक सिलोन अभिप्रेत होता है, क्योंकि विदेशी यात्री सिलोन से सिन्धु में पहुँचे होंगे जो मक्का के मार्ग पर पड़ता था[१११]।

(२०) हूण देश कामगिरि के दाक्षिण और मरुदेश से उत्तर में है। यह वीर देशों में गणनीय है। राजपूत के ३६ गोत्रों में हूण भी एकतम है[११२]।

(२१) साल्व पूर्व काल में' मार्त्तिकावत' नाम से अभिहित होता था। यह सावित्री के पति सत्यवान् के राज्याधिकार में था। यह कुरुक्षेत्र के समीप में था। जोधपुर, जयपुर और अलवर के राज्यांश इसी में समाविष्ट हो गये थे[११३]।

(२२) कोशल महाकोशल नाम से भी समाख्यात है। गोकर्णेश के दक्षिण, आर्यावर्त के उत्तर, तैरभुक्ति के पश्चिम और महापुरी के पूर्व भाग में यह स्थित है। बौद्ध युग में अर्थात् ई० ५० पांचवीं और छट्टी शताब्दी में कोशल एक शक्तिशाली राज्य था। इसका विस्तार काशी से कपिलवस्तु तक था। इसकी राजधानी श्रावस्ती थी। किन्तु ई० पू०३०० के लगभग यह राज्य मगध में अन्तर्भुक्त हो गया[११४]।

(२३) माद्र देश यथाक्रम पूर्व और दक्षिण भागों में वैराट और पाण्ड्य देशों के मध्य में है। प्राचीन मद्रदेशीय प्रजा पंजाब के आधुनिक स्यालकोट जिला में रहती थी। इस की राजधानी शाकल वा स्यालकोट के नाम से परिचित हुई है[११५]।

---

१११. लंकाप्रदेशमारभ्य मक्कान्तं परमेश्वरि।
सैन्धवाख्यो महादेशः पर्वते तिष्ठति प्रिये (श० त० ३।७।५७)।
—जॉ० ऐ० इ० ८० और १०६-१०७।

११२. कामगिरेर्दक्षभागे मरुदेशात्तथोत्तरे।
हूणदेशः समाख्यातः शूरास्तत्र वसन्ति हि (श० त० ३।७।४४)॥
—ज्यॉ० ऐ० इ० ७८ और १०१।

११३ ज्यॉ० डि० १७५

११४. गोकर्णेशाद्दक्षभागे आर्यावर्त्तात्तु चोत्तरे।
तैरभुक्तात्पश्चिमे तु महापुर्याश्च पूर्वतः।
महाकोशलदेशश्चसूर्यवंशपरायणः (श० त० ३।७।३९)॥
—ज्यॉ० ऐ० इ० ७७ और ज्यॉ० डि० १०३

११५. वैराटपांड्ययोर्मध्ये पूर्वदक्षक्रमेण च।
मद्रदेशः समाख्यातोमाद्रीशस्तत्र तिष्ठति (श. त. ३।७।५३)॥
—ज्यॉ० ऐ० इ० ७९ और १०५

(२५) आराम जनपद का परिचायक विवरण देना कठिन है। डा० होई० का अनुमान है कि वर्तमान आरा का प्राचीन नाम 'अराड़' था और अराड़ कलाम' नामक बुद्ध के शिक्षक इसी स्थान के निवासी थे[११६]।

(२५) अम्बष्ट के सम्बन्ध में विशेष परिचय उपलब्ध नहीं है। सिन्धदेश का उत्तरस्थित एक प्रजातंत्र राज्य है। यूनानी लेखकों ने उसे 'अम्बस्तई' वा 'अम्वस्तनोई' लिखा है[११७]।

(२६) पारसीक का ही आधुनिक और अपभ्रंस वा विकृत रूप पर्सिया हो सकता है। वैदिक साहित्य में मध्यदेश के दक्षिण-पश्चिम के निवासी पारशवगण का प्रसंग मिलता है। संभव है 'पारशव' भी पारसीक का अपभ्रंस हो[११८]। कालिदास ने स्पष्टतः पारसीक शब्द का ही प्रयोग किया है। रघुने पारसीकों को जीतने के लिए स्थल मार्ग से प्रस्थान किया था[११९]।

संस्कृति पुराण में इतर देशों को भोगभूमि होने की मान्यता दी गयी है, किन्तु एक मात्र भारतवर्ष ही पौराणिक परम्परा में कर्मभूमि माना गया है। कर्म भी निष्काम और सकाम भेद से दो प्रकार का होता है। सकाम से निष्काम कर्म उत्तम होता है। कर्मभूमि होने के कारण भारतवर्ष समस्त वर्षों में श्रेष्ठ है और भारतेतर देश भोग भूमि होने के कारण निकृष्ट हैं[१२०]। गीता में भी निष्काम कर्म की उपादेयता के प्रतिपादन में फलाकांक्षा त्याग कर कर्म करने का आदेश है और साथ ही निष्कर्मा वा अकर्मा होने को हेय माना गया है[१२१]।

महिमा—भारत की महिमा के गान में कथन है कि सहस्रों जन्मों के अनन्तर महान् पुण्योदय के होने पर जीव को यदा कदाचित् इस भरतभूमि में मनुष्य जन्म प्राप्त होता है। देवगण भी निरन्तर यह गान करते हैं कि जिन्होंने स्वर्ग और अपवर्ग के मार्गभूत भारतवर्ष में जन्म ग्रहण किया है तथा जो इस

---

११६. ज्याँ डि० १०

११७. म० भा० अनुक्रमणिका १४।

११८, वै० इ० १।५७४-५७५।

११९. पारसीकांस्ततो जेतुं प्रतस्थे स्थलवर्त्मना।
इन्द्रियाख्यानिव रिपून् तत्त्वज्ञानेन संयमी ॥ —रघुवंश ४।६०

१२०. अत्रापि भारतं श्रेष्ठं जम्बूद्वीपे महामुने।
यतो हि कर्मभूरेषा ह्यतोऽन्या भोगभूमयः ॥ —२।३।२२

१२१. कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि ॥ —२।४७

कर्मभूमि में जन्म लेकर फलाकांक्षा से रहित कर्मों को परमात्मरूप विष्णु भगवान् को अर्पण करने से निर्मल होकर उस अनन्त में ही लीन हो जाते हैं वे हमारी (देवगण की) अपेक्षा भी अधिक धन्य—भाग्यशाली हैं[१२२]।

स्मृति में तो भारतवर्ष को सम्पूर्ण संसार के आध्यात्मिक गुरु के रूप में निर्दिष्ट कर कहा गया है कि इस देश में उत्पन्न ब्राह्मण के समीप में रह कर पृथ्वी के अशेष मानवों को अपना अपना आचार सीखना चाहिये[१२३]।

इस प्रकार हिमवर्ष से गन्धमादनवर्ष पर्यन्त नौ अंगों, इन्द्रद्वीप से भारतवर्ष पर्यन्त नौ उपांगों तथा भौगोलिक परम्परा के लिए अतिशय उपयोगी पर्वतों, नदियों एवं जनपदों से विशिष्ट और चतुर्दिशाओं से लाख योजनों में वलयाकार विस्तृत जम्बूद्वीप का पौराणिक विवरण उपलब्ध होता है। जम्बूद्वीप को भी वाहर से चतुर्दिशाओं में लाख योजनों में विस्तृत वलयाकार क्षार सागर ने परिवृत कर रखा है[१२४]।

(२) प्लक्षद्वीप

क्षार समुद्र के अनन्तर द्वितीय प्लक्षद्वीप की अवस्थिति है। यह द्वीप महाराज प्रियव्रत के पुत्र मेधातिथि के अधिकार में था। मेधातिथि के शान्तहय, शिशिर, सुखोद, आनन्द, शिव, क्षेमक और ध्रुव नामक सात पुत्र हुए[१२५]। इन सात भाइयों ने प्लक्षद्वीप को सात भागों में विभाजित कर दिया और उनमें से प्रत्येक एक एक वर्ष का शासक बना।

सातों वर्षों के मर्यादानिश्चायक सात वर्ष पर्वत हैं। वे हैं—गोमेद, चन्द्र, नारद, दुन्दुभि, सोमक, सुमना और वैभ्राज। इस द्वीप में प्रवाहित समुद्र-गामिनी सात नदियों का नामोल्लेख है। यथा–अनुतप्ता, शिखी, विपाशा, त्रिदिवा, अक्लमा, अमृता और सुकृता। ये सात पर्वत और सात नदियाँ प्रधान हैं। इनके अतिरिक्त छोटे छोटे सहस्रों पर्वत तथा नदियां हैं। प्लक्षद्वीप की प्रजा इन नदियों का जल पीकर हृष्ट-पुष्ट रहती है।

---

१२२. तु० क० २।३।२४-२५।

१२३. एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥ —म०स्मृ० २।२०

१२४. जम्बूद्वीपं समावृत्य लक्षयोजनविस्तरः ।
मैत्रेय वलयाकारः स्थितः क्षारोदधिर्बहिः ॥ —२।३।२८

१२५. २।४।३ ४

चतुर्वर्ण—इस द्वीप में चार वर्ण—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र निवास करते हैं और उनके नाम यथाक्रम आर्यक, कुरर, विदिश्य और भावी हैं। जम्बूद्वीप के समान इस द्वीप में प्लक्ष का वृक्ष है, जिसके नाम पर इसकी संज्ञा प्लक्षद्वीप हुई। यहाँ भगवान् हरि का सोमरूप से यजन किया जाता है[१२६]। प्लक्षद्वीप का विस्तार जम्बूद्वीप से द्विगुणित—दो लाख योजन है[१२७]। प्लक्षद्वीप भी अपने ही समान विस्तृत इक्षुरस के वृत्ताकार समुद्र से चतुर्दिक में परिवृत है[१२८]।

(३) शाल्मलद्वीप

अब हम प्लक्षद्वीप के अवरोधक इक्षुरसोदधि को घेरे हुए मण्डलाकार शाल्मलद्वीप का दर्शन करते हैं। इस अखण्ड शाल्मलद्वीप के स्वामी वीरवर वपुष्मान् थे। उनके भी श्वेत, हरित, जीमूत, रोहित, वैद्युत, मानस और सुप्रभ नामक सात पुत्र हुए। इस द्वीप के भी वर्ष रूप से सात भाग किये गये तथा सातों वर्षों के अधिकारी वपुष्मान् के श्वेत आदि सात पुत्र हुए। श्वेतवर्ष आदि सात वर्षों के विभाजक सात वर्ष पर्वत हैं। उन वर्ष पर्वतों के नाम कुमुद, उन्नत, बलाहक, द्रोण, कङ्क, महिष और ककुद्मान् हुए। इस द्वीप की प्रधान नदियों में योनि, तोया, वितृष्णा, चन्द्रा, मुक्ता, विमोचनी और निवृत्ति हैं। यहाँ भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के स्थान में कपिल, अरुण, पीत और कृष्ण नामक चार वर्ण निवास करते हैं। यहाँ वायु रूप से भगवान् विष्णु का यजन किया जाता है। एक महान् शान्तिदायक शाल्मल वृक्ष के कारण इस तृतीय द्वीप की संज्ञा 'शाल्मलद्वीप' हुई[१२९]। यह द्वीप दो लाख योजनों में विस्तृत इक्षुरस-सागर की अपेक्षा द्विगुणित—चार लाख योजनों में विस्तृत है[१३०]। शाल्मलद्वीप अपने समान विस्तारमय सुरासागर से परिवृत है[१३१]।

---

१२६. तु० क० २।४।३-१९।

१२७. स एव द्विगुणो ब्रह्मन् प्लक्षद्वीप उदाहृतः। —२।४।२

१२८. प्लक्षद्वीपप्रमाणेन प्लक्षद्वीपः समावृतः।
तथैवेक्षुरसोदेन परिवेषानुकारिणा। —२।४।२०

१२९ तु० क० २।४।२६-३३।

१३० शाल्मलेन समुद्रोऽसौ द्वीपेनेक्षुरसोदकः।
विस्तारद्विगुणेनाथ सर्वतः संवृतः स्थितः॥ —२।४।२४

१३१. एष द्वीपः समुद्रेण सुरोदेन समावृतः॥ —२।४।३३

(४) कुशद्वीप

इसके पश्चात् सुखसागर के अवरोधक मण्डलाकार कुशद्वीप का साक्षात्कार होता है। इस द्वीप के शासक महाराज ज्योतिष्मान् थे। इनके उद्भिद, वेणुमान्, वैरथ, लम्बन, धृति, प्रभाकर और कपिल नामक सात पुत्र थे। इन्होंने अपने सात पुत्रों के नाम पर कुशद्वीप के सात भाग किये। यहाँ भी सात वर्षों के विभाजक सात वर्षपर्वत हैं। उनके नाम विद्रुम, हेमशैल, द्युतिमान्, पुष्पवान्, कुशेशय, हरि और मन्दराचल हैं। प्रधान रूप से यहाँ सात नदियों का उल्लेख है : धूतपापा, शिवा, पवित्रा, सम्मति, विद्युत्, अम्भा और मही। इन मुख्य पर्वतों और नदियों के अतिरिक्त सहस्रों नदियाँ और पर्वत हैं। इस द्वीप में दमी, शुष्मी, स्नेह और मन्देह नामक चार वर्ण निवास करते हैं जो क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के रूपक हैं। चतुर्वर्णों के अतिरिक्त दैत्य-दानव, मनुष्य, देव, गन्धर्व, यक्ष और किन्नर आदि जातियाँ निवास करती हैं। ब्रह्मरूप से जनार्दन की उपासना होती हैं। कुशस्तम्ब (कुश के झाड़) के कारण इस महाद्वीप का नामकरण कुशद्वीप हुआ[१३२]। कुशद्वीप आठ योजनों में विस्तारवान् है[१३३]। यह द्वीप चतुर्दिकों में स्वसमान विस्तृत घृतसागर से परिवृत है[१३४]। डा० पुसालकर का कथन है कि १९ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध भाग में कैपटेन स्पेक ने नूबिया (कुशद्वीप) में जाकर नील नदी के उद्गम स्थान का पता लगाया था और उस से पौराणिक वर्णन का समर्थन मिलने लगा[१३५]।

(५) क्रौंचद्वीप

घृतसागर के पश्चात् पंचम क्रौंचद्वीप का विवरण उपलब्ध होता है। इस महाद्वीप के अधिपति महाराज द्युतिमान् थे। द्युतिमान् ने अपने कुशल, मन्दग, उष्ण, पीवर, अन्धकारक, मुनि और दुन्दुभि नामक सात पुत्रों के नामानुसार क्रौंचद्वीप को विभाजित कर सात वर्ष नियत किये। यहाँ देवगन्धर्वों से सेवित सात वर्ष हैं। यथा-क्रौंच, वामन, अन्धकारक, स्वाहिनी, दिवावृत्, पुण्डरीकवान् और दुन्दुभि। ये परस्पर में द्विगुणित होते गये हैं। यहाँ सैकड़ों क्षुद्र नदियों के अतिरिक्त सात प्रधान नदियाँ हैं और वे हैं—गौरी, कुमुद्वती, सन्ध्या,

---

१३२. —२।४।३४–४४।

१३३. शाल्मलस्य तु विस्ताराद् द्विगुणेन समन्ततः। —२।४।३५

१३४. तत्प्रमाणेन स द्वीपो घृतोदेन समावृतः। —२।४।४५

१३५. तु० क० संस्कृति० ५५७।

रात्रि, मनोजवा, क्षान्ति और पुण्डरीका। प्रजावर्ग इन्हीं नदियों का जल पान करता है। यहाँ भी ब्राह्मण आदि चार वर्णों के प्रतिरूप पुष्कर, पुष्कल, धन्य और तिष्यनामक चार वर्ण निवास करते हैं। यहाँ रुद्ररूप से विष्णु की पूजा होती है[१३६]। गोलाकर क्रौंचद्वीप का विस्तार सोलह योजन है[१३७]। इस महाद्वीप का अवरोधक परिमाण में इसी के समान विस्तृत दधिमण्ड-मट्ठे का सागर है[१३८]।

(६) शाकद्वीप

षष्ठ महाद्वीप शाकद्वीप के स्वामी थे प्रियव्रत के पुत्र महाराज भव्य। भव्य के जलद, कुमार, सुकुमार, मरीचक, कुसुमोद, मौदाकि और महाद्रुम नामक सात पुत्र थे। महाराज भव्य ने अपने पुत्रों के नामानुसार शाकद्वीप को सात वर्षों में विभाजित किया था। उन सात पर्वतों के विभाजक सात वर्ष पर्वत हैं—उदयाचल, जलाधार, रैवतक, श्याम, अस्ताचल, आम्बिकेय और केसरी। इस द्वीप में सिद्ध और गन्धर्वों से सेवित अतिमहान् शाकवृक्ष है जिसके नाम पर इस महाद्वीप का नामकरण शाकद्वीप हुआ। यहाँ सात महापवित्र नदियाँ हैं—सुकुमारी, कुमारी, नलिनी, धेनुका, इक्षु, वेणुका और गभस्ती। इनके अतिरिक्त यहाँ और भी सैकड़ों छोटी छोटी नदियां और सहस्रों पर्वत हैं। प्रजाएँ इन्हीं नदियों का जल पीती हैं। यहाँ भी वङ्ग, मागध, मानस और मन्दग—ये चार वर्ण हैं। इन में वङ्ग सर्वश्रेष्ठ ब्राह्मण हैं, मागध क्षत्रिय हैं, मानस वैश्य हैं तथा मन्दग शूद्र हैं। शाकद्वीप के उपर्युक्त चतुर्वर्ण शास्त्रानुकूल आचरणकर्ता हैं और सूर्यरूपधारी विष्णुकी उपासना करते हैं[१३९]। वलयाकार शाकद्वीप का विस्तार क्रौंचद्वीप से द्विगुणित—वत्तीस योजन परिमित है[१४०]। यह महाद्वीप भी स्वसमान विस्तारमय क्षीरसागर से परिवृत है[१४१]।

(७) पुष्करद्वीप

पुष्करद्वीप सप्तम महाद्वीप है। यह महाराज सवन के अधिकार में था। सवन के महावीर और धातकि नामक दो पुत्र हुए। अत एव इनके नामानुसार

---

१३६. तु० क० २।४।४७–५६।

१३७. कुशद्वीपस्य विस्ताराद् द्विगुणो यस्यविस्तरः। —२।४।४६

१३८. क्रौंचद्वीपः समुद्रेण दधिमण्डोदकेन च।
आवृतः सर्वतः क्रौंचद्वीपतुल्येन मानतः॥ —२।४।५७

१३९. तु० क० २।४५९–७१।

१४०. क्रौंचद्वीपस्य विस्ताराद् द्विगुणेन महामुने। —२।४।५८

१४१. शाकद्वीपस्तु मैत्रेय क्षीरोदेन समावृतः।
शाकद्वीपप्रमाणेन वलयेनेव वेष्टितः॥ —२।४।७२

महावीरखण्ड और धातकीखण्ड नामक दो वर्ष हुए। इन दो वर्षों का विभाजक एक मानसोत्तर नामक पर्वत है। यह पर्वत इनके मध्य में वलयाकार रूप से स्थित है। यह पर्वत पचास सहस्र योजन उच्छ्रित (ऊँचा) है और इतना ही सब ओर से प्रसृत है। यहाँ के मानव रोग, शोक और रागद्वेष से रहित तथा दस सहस्रवर्षजीवी होते हैं। महावीर वर्ष मानसोत्तर पर्वत के बाहर की ओर तथा धातकीखण्ड भीतर की ओर है। उस महाद्वीप में न्यग्रोध का वृक्ष है, जहाँ देवदानवों से पूज्यमान ब्रह्मा निवास करते हैं। वहां के मनुष्य और देवगण समान वेष और रूपधारी हैं। वर्णाश्रमाचार से मुक्त, काम्यकर्मों से हीन एवं वेदत्रयी, कृषि, दण्डनीति और शुश्रूषा आदि से रहित वे दो वर्ष अत्युत्तम भौम स्वर्ग है। पुष्करद्वीप में सम्पूर्ण प्रजावर्ग सर्वदा स्वयं प्राप्त षड्रस आहार करते हैं[१४२]। वह महाद्वीप परिमाण में क्षीरसागर से द्विगुणित—चौसठ लाख योजन में विस्तृत है[१४३]। पुष्करनामक सप्तम महाद्वीप को भी चौसठ लाख योजन में विस्तृत वृत्ताकार मधुर जलसागर ने परिवेष्टित कर दिया है[१४४]।

(८) काञ्चनीभूमि

मधुर जलसागर के अनन्तर तद्द्विगुणित—एक सौ अठ्ठाइस योजन में सब ओर से विस्तृत, लोकनिवास से शून्य और समस्त जीवों से रहित काञ्चनमयी भूमि है[१४५]।

(९) लोकालोकपर्वत

काञ्चनी भूमि के पश्चात् चतुर्दिक् से दस सहस्र योजनों में परिव्याप्त "लोकालोक" नामक अतिविस्तृत पर्वतमाला है। ऊँचाई में भी यह दश सहस्र योजनों में व्याप्त है[१४६]।

---

१४२. तु० क० २।४।७४-९३।

१४३. क्षीराब्धिः सर्वतो ब्रह्मन्पुष्कराख्येन वेष्टितः।
द्वीपेन शाकद्वीपात्तु द्विगुणेन समन्ततः॥ —२।४।७३

१४४. स्वादूदकेनोदधिना पुष्करः परिवेष्टितः।
समेन पुष्करस्यैव विस्तारान्मण्डलं तथा॥ —२।४।८७

१४५. स्वादूदकस्य परितो दृश्यतेऽलोकसंस्थितिः।
द्विगुणा काञ्चनी भूमिः सर्वजन्तुविवर्जिता॥ —२।४।९४

१४६. लोकालोकस्ततश्शैलो योजनायुतविस्तृतः।
उच्छ्रायेणापि तावन्ति सहस्राण्यचलो हि सः॥ —२।४।९५

(१०) अण्डकटाह

लोकालोक पर्वत के आगे का भाग घोर अन्धकार से समाच्छन्न एवं वर्णनातीत है और वह अन्धकार भी चतुर्दिशाओं से अपरिमित ब्रह्माण्ड-कटाह से आवृत है[१४७]।

पुराण में अन्धकार और अण्डकटाह के विस्तार-परिमाण का विवरण उपलब्ध नहीं है। अनुमान से अवगत होता है कि ये दोनों (अन्धकार और अण्डकटाह) उनचास करोड़, निन्यानवे लाख, नवासी सहस्र, छह सौ अट्ठारह योजनों में विस्तृत हैं, क्योंकि सम्पूर्ण भूमण्डल का विस्तार पचास करोड़ योजन निर्दिष्ट किया गया है और सात द्वीप, सात सागर जनशून्य काञ्चनी भूमि तथा लोकालोक पर्वतमाला का विस्तार जोड़ने पर दस सहस्र, तीन सौ, बेरासी योजन का होता है। पचास करोड़ में से दस सहस्र, छह सौ, अट्ठारह अवशिष्ट रह जाते हैं। अत एव पौराणिक समाकलन से यह सिद्ध होता है कि द्वीप, सागर और अण्डकटाह आदि से संवृत सम्पूर्ण भूमण्डल वलयाकार में पचास करोड़ योजन विस्तृत है[१४८]।

समीक्षण—विज्ञान की आधुनिक विचारपरम्परा ऐसे पौराणिक वर्णनों को भावुकतापूर्ण, भ्रामक, अव्यावहारिक एवं काल्पनिक मानती है, क्योंकि इस वर्णन में ऐतिहासिक सत्यता का अभाव है। वैज्ञानिक अनुसन्धान की घोषणा है कि उसने सम्पूर्ण भूमण्डल को कोने-कोने छान डाला है। अबतक पृथिवी का कोई भी भाग भौगोलिक खोज के लिए अप्रत्यक्षीभूत नहीं रह गया है और प्रत्यक्षीभूत तत्त्वों में इस प्रकार के द्वीपादिकों का कोई भी चिह्न अबतक दृष्टिगत नहीं हुआ। अत एव उपर्युक्त पौराणिक वर्णन काल्पनिक ही सिद्ध हो सकता है।

ऐसी परिस्थिति में हमारे लिए एक उलझन उपस्थित हो जाता है, जिसे सुलझाना सुगम नहीं। अबुलफजल ने जम्बूद्वीप के कतिपय पौराणिक वर्णनों को एवं तदितर अन्य बहिर्गत छह द्वीपों को परियों के काल्पनिक देशों के समान असत्य स्वीकार किया है[१४९]। पौराणिक आधार पर उसने द्वीप को दो जला-

---

१४७. ततस्तमः समावृत्य तं शैलं सर्वतः स्थितम्।
तमश्चाण्डकटाहेन समन्तात्परिवेष्टितम् ॥ —२।४।९६

१४८ पञ्चाशत्कोटिविस्तारा सेयमुर्वी महामुने।
सहैवाण्डकटाहेन सद्वीपाब्धिमहीधरा ॥ —२।४।९७

१४९. इ० ऐ० ६८।

शयों के मध्यगत भूमि के अतिरिक्त और कुछ नहीं माना है[१५०]। अबुलफज्ल के मत से कतिपय पौराणिक द्वीपों का नामकरण वहां की जातियों, जनपदो अथवा देशों के नाम के आधार पर हुआ है। यदि इनके मत को हम यथार्थ मान लेते हैं तो न्यूनाधिक मात्रा से कुछ उलझन निश्चय ही सुलझ जाते हैं। अनुमानतः इन विद्वानों के मत से अशेष पौराणिक द्वीपों का अस्तित्व, जो विकृतनामा हो गये हैं, इसी एशिया के अन्तर्गत है। उदाहरणार्थ पुराण का द्वितीय महाद्वीप प्लक्षद्वीप है। आधुनिक काबुल को उन्होंने प्लक्षद्वीप स्वीकार किया है, क्योंकि प्लक्षद्वीप में कुभा नामक नदी का उल्लेख है,[१५१] जिसे काबुल नदी का विकृत रूप माना गया है। इसी प्रकार 'कनिष्क' को 'कुश' का विकृत रूप मान कर 'कनिष्कपुर' को, जो वर्तमान श्रीनगर से दक्षिण में है, कुशद्वीप संभावित किया है। इरान में स्थित 'सेइस्तान' को शकस्थान वा शाकद्वीप का अपभ्रंस संभावित किया है। अलबेरूनि ने पुष्करद्वीप को चीन और मंगोलिया के मध्य में संभावित किया है[१५२]।

निष्कर्ष—उपर्युक्त प्रसंग के प्राचीन और अर्वाचीन आधार पर एकान्त विवेचन करने पर भी अपरिमेय पौराणिक महाद्वीपों तथा विविध महासागरों के सम्बन्ध में कोई निर्णय निश्चित निष्कर्ष तक नहीं पहुंचता। अलबेरुनि तथा अबुलफज्ल आदि प्रसिद्ध ऐतिहासिक विद्वानों के संभावित प्रतिपादन में पूर्ण यथार्थता है, यह दृढ़ता के साथ स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि जिन महाद्वीपों और महासागरों का विस्तार एक लाख से चौसठ लाख योजन तक में निर्णीत किया गया है वे काबुल तथा चीन एवं मंगोलिया जैसे परिमित स्थानों में किस प्रकार समाविष्ट हो सकते हैं? पुराणप्रणेता ऋषिगणों के प्रतिपादन में केवल अतिशयोक्ति अथवा निरी काल्पनिकता है—यह कह देना तो ऐतिहासिक प्रमाणाभाव के कारण सरल है, पर उन निःस्वार्थ, निःस्पृह तथा अन्तर्द्रष्टा ऋषि-मुनियों के मस्तिष्क में ऐसी असत्य कल्पना की भावना किस कारण-विशेष से जागरित हुई—यह भी तो चिन्तन का विषय है। इस महाविशाल एवं कल्पनातीत विश्वब्रह्माण्ड के अन्तिम छोर की कल्पना का समावेश मानवमस्तिष्क में संभव नहीं है। संभव है वैज्ञानिक प्रगति अपनी क्रमिक अनुसन्धानक्रिया के द्वारा आज नहीं, भविष्य में कभी उपर्युक्त पौराणिक लोकों को खोज कर हमारे समक्ष उपस्थापित कर दे। क्योंकि कुछ पूर्वकाल में जिन तत्त्वों एवं पदार्थों को

१५०. द्विरापत्वात् स्मृतो द्वीपः। —वही पा० टी० ५
१५१. तु० क० —वही ६९
१५२. —वही ७०

हम काल्पनिक जगत् की क्रीडा के उपकरणमात्र मानते थे वे तत्त्व एवं पदार्थ जब आज वैज्ञानिक चमत्कृति के द्वारा हमारी इद्रियों के गोचरीभूत हो गये तब उनके अस्तित्व के सम्बन्ध में हमारे हृदय में सन्देह के लिए लेशमात्र भी अवकाश नहीं रह गया। वैज्ञानिक खोज ने ब्रह्माण्ड के कतिपय ऐसे विशाल और तीव्र-गतिक ग्रहोपग्रहों का पता लगा लिया है जो सूर्य की अपेक्षा विस्तार और गति में कोटिगुण अधिक हैं, किन्तु उनका प्रकाश सृष्टि के आदि काल से तीव्रगतिशील रह कर भी आज तक इस पृथिवी पर नहीं पहुँच सका है। एक विचारक का मत है कि आकाश-गंगा के किसी-किसी तारे का प्रकाश अरबों प्रकाश वर्षों में पृथ्वी तक पहुँचता है। इस आकाश-गंगा के पीछे भी नीहारिकामण्डल है। एक के पीछे एक; अभी पता नहीं कहाँ तक उनका क्रम है। उनका प्रकाश यंत्रों में कितने अरब-खरब प्रकाश-वर्षों में पहुँचा है, यह संख्या न तो लिखी जा सकती है और न सोची[१५३]।

भावुकतापूर्ण संभावना-बुद्धि के बल पर इसे काल्पनिक भी माना जा सकता है और सत्य भी। ऐतिहासिकता के अभाव में भी भौगोलिक एवं साहित्यिक आदि परम्पराओं के लिए ये पौराणिक विवरण उपयोगी तथा मूल्यवान ही प्रतीत होते हैं। जो भी हो, पौराणिक परम्परा तो इस प्रकार की है।

१५३. तु० क० संस्कृति २६९।

तृतीय अंश

समाज-व्यवस्था

[प्रस्ताव, चातुर्वर्ण्य सृष्टि, वर्णधर्म, द्विज और व्रात्य, आश्रम और धर्म, वर्णाश्रम धर्म, वर्णाश्रम और वार्ता, ब्राह्मण की श्रेष्ठता, ऋषि, महर्षि, सप्तर्षि, ब्रह्मर्षि, देवर्षि, राजर्षि, मुनि और यति, ब्राह्मण और कर्मकाण्ड, ब्राह्मण और प्रतिग्रह, ब्राह्मण और राजनीति, ब्राह्मण और क्षत्रिय-संघर्ष, ब्राह्मण और शिक्षा, क्षत्र, क्षत्रिय और राजन्य, कर्मव्यवस्था, क्षत्रिय और बौद्धिक क्रियाकलाप, क्षत्रिय और वैदिक शिक्षा, चक्रवर्ती और सम्राट्, क्षत्र ब्राह्मण, क्षत्रियब्राह्मण-विवाह, वैश्य, शूद्र, स्त्रीवर्ग : प्रस्ताव, लौकिक दृष्टिकोण, कुमारी कन्या के रूप में, पत्नी के रूप में, माता के रूप में, अदण्डनीयता, शिक्षा, पर्दा, सतीप्रथा, विवाह, विवाह के प्रकार, नियोग, बहुविवाह, स्वैरिणी, स्त्री और राज्याधिकार, निष्कर्ष]

[प्रयुक्त साहित्य : (१) विष्णुपुराणम् (२) ऋग्वेदः (३) निरुक्तम् (४) याज्ञवल्क्यस्मृतिः और मिताक्षरा टीका (५) Cultural History from Vayu Purāṇa (६) कौटिलीयमर्थशास्त्रम् (७) मनुस्मृतिः (८) वैदिक इण्डेक्स (९) अमरकोषः (१०) पातञ्जलयोगदर्शनम् (११) श्रीमद्-भगवद्गीता (१२) महाभारतम् (१३) वायुपुराणम् (१४) Social organisation in North-East India in Buddha's time (१५) Vaiṣṇavism; Śaivism (१६) History of Dharma śastra (१७) Ancient Indian Historical Tradition (१८) Students Sanskrit-English Dictionary (१९) मल्लिनाथ टीकासहितं रघुवंशम् (२०) मार्कण्डेयपुराणम् (२१) Pre-Buddhist India (२२) Pali English Dictionary और (२३) Position of women in Ancient India]

प्रस्ताव -- पौराणिक युग में समाज-व्यवस्था का आधार वर्णाश्रम धर्म था तथा वर्णाश्रम धर्म का निर्माण यज्ञानुष्ठान के लिए हुआ था। प्रत्येक वर्ण तथा आश्रम के लिए अलग-अलग विधि-विधान थे। ऐसा कथन है कि वर्णाश्रम-धर्म के पालन से ही भगवान् की आराधना संभव है, अन्यथा नहीं। यज्ञानुष्ठान की बड़ी उपादेयता कही गयी है। शस्त्रधारण के अतिरिक्त क्षत्रिय के लिए यज्ञानुष्ठान भी एक अनिवार्य कर्तव्य माना जाता था। ब्राह्मण-वर्ण ही यजन, अध्ययन और दान के अतिरिक्त याजन का अधिकारी था। वैश्य व्यापार के द्वारा समाज के लिए अर्थ की व्यवस्था करता था और शूद्र शिल्प-कला के द्वारा द्विज की सेवा-सहायता के अतिरिक्त अपने जीवन-निर्वाह के साथ समाज को उन्नत अवस्था में रखता था। चारों वर्ण अपने कर्तव्य पालन से सन्तुष्ट थे। किसी में किसी के साथ कर्तव्य के लिए प्रतिस्पर्धा की भावना नहीं थी। समाज सर्वतोभावेन सुखसम्पन्न था।

चातुर्वर्ण्य-सृष्टि—पराशर मुनि का कथन है कि यज्ञानुष्ठान के लिए प्रजापति ने यज्ञ के उत्तम साधन रूप चातुर्वर्ण्य की रचना की—ब्रह्मा के मुख से प्रथम सत्त्वप्रधान प्रजा उत्पन्न हुई। तदनन्तर वक्षःस्थल से रजःप्रधान तथा ऊरुद्वय से उभयप्रधान अर्थात् रजस्तमोविशिष्ट सृष्टि हुई। अपने दोनों चरणों से ब्रह्मा ने तमःप्रधान सृष्टि की—ये ही क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र नामक चतुर्वर्ण हुए[1]। नारायण की स्तुति के प्रसंग में ध्रुव ने कहा था—"हे पुरुषोत्तम, आपके मुख से ब्रह्मा, बाहु से क्षत्रिय, ऊरुओं से वैश्य

---

१. तु० क० १।६।३-६

और चरण-युगल से शूद्र प्रकट हुए"[२]। अब विचारणीय यह है कि क्षत्रिय की उत्पत्ति के सम्बन्ध में पुराण में दो प्रकार से प्रतिपादन हुआ है। प्रथम प्रतिपादन में ब्रह्मा के वक्षःस्थल से क्षत्रिय की उत्पत्ति प्रतिपादित की गयी है और द्वितीय में बाहु से। ये प्रतिपादन भ्रामक प्रतीत होते हैं। संभव है बाहुओं का मूल उद्गम स्थान वक्षःस्थल को मान कर वक्षःस्थल और बाहुओं में अभिन्नता को लक्षित कर ऐसा प्रतिपादन किया गया हो। भारतीय वाङ्मय के प्राचीनतम साहित्य ऋग्वेद में उपर्युक्त द्वितीय पौराणिक मत से साम्य है। वहाँ भी राजन्य की उत्पत्ति भगवान् के बाहुद्वय से ही निर्दिष्ट की गयी है[३]। अतः द्वितीय प्रतिपादन ही अधिकतर ग्राह्य प्रतीत होता है।

यास्क ने चतुर्वर्णों के अतिरिक्त निषाद नामक एक पञ्चम वर्ण का नामोल्लेख किया है[४]। निषाद के सम्बन्ध में पौराणिक प्रतिपादन यह है कि मुनीश्वरों ने परस्पर में परामर्श कर पुत्रहीन राजा वेन की जंघा का पुत्र के लिए मन्थन किया था। वेन की मथ्यमान जंघा से ठूंठ के समान काला, नाटा और ह्रस्वमुख एक पुरुष उत्पन्न हुआ। उसने आतुरता के साथ ब्राह्मणों से अपना कर्त्तव्य पूछा। उन्होंने 'निषीद' अर्थात् 'बैठ जा' कहा। अतः 'निषीद' शब्द के कारण वह निषाद नाम से प्रसिद्ध हुआ[५]। स्मृति में निषाद की उत्पत्ति ब्राह्मण और शूद्री से बतायी गयी है और ये मत्स्यजीवी जाति से भिन्न पारशव नाम से भी अभिहित होते हैं[६]। वेबर के विचार से निषाद लोग बसाये गये आदिवासी थे[७]।

वर्ण धर्म—चातुर्वर्ण्य की सृष्टि के पश्चात् उनके लिए विहित कर्मों का विधान किया गया। यथा ब्राह्मण का कर्तव्य है कि वह दान, यजन और स्वाध्याय करे तथा वृत्ति के लिए अन्यों से यज्ञ करावे, अन्यों को पढ़ावे और न्यायानुसार प्रतिग्राही बने। क्षत्रिय को उचित है कि वह ब्राह्मणों को यथेच्छ दान दे, विविध यज्ञों का अनुष्ठान करे और अध्ययन करे। शस्त्रधारण और पृथिवी का पालन उसकी उत्तम आजीविका है। लोकपितामह ब्रह्मा ने वैश्य को

---

२. १।१२।६३

३. ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत॥ —१०।९०।१२

४. चत्वारो वर्णा निषादः पंचम इति। —निरुक्त, ३।८।१

५. तु० क० १।१३।३३-३५

६. या० स्मृ० मिताक्षरा, १।४।९१

७. वै० इ० १।५१२-५१३

पशुपालन, वाणिज्य और कृषि—ये तीन कर्म जीविका के रूप से दिये हैं। अध्ययन, यज्ञ और दान आदि उस के लिए भी विहित हैं। शूद्र का कर्तव्य है कि वह द्विजातियों की प्रयोजनसिद्धि के लिए कर्म करे और उसी से अपना पालन-पोषण करे अथवा वस्तुओं के क्रय-विक्रय तथा शिल्प कर्मों से निर्वाह एवं ब्राह्मण की रक्षा करे[८]। वर्ण धर्मों की उपादेयता में कहा गया है कि इनके स्मरणमात्र से मनुष्य अपने पाप-पुंज से मुक्त हो जाता है[९]।

इस से वर्णधर्मों की सर्वोत्कृष्टता का संकेत मिलता है।

द्विज और व्रात्य—एक स्थल पर व्रात्य द्विज का नामोल्लेख हुआ है[१०]। चतुर्वर्णों में प्रथम तीन अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य द्विज की संज्ञा से समाख्यात हैं[११]। द्विज ही उपनयन संस्कार के अधिकारी हैं। ब्राह्मण के लिए विहित उपनयन संस्कार की उत्तम अवधि गर्भाधान से अष्टम वर्ष, क्षत्रिय के लिए एकादश वर्ष और वैश्य के लिए द्वादश वर्ष निर्धारित है[१२]। किन्तु अभाव में चरम अवधि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के लिए क्रमशः सोलह, बाईस और चौबीस वर्ष तक ही मान्य है। इस चरम अवधि तक उपनीत नहीं होने से द्विज धर्माधिकार से च्युत होकर सावित्री दान के योग्य नहीं रह जाते और ऐसे संस्कारहीन द्विजातिगण को धर्मशास्त्र व्रात्य नाम से अभिहित करता है[१३]।

इस से ध्वनित होता है कि भारतीय संस्कृति में विहित अवधि में उपनयन तथा सावित्रीदान के लिए महत्त्वपूर्ण स्थान था। विहित वयःकाल में उपनीत न होने एवं सावित्री ग्रहण न करने वाले व्रात्य द्विज को समाज में हेय माना जाता था।

आश्रम और धर्म—चातुर्वर्ण्य-सृष्टि के अनन्तर स्रष्टा ने ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासी संज्ञक चार आश्रमों का निर्माण किया[१४]

---

८. तु० क० ३।८।२२–३३

९. ६।८।१७

१०. तु० क० ४।२४।६८–९

११. वर्णास्त्वाद्यास्त्रयोद्विजाः। —या० स्मृ० १।२।१०

१२. गर्भाष्टमेऽष्टमेवाब्दे ब्राह्मणस्योपनायनम्।
राज्ञामेकादशे सैके विशामेके यथाकुलम्॥ —वही १।२।१४

१३. तु० क० वही १।२।३७–८

१४. ३।१८।३६

और उपर्युक्त वर्णधर्म के समान आश्रमधर्मों का भी विधान किया[१५] है। वर्णाश्रम-धर्म के महत्त्व-प्रतिपादन में कहा गया है कि जो पुरुष वर्णाश्रम-धर्म का पालन करता है वही परम पुरुष विष्णु का आराधक हो सकता है। उनको सन्तुष्ट करने का अन्य उपाय नहीं[१६]।

ऊपर कहा जा चुका है कि यज्ञानुष्ठान के लिए ही चातुर्वर्ण्य की रचना हुई। इससे ध्वनित होता है कि यज्ञ और चातुर्वर्ण्य में पारस्परिक सम्बन्ध है। यज्ञ के महिमगान में यह कथन है कि यज्ञ से देवगण स्वयं भी तृप्त होते हैं और जल बरसा कर प्रजागण को भी परितृप्त कर देते हैं। अतः यज्ञ सर्वथा कल्याण का हेतु हो जाता है। जो मनुष्य सदा स्वधर्मपरायण, सदाचारी, सज्जन और सुमार्गगामी होते हैं उन्हीं से यज्ञ का यथावत् अनुष्ठान हो सकता है। यज्ञानुष्ठान के द्वारा मनुष्य इस मानव शरीर से ही स्वर्ग और अपवर्ग तथा और भी अन्यान्य इच्छित पद को प्राप्त कर सकते हैं[१७]।

वर्णाश्रम धर्म—श्रौत और स्मार्त भेद से धर्म के दो प्रकार निर्दिष्ट किये गये हैं। अपने पुराण में श्रौत और स्मार्त दोनों धर्मों का विवरण उपलब्ध होता है। श्रौत धर्म मूल रूप से शास्त्रविधि और वेदों से सम्बद्ध है और स्मार्त धर्म वर्णाश्रम के विविध एवं नियमित व्यवस्थाओं और सामाजिक परम्पराओं पर आधारित। यज्ञाराधन तथा वेदाध्ययन आदि कर्मकलाप श्रौत धर्म के अन्तर्गत हैं। ब्राह्मणादि चतुर्वर्ण और ब्रह्मचर्यादि चतुराश्रम के अनुकूल क्रियमाण कार्म स्मार्त धर्म के अन्तर्गत है। इन दोनों प्रकार के धर्मों का सांगोपांग वर्णन इस पुराण में हुआ है[१८]। वर्णाश्रम धर्म की विधेयता में कहा गया है कि जो अपने वर्णाश्रम धर्म के विरुद्ध मन, वचन वा कर्म से कोई आचरण करते हैं वे नरक में गिरते हैं[१९]।

डा० काने का कथन है कि संहिताओं वा ब्राह्मण ग्रन्थों में कहीं भी आश्रम शब्द का उल्लेख नहीं हुआ है किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि वैदिक युग इन चार जीवन सम्बन्धी अवस्थाओं से सर्वथा अपरिचित था। ऐतरेय ब्राह्मण में कदाचित्

---

१५. तु० क० ३।९।१-३३
१६. तु० क० ३।८।९
१७. तु० क० १।६।८-१०
१८. तु० क० १।४।३४, ३।४-१६ और ४।२४।९८
१९. वर्णाश्रमविरुद्धं च कर्म कुर्वन्ति ये नराः।
कर्मणा मनसा वाचा निरयेषु पतन्ति ते ॥ २।६।३०

आश्रमचतुष्टय का अस्पष्ट प्रसंग आया है। छान्दोग्य उपनिषद् (२।२३।१) में अधिक स्पष्ट रूप से तीन आश्रमों की चर्चा हुई है। छान्दोग्य उपनिषद में आश्रम शब्द को धर्म के साथ सम्बन्धित किया गया है, यद्यपि वर्ण शब्द के साथ इसका निश्चित रूप से सम्बन्ध प्रदर्शित नहीं किया गया है। किन्तु जातक युग आश्रमचतुष्टय से परिचित प्रतीत होता है[२०]। कौटिल्य ने स्पष्ट रूप में वर्ण, आश्रम और धर्म का उल्लेख किया है[२१]। अतएव अब इतना तो अवश्य ही स्पष्टीकरण हो जाता है कि कौटिल्य-काल की जनता वर्णाश्रम धर्म की व्यवस्था से अवश्य परिचित थी। इस आधार पर अब हम सुरक्षित रूप से वर्णाश्रम धर्म के सामाजिक सिद्धान्त की प्राचीनता को स्थिर कर सकते हैं।

वर्णाश्रम और वार्ता—शीतोष्णादि से सुरक्षा के उपाय के हो चुकने पर प्रजाओं ने कृषि तथा कला-कौशल आदि की रचना जीविका के साधन रूप से की[२२] थी। वार्ता के कृषि आदि साधनों के निश्चित हो जाने के पश्चात् प्रजापति ने प्रजाओं की रचना कर उनके स्थान और गुणों के अनुसार मर्यादा, वर्ण और धर्म तथा स्वधर्मपालक समस्त वर्णों के लोक आदि की स्थापना की[२३]। पुराण में आन्वीक्षिकी (तर्कशास्त्र), त्रयी (कर्मकाण्ड) और दण्डनीति—इन विद्याओं के अतिरिक्त चतुर्थी विद्या के रूप में वार्ता को विवृत किया गया है। वार्तानामक यह विद्या कृषि, वाणिज्य और पशुपालनरूप वृत्तियों की आश्रयभूता मानी गयी है। इन में कृषि कृषाणों के लिए, वाणिज्य व्यापारियों के लिए और गोपालन गोपजातियों के लिए निर्धारित हैं[२४]। पौराणिक प्रतिपादन है कि कलि के आने पर चारों वर्ण अपनी वार्ता को छोड़ देने के कारण अत्यन्त कष्टमय जीवन यापन करेंगे[२५]।

वैदिक साहित्य में कहीं भी इन पारिभाषिक "वार्ता" शब्द का उल्लेख नहीं मिलता। इसका प्राचीनतम प्रसंग कौटिल्य के अर्थशास्त्र में आया है और वहाँ विद्या की एक शाखा के रूप में "वार्ता" का प्रयोग हुआ है। कौटिल्य के

---

२०. क० हि० वा० १२२।

२१. चतुर्णां वर्णानामाश्रमाणां च स्वधर्मस्थापनादौपचारिकः।
चतुर्वर्णाश्रमो लोको राज्ञा दण्डेन पालितः ॥
—अर्थशास्त्र, अधि० १।३-४

२२. प्रतीकारमिमं कृत्वा शीतादेस्ताः प्रजाः पुनः।
वार्तोपायं ततश्चक्रुर्हस्तसिद्धिं च कर्मजाम् ॥ —१।६।२०

२३. तु० क० १।६।३२-३३

२४. वही ५।१०।२७-२९

२५. तु० क० ६।१।३४-३८

अनुसार धर्म, वर्ण और आश्रम का प्रसंग "वार्ता" के अन्तर्गत आता है जो त्रयी अथवा वेद के नाम से अभिहित होता है। कृषि, पशुपालन और वाणिज्य आदि वार्ता के अन्तर्गत ही है[२६]। स्मृति में भी वार्ता का उल्लेख हुआ है और वहाँ भी यह चतुर्धा विद्याओं में से एकतम मानी गयी है। वार्ता की गणना वैश्यसम्बन्धी व्यापार के अन्तर्गत की गयी है[२७]।

(१) ब्राह्मण

ब्राह्मण की श्रेष्ठता—पुराण के स्थल-स्थल पर ब्राह्मण की तेजस्विता और श्रेष्ठता के बहुधा प्रतिपादन हुए हैं। कतिपय प्रसंगों को उपस्थित करना प्रयोजनीय प्रतीत होता है। एक स्थल पर ब्रह्मर्षि दुर्वासा ने देवराज इन्द्र से कहा था—"तूने मेरी दी हुई माला को पृथ्वी पर फेंक दिया है अतः तेरा समस्त त्रिभुवन शीघ्र ही श्रीहीन हो जायगा" यह कह कर विप्रवर वहां से चले गये और तभी से इन्द्र के सहित त्रिभुवन श्रीहीन और नष्ट-भ्रष्ट हो गया[२८]। द्वितीय प्रसंग पर कहा गया है कि जो पुरुष ब्राह्मण की सेवा करता है उस (सेवा) से साक्षात् भगवान् की तुष्टि होती है[२९]। एक अन्यतम प्रसंग पर जराजीर्ण ब्रह्मर्षि सौभरि ने चक्रवर्ती राजा मान्धाता से अपने लिए उनकी पचास तरुणी कन्याओं में से एक की याचना की थी। तब उन विप्र के शाप के भय से राजा कातर हो उठे थे[३०]।

ब्राह्मण की तेजस्विता और श्रेष्ठता का प्रमाण ऋग्वेद के युग में भी दृष्टिगत होता है। ब्राह्मणों का आदर-सत्कार करने वाली औपचारिकताओं के सम्बन्ध में वैदिक ग्रन्थों में प्रचुर सन्दर्भ हैं। शतपथ ब्राह्मण में ब्राह्मणों को "भगवन्त" कहा गया है और ऐसा विधान है कि ये जहाँ भी जायें इनका उत्तम भोजन और मनोरंजन से सत्कार करना चाहिये। पंचविंशब्राह्मण के अनुसार इनकी जातिगत पवित्रता ही इनके वास्तविक ब्राह्मणत्व के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार की शंका से इन्हें मुक्त कर देती है[३१]। यद्यपि बौद्ध भिक्षुओं ने ब्राह्मण की श्रेष्ठता को स्वीकार नहीं किया है तथापि जातक ग्रन्थों में इनकी श्रेष्ठता के अधिकार का

---

२६. क० हिं० वा० १२४

२७. म० स्मृ० ७।४३ और १०।८०

२८. तु० क० १।९।१६ और २५—२६

२९. देवद्विजगुरूणां च शुश्रूषासु सदोद्यतः।
तोष्यते तेन गोविन्दः पुरुषेण नरेश्वर॥ — ३।८।१६

३०. तु० क० ४।२।८०—८२

३१. वै० इ० २।९०

प्रसंग तो आया ही है[३२]। ब्राह्मणों की पवित्रता और श्रेष्ठता के प्रतिपादक धर्मशास्त्रों में इन्हें देवताओं से भी उच्चतर स्थान दिया गया है। धर्मशास्त्रीय घोषणा है कि ब्राह्मण अशिक्षित हों वा शिक्षित, पर वे महान् देवता ही हैं[३३]।

ऋषि—अपने पुराण में ऋषि के तीन वर्ग निर्धारित हुए हैं। यथा—प्रथम ब्रह्मर्षि, द्वितीय देवर्षि और तृतीय राजर्षि[३४]। किन्तु ऋषि का शाब्दिक विवेचन तथा गुणविशिष्टता का कोई वर्णन उपलब्ध नहीं। तुदादिगण के गत्यर्थक 'ऋषी' धातु से ऋषि शब्द की सिद्धि होती है और तदनुसार इसका अर्थ होता है—संसार का पारगामी। वायुपुराण के अनुसार 'ऋष्' धातु गमन (ज्ञान), सत्य और तपस्—इन तीन अर्थों का प्रकाशक है। जिसके भीतर ये गुण एक साथ निश्चित रूप से हों उसी को ब्रह्मा ने "ऋषि" माना है। गत्यर्थक 'ऋषी' धातु से ही 'ऋषि' शब्द निष्पन्न हुआ है और आदिकाल में ऋषिवर्ग स्वयं उत्पन्न होता था, इस लिए इसकी 'ऋषि' की संज्ञा है[३५]।

अमरसिंह ने ऋषि का पर्याय 'सत्यवचस्' कहा है[३६]। पतंजलि का कथन है कि जिस व्यक्ति की सत्य में प्रतिष्ठा हो गयी है वह शापानुग्रह में समर्थ हो जाता है—उसके मुख से निकले समस्त वचन यथार्थता में परिणत होते हैं[३७]।

महर्षि—प्रजापति की प्रजाएं जब पुत्र-पौत्रादि के क्रम से आगे नहीं बढ़ सकीं तब उन्होंने अपने ही सदृश भृगु, पुलस्त्य, पुलक, क्रतु, अंगिरस्, मरीचि, दक्ष, अत्रि और वसिष्ठ—इन नौ मानस पुत्रों की सृष्टि की। अन्य स्थल पर इन नौ ऋषियों में दक्ष के स्थान में भव का नाम है[३८]। संभवतः ये ही महर्षि के नाम से प्रसिद्ध हैं, यद्यपि पुराण में स्पष्टीकरण नहीं हुआ है।

---

३२. क० हि० वा० १२५

३३. अविद्वांश्चैव विद्वांश्च ब्राह्मणो दैवतं महत्। —म० स्मृ० ९।३१७

३४. ३।६।३०

३५. ऋषीत्येष गतौ धातुः श्रुतौ सत्ये तपस्यथ।
एतत्सन्नियतं यस्मिम् ब्रह्मणा स ऋषिः स्मृतः॥
गत्यर्थादृषतेर्धातोर्नामनिर्वृत्तिरादितः।
यस्मादेष स्वयं भूतस्तस्माच्च ऋषिता स्मृता॥ —५९।७९, ८१

३६. अ० को० २।७।४३

३७. सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्। —पा० यो० २।३६

३८. तु० क० १।७।४-५ और २६-२७

वायुपुराण में उपर्युक्त नौ के अतिरिक्त मनु को समाविष्ट कर ब्रह्मा के दस मानस पुत्रों का वर्णन है[३९]। यह वर्णन समीचीनतर भी लगता है, क्योंकि आगे जाकर विष्णुपुराण में भी कहा गया है कि तदनन्तर अपने से उत्पन्न अपने ही स्वरूप स्वायम्भुव को ब्रह्मा ने प्रजापालन के लिए प्रथम मनु बनाया[४०]। वायुपुराण में ब्रह्मा के मानस पुत्र ही महर्षि के नाम से अभिहित हुए[४१] हैं। कृष्ण ने अपने को महर्षियों में भृगु निर्दिष्ट कर महर्षियों के विश्लेषण को स्पष्ट कर दिया है[४२]।

सप्तर्षि—उपर्युक्त दस मानस पुत्रों में मरीचि, अत्रि, अंगिरस्, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वसिष्ठ—ये सात सप्तर्षि के रूप में अवतीर्ण हुए हैं[४३]। महाभारत में भी इन्हीं सात मानस पुत्रों को सप्तर्षि माना गया है। ये वेदज्ञाता, प्रवृत्तिमार्ग के संचालक और प्रजापति के कर्म में नियुक्त किये गये हैं[४४]। पौराणिक मत से प्रत्येक मन्वन्तर में भिन्न-भिन्न सप्तर्षि होते हैं। जिन सप्तर्षियों का यहाँ उल्लेख हुआ है उन्हें भगवान् ने महर्षि घोषित किया है और उन्हें संकल्प से उत्पन्न बतलाया है। अतएव यहाँ उन्हीं को लक्षित किया गया है, जो ऋषियों की अपेक्षा उच्चतर स्तर के हैं। एक अन्य स्थल पर कहा गया है कि वर्तमान वैवस्वत मन्वन्तर में वसिष्ठ, काश्यप, अत्रि, जमदग्नि, गौतम, विश्वामित्र और भरद्वाज—ये सप्तर्षि हैं[४५]। किन्तु इन सप्तर्षियों में समस्त को महर्षि मानना उचित है यह कहना कठिन है, क्योंकि इन सप्तर्षियों में वसिष्ठ और अत्रि के अतिरिक्त अन्य पाँच भगवान् प्रजापति के मानस पुत्र के रूप में विवृत नहीं हुए हैं। अन्य प्रसंग में वसिष्ठ की ऊर्जा नामक स्त्री से उत्पन्न रज, गोत्र, ऊर्ध्वबाहु, सवन, अनघ, सुता और शुक्र—इन सात पुत्रों को भी सप्तर्षि माना गया है[४६]। इस प्रकार भिन्न-भिन्न मन्वन्तरों में भिन्न-भिन्न सप्तर्षियों का उल्लेख मिलता है।

---

३९. तु० क० ५९।८९-९०

४०. ततो ब्रह्मात्मसंभूतं पूर्वं स्वायम्भुवं प्रभुः।
आत्मानमेव कृतवान् प्रजापाल्ये मनुं द्विज॥ —१।७।१६

४१. —७।७२-७५

४२. महर्षीणां भृगुरहम् —गीता० १०।२५।

४३. तु० क० १।११।३१ और ४३-४९

४४. शान्ति० ३४०।६९-७०

४५. तु० क० ३।१।३२

४६. तु० क० १।१०।१३-१४

वैदिक साहित्य में भी 'सप्तर्षि' शब्द 'सप्तर्षितारकपुंज' के द्योतक के रूप में दृष्टिगत होता है। सात ऋक्षों के स्थान पर यह कदाचित् एक परवर्ती प्रयोग है जो बहुधा सात ऋषियों के उल्लेख के लिए किया गया है[४७]।

ब्रह्मर्षि—पुराण में ऋषियों के विधेय कर्मों के सम्बन्ध में विशिष्ट रूप से कोई प्रतिपादन नहीं हुआ है। ज्ञात होता है कि प्रजापति ब्रह्मा के मानस पुत्र होने के कारण उपरिवर्णित महर्षि ही ब्रह्मर्षि शब्द से विशेषित होते थे। पुराण में ब्रह्मा के मानस पुत्रों के अतिरिक्त कतिपय अन्य ब्रह्मर्षियों के चरित्रों का प्रासंगिक उल्लेख हुआ है। प्रसंग से यह भी अवगत होता है कि ब्रह्मर्षि वेदज्ञाता, ब्रह्मज्ञानी और तपोमूर्ति तथा अलौकिक शक्तिसम्पन्न होते थे। वे अपने तपोबल से असंभव को संभव कर सकते थे। इस पुराण के वक्ता स्वयं पराशर ब्रह्मर्षि हैं[४८]। दुर्वासा शंकर के अवतार के रूप में विवृत हुए हैं[४९]। दुर्वासा ने अपने को असाधारण ब्राह्मण बतलाकर इन्द्र को भर्त्सना के साथ शाप दिया था और तुरन्त इन्द्र के सहित त्रिभुवन वृक्ष और लता आदि के क्षीण हो जाने से श्रीहीन तथा नष्ट-भ्रष्ट हो गये[५०] थे वेदवेत्ताओं में श्रेष्ठ कण्डु नामक एक घोर तपस्वी की चर्चा है। वे प्रम्लोचा नामक एक अत्यन्त सुन्दरी अप्सरा को धिक्कारते हुए कह रहे हैं कि तेरे संगम से मेरा तप, जो मेरे सदृश ब्रह्मज्ञानियों का धन है, नष्ट हो गया[५१]। समस्त वेदों के पारंगामी सौभरि नामक महर्षि ने द्वादश वर्ष पर्यन्त जल के अभ्यन्तर तपश्चरण के साथ निवास किया था। अन्तःपुर के रक्षक ने उन्हें अपने साथ ले जाकर मान्धाता की कन्याओं से कहा कि तुम्हारे पिता की आज्ञा है कि यह ब्रह्मर्षि मेरे पास एक कन्या के लिए आये हुए हैं[५२]। पुराण में विश्वामित्र को महामुनि शब्द से विशेषित किया गया है[५३] किन्तु वाल्मीकि रामायण में इन्हें ब्रह्मर्षित्वप्रदान का विवरण है[५४]। कहीं कहीं पुराण में परमर्षि और विप्रर्षि

---

४७. वै० इ० १।१३२
४८. ५।१।२
४९. १।९।२
५०. पा० टी० २८
५१. तु० क० १।१५।११ और ३६
५२. तु० क० ४।२।६९ और ८९-९०
५३. ५।३७।६
५४ तु० क० १।६५।१७-१८ और २७

शब्दों का प्रयोग हुआ है[५५], किन्तु यह कहना कठिन है कि ये दोनों शब्द ब्रह्मर्षि के ही पर्यायी हैं अथवा अन्य ऋषिवर्ग के। विवेचन से ज्ञात होता है कि ये दोनों शब्द ब्रह्मर्षि के ही पर्यायी हैं, क्योंकि इन दोनों विशेषणों से ब्रह्मर्षि कण्डु ही विशेषित किये गये हैं। ब्रह्मर्षि का स्थान देवर्षि और राजर्षि की अपेक्षा उच्चतर है, क्योंकि इनका चरम लक्ष्य ब्रह्मलोक है[५६]।

देवर्षि—यह पहले कहा जा चुका है कि देवर्षि का स्थान ब्रह्मर्षि की अपेक्षा निम्नतर और राजर्षि की अपेक्षा उच्चतर है। देवर्षि का चरम लक्ष्य देवलोक है[५७]। इसी कारण देवर्षि की संज्ञा से इनकी प्रसिद्धि है। एक स्थल पर इतना ही उल्लेख मिलता है कि देवर्षियों ने इन (जह्नु) को प्रसन्न किया[५८], किन्तु कितने, कैसे और कौन कौन देवर्षि हैं इस विषय का विशिष्टरूप से अपने पुराण में स्पष्टीकरण नहीं है। वायुपुराण में धर्म के पुत्र नर और नारायण, क्रतु के पुत्र बालखिल्य ऋषि, पुलह के पुत्र कर्दम, पर्वत और नारद तथा कश्यप के दोनों ब्रह्मवादी पुत्र असित और वत्सल—ये देवर्षि माने गये हैं[५९]। विष्णुपुराण में नर और नारायण[६०], पुलह के पुत्र कर्दभ, उर्वरीयान् और सहिष्णु, क्रतु के साठ सहस्र पुत्र बालखिल्य[६१] आदि और नारद आदि के नाम मात्र का उल्लेख हुआ है किन्तु इन्हे देवर्षि शब्द से विशेषित नहीं किया गया है। विष्णुपुराण के पुलह के पुत्र उर्वरीयान् और सहिष्णु के स्थान में वायु पुराण पर्वत और नारद का नाभनिर्देश करता है। इनमें कौन-सा पक्ष समीचीनतर है यह कहना कठिन है।

राजर्षि—ब्रह्मर्षि और देवर्षि दोनों की अपेक्षा राजर्षि का स्थान निम्नतर स्तर का है। इनके राजर्षि नाम से अभिहित होने का संभवतः एक यह कारण

---

५५. तु० क० १।१५।२३ और ४४

५६. वा० पु० ६१।८०-९०

५७. वही

५८. तु० क० ४।७।५

५९. देवर्षी धर्मपुत्रौ तु नरनारायणावुभौ।
बालखिल्याः क्रतोः पुत्राः कर्दमः पुलहस्य तु॥
पर्वतो नारदश्चैव कश्यपस्यात्मजावुभौ।
ऋषन्ति देवान् यस्मात्ते तस्माद्देवर्षयः स्मृताः॥
तु० क० गीता-तत्त्वविवेचनी टीका १०।१३

६०. तु० क० ५।३७।३४

६१. तु० क० १।१०।१०-११

था कि वे प्रजावर्ग का रंजन करते हुए सर्वथा सत्यवादी और धर्मात्मा होते थे। इस प्रसंग में अपने पुराण के अंशाध्यायानुक्रम से कतिपय राजर्षियों का नामोल्लेख प्रयोजनीय प्रतीत होता है। यथा :—

(१) गय २।१।३८
(२) शशाद ४।२।२६
(३) ऋतुपर्ण ४।४।३७
(४) जनक ४।४।९३
(५) जह्नु ४।७।३-५
(६) ययाति ४।१०।१-३२
(७) क्रोष्टु ४।११।५
(८) कार्तवीर्य अर्जुन ४।११।११-१८
(९) अंग ४।१८।१३
(१०) बृहदश्व ४।१९।६१
(११) दिवोदास ४।१९।६२
(१२) जनमेजय ४।२०।११
(१३) शान्तनु ४।२०।११
(१४) क्षेमक ४।२१।१७-१८

इनके अतिरिक्त पुराण के चतुर्थ अंश के उन्नीसवें अध्याय में कतिपय क्षत्रोपेत द्विजों का प्रसंग भी मिलता है, जिन्होंने क्षत्रिय पिता से उत्पन्न होकर अपने आचरण से द्विजत्व प्राप्त कर लिया था। यथा : मेधातिथि से उत्पन्न काण्वायन, शिनि से गार्ग्य और शैन्य, दुरुक्षय से उत्पन्न त्रय्यारुणि, पुष्करिण्य और कपि तथा मुद्गल से उत्पन्न मौद्गल्य आदि।

विष्णुपुराण में साधारण रूप से वर्णित उपर्युक्त १-१४ संख्यक राजा वायु-पुराण में राजर्षि शब्द से विशेषित हुए हैं। अपने पुराण के चतुर्थ अंश में वर्णित मरुत्त (१।३१-३२), मान्धाता (२।६३-६५) और सगर (४।१६) आदि राजा अपने धर्म और कर्माचरण से राजर्षि हैं, किन्तु वायुपुराण के राजर्षि वर्ग में इनके नाम अंकित नहीं मिलते।

वैदिक साहित्य में ब्रह्मर्षि, देवर्षि और राजर्षि इस प्रकार ऋषिवर्ग का क्रमिक विभाजन दृष्टिगोचर नहीं होता। पंचविंश ब्राह्मण (१२।१२।६) में राजन्यर्षि शब्द का प्रयोग मिलता है। मनुस्मृति (२।१९) के अनुसार मध्य भारत को ब्रह्मर्षिभूमि माना गया है। गीता (१०।२६) के अनुसार नारद देवर्षियों में प्रधान माने गये हैं[६२]।

मुनि और यति—अनेक स्थलों पर मुनि और महामुनि शब्दों का प्रयोग मिलता है। अमरसिंह ने मुनि का पर्याय वाचंयम बतलाया है[६३]। वाचंयम का शब्दार्थ वचनसंयमी अथवा मितभाषी होता है, किन्तु पुराण में ऋषि और मुनि के लक्षण में विशिष्ट अन्तर प्रदर्शित नहीं हुआ है। भृगु, भव, मरीचि, अंगिरस्, पुलस्त्य, पुलह, ऋतु, अत्रि और वसिष्ठ—इन नौ महात्माओं

---

६२. क० हि० वा० १२६
६३. अ० को० २।७।४२

को ऋषि और मुनि दोनों शब्दों से विशेषित किया गया है[६४]। इसी प्रकार विश्वामित्र, कण्व और नारद महर्षि और महामुनि दोनों विशेषणों से विशेषित हुए हैं[६५]। किसी-किसी स्थल पर योगी के अर्थ में "यति" का प्रयोग हुआ है[६६]। अमरसिंह ने यति का अर्थ का लक्षण सम्पूर्ण रूप से इन्द्रियविजयी बतलाया है[६७]।

ऋग्वेद में मुनियों की शक्ति और आचरण का वर्णन मिलता है जिस के अनुसार हम उन्हें परिव्राजक तथा योगी कह सकते हैं। वेद के एक स्थल पर इन्द्र को मुनियों का मित्र माना गया है। बौद्ध वाङ्मय में मुनि का चरित्र-चित्रण पाया जाता है और वहाँ वह एक आदर्श और श्रेष्ठ पुरुष के रूप में दर्शन देते हैं। जातक साहित्य से गृहविहीन यति-मुनियों को समण के नाम से अभिहित किया गया है और वे प्रायः मुनि ही हैं[६८]। बुद्ध भी मुनि के रूप में माने जा सकते हैं, क्यों कि इनके अठारह नामों में एक मुनि भी है[६९]। वैदिक साहित्य में यति शब्द का उल्लेख है और वहां यति को भृगुओं के साथ सम्बद्ध किया गया है। यजुर्वेद संहिताओं में और अन्यत्र भी यतिगण एक ऐसी जाति के लोग हैं जिन्हें इन्द्र ने एक अशुभ मुहूर्त में लकड़बग्घों को दिया था, यहां ठीक ठीक तात्पर्य क्या है यह अनिश्चित है[७०]।

ब्राह्मण और कर्मकाण्ड—पौराणिक समाज में पुरोहित की बड़ी उपयोगिता थी। बुद्धिमान् राजा किसी भी अवस्था में अपने पुरोहित का त्याग नहीं करते थे और पुरोहित भी अपनी तेजस्विता से निरन्तर अपने यजमान के हितसाधन में संलग्न रहतें थे। इन्द्र ने अपने पुरोहित के द्वारा तेजोवृद्ध होकर स्वर्ग पर अपना अधिकार स्थापित किया था[७१]। राजा खाण्डिक्य राज्यभ्रष्ट होने पर थोड़ी सी सामग्री लेकर पुरोहित के सहित दुर्गम वन में चले गये थे[७२]। ब्रह्मा के द्वारा निर्देशित तीन विशिष्ट कर्मों में याजक के पद पर कार्य करना भी ब्राह्मण का एक मुख्य कर्म है।

---

६४. तु० क० १।७।२६–२७
६५. तु० क० ५।३७।६
६६. ४।२।१२४
६७. ये निर्जितेन्द्रियग्रामा यतिनो यतयश्च ते —अ० को० २।७।४४
६८. क० हि० वा० १२६–१२७
६९. अ० को० १।१।१४
७०. वै० इ० २।२०५
७१. पुरोहिताप्यायिततेजाश्च शक्रो दिवमाक्रमत् —४।९।२२
७२. तु० क० ६।६।११

ऋग्वेद के युग से ही ब्राह्मण का दर्शन पुरोहित के रूप में मिलता है किन्तु यह कथन सन्देहात्मक होगा कि वैदिक युगों में पौरोहित्य के अधिकारी केवल ब्राह्मण ही थे अथवा इसका अपवाद भी था, क्योंकि वैदिक विवरणानुसार शान्तनु का पुरोहित देवापि था और निरुक्त के अनुसार इतना तो हमे मानना ही होगा कि वैदिक युगों में क्षत्रिय भी पुरोहित के पद पर कार्य कर सकता था[७३]।

पुराण में ऐसे अनुष्ठित अनेक यज्ञों के उदाहरण हैं। उनमें कतिपय यज्ञानुष्ठानों का दर्शन करना आवश्यक प्रतीत होता है। इन्द्र ने पंचशतवार्षिक यज्ञ का अनुष्ठान किया था, जिसमें वसिष्ठ ने ऋत्विज् के पद पर कार्य किया[७४]। इक्ष्वाकुपुत्र निमि के सहस्रवार्षिक यज्ञ में गौतक आदि ऋषियों ने होता का कार्य किया था[७५]। अपने पुराणवक्ता पराशर ऋषि ने रक्षोघ्न यज्ञ अनुष्ठित किया था[७६]। राजा पृथु ने 'पैतामह' नामक यज्ञानुष्ठान किया था[७७]। महात्मा ऋषभदेव और उनके पुत्र भरतने विविध यज्ञों का अनुष्ठान किया गया था[७८]। मनु ने पुत्र की कामना से मित्रावरुण यज्ञों का अनुष्ठान किया था, किन्तु होता के विपरीत संकल्प के कारण यज्ञीय विपर्यय से पुत्र न होकर इला नाम की कन्या उत्पन्न हुई। कथन है कि मरुत्त के अनुष्ठित यज्ञ के समान इस पृथिवी पर किसी का (यज्ञ) नहीं हुआ। उसकी सभी याज्ञिक वस्तुएँ स्वर्णमय और अत्यन्त सुन्दर थीं। उस यज्ञ में इन्द्र सोमरस से और ब्राह्मणगण दक्षिणा से परितृप्त हो गये थे। मरुद्गण परिवेषक और देवगण सदस्य थे। कृशाश्व के पुत्र सोमदत्त ने सौ अश्वमेध यज्ञ किये थे[७९]। राजा सगर के अनुष्ठित अश्वमेध यज्ञ का वर्णन है। सौदास के अनुष्ठीयमान यज्ञ में महर्षि वसिष्ठ ने आचार्य के पद पर कार्य किया था। विश्वामित्र के अनुष्ठीयमान यज्ञ के रक्षक राम[८०] थे। राजा सीरध्वज ने पुत्र की कामना से एक यज्ञ सम्पादन किया था। यज्ञीय भूमि को

---

७३. हि० ध० २।१०९
७४. तु० क० ४।५।५
७५. वही ४।५।१ और ६
७६. वही १।१।१४
७७. वही १।१३।५१–५२
७८. वही २।१।२८ और ३३
७९. तु० क० ४।१।८-९, ३२–३३ और ५६
८०. तु० क० ४।४।१६, ४५–४६ और ८८

जोतने के समय हल के अग्रभाग से सीता नाम की एक कन्या उत्पन्न हुई थी[८१]। सोम ने राजसूय यज्ञ का अनुष्ठान किया था। राजा पुरूरवा ने उर्वशी के सहवास रूप फल की इच्छा से नाना प्रकार के यज्ञों का अनुष्ठान कर गान्धर्व लोक प्राप्त किया था और फिर उसका उर्वशी से कभी वियोग नहीं हुआ[८२]। राजा जह्नु ने अपनी यज्ञशाला को गंगाजल से आप्लावित देख सम्पूर्ण गंगा को पी डाला[८३]। कार्तवीर्य अर्जुन ने दश सहस्र यज्ञों का अनुष्ठान किया था। उसके विषय में यह उक्ति है कि यज्ञ, दान, तप, विनय और विद्या में कार्तवीर्य सहस्रार्जुन की समता कोई भी राजा नहीं कर सकता[८४]। उशना के द्वारा अनुष्ठित सौ अश्वमेध यज्ञों का विवरण प्राप्त होता है[८५]। अक्रूर के सुवर्ण के द्वारा अनवरत यज्ञानुष्ठान की विवृति मिलती है[८६]।

यज्ञीय महिमा के वर्णन में कहा गया है कि ब्रह्मा ने यज्ञानुष्ठान के लिए ही यज्ञ के उत्तम साधन रूप चातुर्वर्ण की रचना की थी, क्योंकि यज्ञ से तृप्त होकर देवगण जल बरसा कर प्रजावर्ग को तृप्त करते हैं। अतः यज्ञ सर्वथा कल्याण के हेतु हैं[८७]। ऋषियों का कथन है कि जिन राजाओं के राज्य में यज्ञेश्वर भगवान् हरि का पूजन यज्ञों के द्वारा किया जाता है, वे (हरि) उनके समस्त मनोरथों को पूर्ण कर देते हैं[८८]। एक स्थल पर सम्बोधित कर कहा गया है—"हे अच्युत, समस्त यज्ञों से आप ही का भजन किया जाता है। हे परमेश्वर, आप ही यज्ञ कर्ताओं के याजक और यज्ञ स्वरूप हैं"[८९]।

यज्ञ की उपयोगिता एवं प्रयोजनीयता के होने पर भी पुराण में इसके खण्डन के भी प्रमाणों का अभाव नहीं है। राजा वेन ने अपने राज्य में यज्ञानुष्ठान के विरुद्ध घोषणा कर दी थी और तदनुसार उसके राज्य में दान, यज्ञ, हवन आदि विहित सत्कर्मों का अनुष्ठान कोई नहीं कर सकता था।

---

८१. ४।५।२८
८२. तु० क० ४।६।८ और ९३
८३. ४।७।४
८४. तु० क० ४।११।१४-१६
८५. ४।१२।८
८६. ४।१३।१०८
८७. पा० टी० १७
८८. १।१३।१९
८९. ५।२०।९७

ऋषियों ने राजा वेन के साथ घोर विरोध किया था, जिस में ऋषिगण सफल हुए और उस नास्तिक राजा के आसन पर राजगुण सम्पन्न पृथु को अभिषिक्त किया गया था।[९०] राजा पुरूरवा ने भी राजा वेन के ही पथ का अनुसरण किया था और उस को भी वही गति मिली जो वेन को मिली थी[९१]।

जातक ग्रन्थों में यज्ञोत्सवों में आमंत्रित ब्राह्मणों को लोभी, वंचक और चोर आदि कुत्सित शब्दों से विशेषित कर उनकी घोर निन्दा की गई है और धार्मिक कृत्यों में कार्यकर्ता पुरोहितों के प्रति जनता की अवांछनीय धारणा का भी उल्लेख किया गया है[९२]। तदनन्तर ही इसके परवर्ती एवं समकालीन अन्तिम उपनिषद् के युग में भक्ति-भावना का बीजवपन हो चुका था, जिसके कारण जनता ने यज्ञीय पशुहिंसा के विरोध में घोर आन्दोलन किया[९३]। किन्तु इससे यह अनुमान करना यथार्थ नहीं होगा कि उसी समय से यज्ञानुष्ठान सर्वथा अवरुद्ध हो गया था। शिलालेख के साक्ष्य से हम कह सकते हैं कि खीष्ट से कुछ शताब्दी पूर्व तक कतिपय राजाओं ने यज्ञानुष्ठान किये थे। समुद्रगुप्त के शिलालेख में अंकित विवरणों की ऐतिहासिकता पर यदि हम विश्वास करें तो कह सकते हैं कि यज्ञावरोध की एक लम्बी अवधि के पश्चात् भी उसने एक अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान किया था[९४] और तब हमें स्वीकार करना होगा कि समुद्रगुप्त के पूर्व खीष्टयुगीय राजाओं में यज्ञानुष्ठान का यदाकदाचित् ही प्रचलन था या सर्वथा अवरुद्ध ही हो गया था।

इस से संकेतित होता है कि अन्तिम यज्ञानुष्ठाता समुद्रगुप्त ही था और उसके पूर्व खीष्ट काल में साधारणतः यह प्रायः अवरुद्ध ही हो चुका था।

ब्राह्मण और प्रतिग्रह

प्रतिग्रह भी ब्राह्मण के तीन विशिष्ट कर्मों में से एकतम है। पुराण में ब्राह्मण के लिए दान और भोजन का बड़ा महत्त्व प्रदर्शित हुआ है। हार्दिक कामना प्रकट करते हुए मृत पितृगण का कथन है कि हमारे कुल मे क्या कोई ऐसा मतिमान् धन्य पुरुष उत्पन्न होगा जो वित्तलोलुपता को त्याग कर हमारे लिए पिण्डदान करेगा और सम्पत्ति होने पर हमारे उद्देश्य से ब्राह्मणों को रत्न, वस्त्र, यान और सम्पूर्ण भोगसामग्री तथा धन देगा अथवा केवल अन्न

---

९०. तु० क० १।१३

९१. म० भा० आदि० ७५।२०-२२

९२. सो० आ० इ० १९७।८

९३. भण्डारकर, वै० शै० १०६ से

९४. फ्लीट : गुप्त इन्सक्रिप्सन, २८

वस्त्रमात्र वैभव होने पर जो श्राद्धकाल में भक्तिविनम्र चित्त से उत्तम ब्राह्मणों को यथाशक्ति अन्न ही का भोजन करायेगा।[९५] एक अन्य स्थल पर विधि विधान के विषय में कहा गया है कि अशौच के अन्त में इच्छानुसार अयुग्म अर्थात् तीन, पाँच, सात, नौ आदि के क्रम से ब्राह्मणों को भोजन करावे तथा ब्राह्मणोच्छिष्ट अन्न के निकट प्रेतात्मा की तृप्ति के लिए कुशों पर पिण्डदान करे।[९६] श्राद्ध में आमंत्र्यमाण ब्राह्मणों की गुणविशिष्टता और उनके साथ विधेय व्यवहार का वर्णन है। यह भी विधान है कि उस समय यदि कोई भूखा पथिक अतिथिरूप से आ जाय तो निमंत्रित ब्राह्मणों की आज्ञा से उसे भी यथेच्छ भोजन करावे, क्योंकि अनेक अज्ञातस्वरूप योगिगण मनुष्यों के कल्याण की कामना से नाना रूप धारण कर पृथिवी तल पर विचरते रहते हैं। पुराण में ब्राह्मण भोजन की अपेक्षा योगिभोजन अधिक उपादेय माना गया है। इस पक्ष में कथन है कि श्राद्धभोजी एक सहस्र ब्राह्मणों के संमुख एक भी योगी हो तो वह यजमान के सहित उन सबका उद्धार कर देता है।[९७] ब्राह्मणदक्षिणा की प्रशंसा में कहा गया है कि राजा मरुत्त के यज्ञ में ब्राह्मणगण दक्षिणा से परितृप्त हो गये थे।[९८]

ऋग्वेद के युग से ही ब्राह्मण की प्रतिग्रहशीलता और इसी प्रकार तदितर वर्णों की दानशीलता के अधिकार का परिचय उपलब्ध होता है। ऋग्वेद में दानस्तुति नामक एक प्रकरण है, जिसमें दान की महिमा चरम सीमा पर पहुँच गई है और ब्राह्मण ग्रन्थों में इस अतिशयिता का रूप और अधिक विकसित हो गया है। शतपथ ब्राह्मण के मत से यज्ञाहुति या यज्ञबलि का भोग देवताओं को प्राप्त होता है और यज्ञीय दक्षिणा विद्वान् ब्राह्मणरूप-मानव देवताओं को। शतपथ ब्राह्मण (२।२।१०।६) में दो प्रकार के देवता माने गये हैं—एक स्वर्गीय और अन्य मानवीय अर्थात् वे ब्राह्मण जो अध्ययन के द्वारा वेद में पारंगत हो चुके हैं। यज्ञानुष्ठान को इन्हीं दो देवताओं में विभाजित कर दिया गया है—यागबलि का उपभोग स्वर्गीय देव करते हैं और यज्ञ शुल्क अर्थात् दक्षिणा का प्रतिग्रहण मानव देव—विद्वान् ब्राह्मण। ये दोनों देव जब तृप्त हो जाते हैं तब यजमान स्वर्ग में जाकर अमरत्व प्राप्त कर लेता है[९९]।

---

९५. तु० क० ३।१४।२२-२४
९६. ३।१३।२०
९७. तु० क० ३।१५।१-५५
९८. ४।१।३३
९९. हि० ध० २।८४०

जातक साहित्य भी पुरोहित ब्राह्मणों के लिए प्रचलित दान प्रथा से पूर्ण परिचित हैं, किन्तु उनमें ब्राह्मणों को लोभी और वंचक आदि कलुषित शब्दों से विशेषित कर इस प्रथा का उपहास किया गया है और यज्ञीय दक्षिणा को ब्राह्मणों की उदरपूर्त्ति का साधनमात्र माना गया है[१००]। विज्ञानेश्वर ने दान की सामग्रियों में सुवर्ण और रौप्य के साथ भूमि का भी समावेश किया है[१०१]। वैदिक साहित्य में अश्व, गो, महिषी, आभूषण आदि दान सामग्रियों की चर्चा है, किन्तु भूदान का उल्लेख नहीं है[१०२]।

जातक साहित्यों के समान इस पुराण में दान और दानपात्र-पुरोहित ब्राह्मणों के प्रति किसी प्रकार के उपहास, या उपेक्षा का प्रदर्शन नहीं मिलता, प्रत्युत दानप्रथा की सर्वतोभावेन मान्यता है और साधारणतः प्रतिग्राही ब्राह्मणों के प्रति आदराधिक्य एवं उनकी अनिवार्य उपयोगिता प्रदर्शित की गई है। ब्राह्मणों की उपयोगिता में यहाँ तक प्रतिपादन है कि अतिथि रूप से आये भूखे पथिक को ब्राह्मणों की ही आज्ञा से भोजन करावे। दानसामग्रियों में यहाँ भूमि का स्पष्ट समावेश नहीं किया गया है, किन्तु रत्न, वस्त्र, यान के साथ सम्पूर्ण भोगसामग्री की चर्चा है। संभव है भोगसामग्रियों में भूमि का भी समावेश हो जाये, क्योंकि भूमि से ही तो भोग्य पदार्थ उत्पन्न होते हैं। हाँ, कुछ विशिष्ट दोषों से दूषित ब्राह्मण को श्राद्ध में निमंत्रण के लिए अयोग्य सिद्ध अवश्य किया गया है। यथा-मातापिता और वेद के त्यागी और मित्रघाती ब्राह्मण को[१०३]। किन्तु श्राद्धेतर दानों से उनको वंचित रखने का संकेत नहीं है।

ब्राह्मण और राजनीति

अपने पुराण में भी यत्र तत्र राजनीतिक क्षेत्र के कार्य में यदा कदा हस्तक्षेप करते हुए ब्राह्मण पुरोहित का दर्शन मिल जाता है। दैत्यराज हिरण्यकशिपु और प्रह्लाद के प्रसंग में विवरण है कि पवनप्रेरित अग्नि भी जब प्रह्लाद को नहीं जला सका तब दैत्यराज के नीतिपटु पुरोहितगण सामनीति से प्रशंसा करते हुए बोले कि हे राजन्, हम आपके इस बालक को ऐसी शिक्षा देंगे जिससे यह विपक्ष के नाश का कारण होकर आपके प्रति विनीत हो जायगा[१०४]।

---

१००. सो० आ० इ० १९७
१०१. या०. स्मृ० मिताक्षरा १।१२।३१५
१०२. क० हि० वा० १२९
१०३ तु० क० ३।१५।५-८
१०४. तथातथैनं बालं ते शासितारो वयं नृप।
यथा विपक्षनाशाय विनीतस्ते भविष्यति —१।१:।५०

तत्पश्चात् पुरोहितों ने प्रह्लाद के समीप में जाकर सामनीति से कहा—"आयुष्मन् , तुम्हें देवता, अनन्त अथवा और किसी से क्या प्रयोजन है? तुम्हारे पिता तुम्हारे तथा सम्पूर्ण लोकों के आश्रय हैं और तुम भी ऐसे ही होंगे। अत एव तुम यह विपक्ष की स्तुति छोड़ दो। पिता सर्वथा प्रशंसनीय होता है और वही समस्त गुरुओं में परम गुरु भी है।

इस प्रकार सामनीति से पुरोहितों के समझाने पर भी जब प्रह्लाद के स्वभाव में कोई परिवर्तन नहीं हुआ तब पुरोहितों ने दमननीति का आश्रय लेकर कहा—"अरे बालक, हमने तुझे अग्नि में जलने से बचाया है। हम नहीं जानते थे कि तू ऐसा बुद्धिहीन है। यदि हमारे कहने से तू अपने इस मोहमय आग्रह को न त्यागेगा तो हम तेरे नाश के लिए कृत्या उत्पन्न कर देंगे।

जब कृत्या का प्रयोग भी विफल हुआ तब नीतिकुशल पुरोहित गण प्रह्लाद के ही पक्ष में आकर उसकी प्रशंसा करने लगे[१०५]।

वैवस्वत मनु की "इला" नामक पुत्री थी जो मित्रावरुण की कृपा से पुत्रत्व में परिणत होकर "सुद्युम्न" नामक पुत्र हुआ था। पहले स्त्री होने के कारण सुद्युम्न को राज्याधिकार प्राप्त नहीं हुआ था, किन्तु नीतिपटु वसिष्ठ के कथन से पिता ने सुद्युम्न को प्रतिष्ठान नामक नगर का राजा बनाया दिया था[१०६]।

एक अन्य प्रसंग में कथन है कि राजा प्रतीप का ज्येष्ठ पुत्र देवापि बाल्य-काल में ही वन में चला गया था। अत एव उसका द्वितीय पुत्र शान्तनु उत्तरा-धिकारी राजा हुआ। शान्तनु के राज्य में बारह वर्ष तक वर्षा न हुई तब सम्पूर्ण देश को नष्ट होता देख ब्राह्मणों ने शान्तनु से कहा—'विधानतः यह राज्य तुम्हारे ज्येष्ठ भ्राता देवापि का है, किन्तु इसे तुम भोग रहे हो, अतः तुम परिवेत्ता हो'[१०७]। तत्पश्चात् शान्तनु के अपना कर्तव्य पूछने पर ब्राह्मणों ने फिर कहा—"जब तक तुम्हारा अग्रज भ्राता देवापि किसी प्रकार पतित न हो जाय तब तक यह राज्य उसी के योग्य है। अतः तुम यह राज्य उसी को दे डालो, तुम्हारा इससे कोई प्रयोजन नहीं।" ब्राह्मणों के इस कथन के पश्चात् वेदवाद के विरुद्ध वक्ता कतिपय तपस्वी नियुक्त होकर वन में गये और उन्होंने अतिशय

१०५. तु० क० १।१८।१२-१३, २९-३० और ४५

१०६. ४।१।१६

१०७ अग्रज भ्राता की अविवाहितावस्था में यदि अनुज विवाह कर लेता है तो उस अनुज भ्राता को परिवेत्ता कहा गया है।

—अ० को० २।८।५६

सरलमति राजकुमार देवापि की बुद्धि को वेदवाद के विरुद्ध मार्ग में प्रवृत्त कर दिया। उधर ब्राह्मणों के साथ राजा शान्तनु देवापि के आश्रम पर उपस्थित हुए और—"ज्येष्ठ भ्राता को ही राज्य करना चाहिये" —इस अर्थ के समर्थक अनेक वेदानुकूल वाक्य उससे कहने लगे, किन्तु उस समय देवापि ने वेदवाद के विरुद्ध विविध प्रकार की युक्तियों से दूषित वचन कहे। इस प्रकार अपनी राजनीतिक निपुणता से ब्राह्मणों ने देवापि को पतित किया और शान्तनु को परिवेत्तृत्व-दोष से मुक्त कर दिया तथा शान्तनु फिर राजधानी में आकर राज्य-शासन करने लगे[१०८]।

ऋग्वेद में पुरोहित की चर्चा है और वहाँ परम्परागत कुल पुरोहित के रूप में वह सम्मानित होते हैं। स्वयं भी पुरोहित उच्च कुलोत्पन्न और प्रतिष्ठित होते थे। ऋग्वेद के मत से प्रत्येक राजा का एक कुल पुरोहित होना आवश्यक है। पुरोहित मंत्र तंत्र आदि के प्रयोग एवं स्तोत्रपाठ के द्वारा अपने राजा की रक्षा, विजय और हितसाधना में संलग्न रहते थे[१०९]। जातक साहित्यों में भी पुरोहित के व्यक्तित्व का चित्रण दृष्टिगोचर होता है। वहाँ वह राजा के शुभ और अशुभ दिनों में कुलपरम्परागत पुरोहित, शिक्षक, मार्गदर्शक, मित्र और आजीवन सहायक के रूप में चित्रित हुए हैं। भविष्य भाग्यवक्ता के रूप में भी पुरोहित का विवरण आया है[११०]। कौटिल्य का स्पष्ट कथन है कि जिस प्रकार छात्र शिक्षक के साथ, पुत्र पिता के साथ और सेवक अपने स्वामी के साथ व्यवहार करते हैं उसी प्रकार राजा को पुरोहित के साथ व्यवहार करना चाहिये। प्राचीन धर्मशास्त्रीय विवरणों से यह संकेतित होता है कि राजा लोग धार्मिक विधि-विधानों को प्रायः पुरोहितों के ही ऊपर छोड़ देते थे और उनके विहित निर्णय को ही अन्तिम मान्यता देते थे[१११]। पुरोहित की गुणविशिष्टता के निर्धारण में गौतम और आपस्तम्ब धर्मसूत्रों में प्रतिपादन है कि पुरोहित को विद्वान्, सत्कुलोत्पन्न, मधुरभाषी, सौम्याकृति, मध्यवयस्क, उच्चचरित्र और धर्मशास्त्र एवं अर्थशास्त्र का पूर्णज्ञाता होना चाहिये[११२]।

---

१०८. नु० क० ४।२०।९-२९
१०९. वै० इ० २।५-९
११०. सो० आ० इ० १६४ से
१११. क० हि० वा० १३२
११२. हि० ध० २।३६४

अपने पुराण में पुरोहित की गुणविशिष्टता का स्पष्ट उल्लेख तो नहीं हुआ है, किन्तु यजमानों पर उनकी कूटनीतिज्ञता और प्रभावविशिष्टता का दर्शन तो अवश्य हुआ है। इस से यह अनुमित अवश्य हो जाता है कि राज-पुरोहित मे असाधारण व्यक्तित्व निश्चित रूप से रहता था और असाधारण व्यक्तित्व का कारण उपर्युक्त गुण ही हो सकते हैं, क्योंकि विहित गुणों के अभाव में अव्यर्थ प्रभाव तथा असाधारण व्यक्तित्व असंभव से प्रतीत होते हैं।

ब्राह्मण और क्षत्रिय संघर्ष—जिस प्रकार ब्राह्मण और क्षत्रिय पारस्परिक सहयोग के साथ समाज के कल्याण की साधना में क्रियाशील रहते थे उसी प्रकार स्वार्थवश अथवा सामाजिक कल्याण की भावना से परस्पर में संघर्ष भी कर लेते थे। इस प्रसंग में कतिपय उदाहरण यहाँ अपेक्षित है। सर्वप्रथम वेन और पृथु के विवरण विचारणीय हैं:—

(१) मृत्यु की सुनीथा नाम की जो प्रथम पुत्री थी वह पत्नीरूप से अङ्ग को दी गई। उसी से वेन का जन्म हुआ था। वह मृत्यु की कन्या का पुत्र स्वभावतः अपने मातामह के दोष से दुष्ट हुआ। उस वेन का जिस समय ब्राह्मण महर्षियों के द्वारा राजपद पर अभिषेक हुआ उसी समय उस पृथिवीपति ने संसार भर में यह घोषणा कर दी कि "मैं ही यज्ञपुरुष भगवान् हूँ, मेरे अतिरिक्त यज्ञ का भोक्ता और स्वामी दूसरा कौन है ? अत एव कभी कोई यज्ञ, दान और हवन आदि न करें।

तब ऋषियों ने उस पृथिवीपति के पास उपस्थित हो उसकी प्रशंसा करते हुए मधुर वाणी में कहा—"हे राजन्, जिन राजाओं के राज्य में यज्ञेश्वर भगवान् हरि का यज्ञों के द्वारा पूजन किया जाता है, वे उनकी समस्त कामनाओं को पूर्ण कर देते हैं।" किन्तु वेन ने तिरस्कार के साथ उत्तर दिया—"मुझ से बढ़ कर ऐसा कौन है जो मेरा पूजनीय हो सके ? जिसे तुम यज्ञेश्वर मानते हो वह "हरि" कहलाने वाला कौन है ? ब्रह्मा, विष्णु, शिव और इन्द्र प्रभृति जितने देवता शाप और अनुग्रह करने में समर्थ हैं वे समस्त राजा के शरीर में निवास करते हैं। अतः राजा ही सर्वदेवमय है। हे ब्राह्मणो, ऐसा जान कर मैं ने जैसी और जो कुछ आज्ञा की है वैसा ही करो। देखो, कोई भी दान, यज्ञ और हवन आदि क्रियाएँ न करे।

अब मुनिगण अपने क्रोध को रोक न सके और उन्हों ने भगवान् की निन्दा करने के कारण राजा को मंत्रपूत कुशों से मार डाला। ब्राह्मणों ने उस मृत वेन के दक्षिण हस्त का मन्थन किया जिस से परम प्रतापी पृथु प्रकट हुए। महाराज पृथु के अभिषेक के लिए समस्त समुद्र और नदियाँ सब प्रकार के रत्न और

जल लेकर उपस्थित हुए। उस समय आंगिरस देवगणों के सहित पितामह ब्रह्मा और समस्त स्थावर-जंगम प्राणियों ने वहाँ आकर महाराज वैन्य पृथु का राज्याभिषेक किया। जिस प्रजा को पिता ने अपरक्त किया था उसी का अनुरंजन करने के कारण उनका नाम "राजा" हुआ।

तत्पश्चात् पृथु के द्वारा अनुष्ठित पैतामह यज्ञ से सूत और मागध की उत्पत्ति हुई तब मुनिगण ने सूत और मागध को पृथु के स्तुतिगान और प्रताप-वर्णन करने को कहा। इस पर सूत और मागध ने कहा—"ये महाराज तो आज ही उत्पन्न हुए हैं, हम इनका कोई कर्म तो जानते नहीं तो क्या गान और वर्णन करें। उत्तर में मुनिगण ने कहा—"ये महाबली चक्रवर्ती महाराज भविष्य में जो जो कर्म करेंगे और इनके जो जो भावी गुण होंगे उन्हीं से तुम इनका स्तवन करो। ब्राह्मण महर्षियों के कथनानुसार सूत और मागधों ने स्तुतिगान के साथ पृथु का भविष्य प्रताप का वर्णन किया और तदनुसार सूत-मागध के कथित गुणों को राजा ने अपने चित्त में धारण कर लिया[११३]।

ऋग्वेद में पृथु का नाम अर्धपौराणिक महापुरुष के रूप में और पीछे चल कर एक ऋषि और विशेषतः कृषि के आविष्कारक के रूप में आया है और इन्हें मानव तथा पशु-जगत् का राजा माना गया है। अनेक स्थलों पर यह वैन्य (वेन पुत्र) के नाम से प्रसिद्ध हुए हैं। वेन का वर्णन ऋग्वेद में एक उदार संरक्षक के रूप मे पाया जाता है[११४]। मनुस्मृति पृथु की अपेक्षा वेन से अधिक परिचित प्रतीत होती है। वेन के सम्बन्ध में मनु का प्रतिपादन है कि वेन के राजत्व-काल में नियोगाचार का जो प्रचलन था उसे विद्वान् ब्राह्मणों ने पशुधर्म माना[११५]। आगे चलकर स्मृति में प्रतिपादन है कि नियोग एक प्रकार से वर्णसंकृति का कारण है जिस का प्रचार अपने राज्य में वेन ने कामासक्ति के वशीभूत होकर किया था[११६]। अपने अविनयपूर्ण अहंकार के कारण स्वयं ही वेन नष्ट हो गया था[११७]। पृथु के सम्बन्ध में मनु का कथन

---

११३. तु० क० १।१३

११४. क० हि० वा० १३४

११५. अयं द्विजैर्हिविद्वद्भिः पशुधर्मो विगर्हितः।
मनुष्याणामपि प्रोक्तो वेने राज्यं प्रशासति —९।६६

११६. स महीमखिलां भुञ्जन् राजर्षिप्रवरः पुरा।
वर्णानां संकरं चक्रे कामोपहतचेतनः —म० स्मृ० ९।६७

११७. वही ७।४१

है कि पृथ्वी उसकी पत्नी है[११८] पर विष्णुपुराण ने पृथु को प्राणदान करने के कारण पृथ्वी का पिता माना है[११९]।

(२) त्रय्यारुणि का सत्यव्रत नामक पुत्र पीछे "त्रिशंकु" नाम से प्रसिद्ध हुआ। त्रिशंकु अपने पुराण के अज्ञात कारण से चाण्डाल हो गया था। एक समय लगातार बारह वर्ष पर्यन्त अनावृष्टि रही। उस समय विश्वामित्र की स्त्री और सन्तानों के पोषणार्थ तथा अपनी चाण्डालता को छुड़ाने के लिए वह गंगा के तटस्थ एक वृक्ष पर प्रतिदिन मृग का मांस बांध आता था। इस से प्रसन्न होकर विश्वामित्र ने उसे सदेह स्वर्ग में भेज दिया[१२०]।

वैदिक साहित्य में त्रिशंकु की चर्चा है और पार्जिटर ने उन्हें क्षत्रियपरंपरा का राजा माना है[१२१]। पार्जिटर ने एक अलग निबन्ध में इस को विवृत किया है[१२२]। पार्जिटर ने त्रिशंकु के प्रसंग को तीन वर्गों में विभक्त किया है। यथा—(१) वसिष्ठ के षड्यंत्र से सत्यव्रत का निर्वासन, (२) दुर्भिक्षकाल में सत्यव्रत के द्वारा विश्वामित्र के परिवार का पालन-पोषण और (३) वसिष्ठ एवं विश्वामित्र का पारस्परिक संघर्ष तथा पुनः सत्यव्रत को पूर्वावस्था की प्राप्ति। इस कथा के मुख्य तथ्यों पर विचार करने के पश्चात् पार्जिटर इस निष्कर्ष पर पहुंचता है कि वस्तुतः यह एक प्राचीन क्षत्रिय संगीत है जो राजसभा के चारण वन्दियों में परम्परा के क्रम से चलता रहा और खृष्ट पूर्व षष्ठी या सप्तमी शताब्दी में लिपिवद्ध किया गया, यद्यपि इस में कुछ ऐसे संकेत मिलते हैं कि ब्राह्मणों ने प्रारम्भ में ही इस में कुछ परिवर्त्तन किये[१२३]।

(३) एक समय राजा निमि के द्वारा अनुष्ठीयमान यज्ञ के होता के रूप में पहिले से आमंत्रित वसिष्ठ मुनि इन्द्र का यज्ञ समाप्त कर निमि की यज्ञशाला में आये। किन्तु उस समय होता का कार्य गौतम को करते देख वसिष्ठ ने सोते हुए राजा निमि को यह शाप दिया कि "इसने मेरी अवज्ञा कर सम्पूर्ण यज्ञीय कर्म का भार गौतम को अर्पित कर दिया है इस कारण यह देहहीन हो जायगा"। सोकर उठने पर राजा निमिने भी कहा कि "इस दुष्ट

---

११८. पृथोरपीमां पृथिवीं भार्यां पूर्वविदो विदुः —वही ९।४४
११९. प्राणप्रदाता स पृथुर्यस्माद्भूमेरभूत्पिता —१।१३।८९
१२०. तु० क० ४।३।२१-२४
१२१. ए० इ० हि० ११
१२२ जॉर्नल आव दि रोयायल एशियाटिक सोसायटी, १९१३, ८८५
१२३. क० हि० वा० १३३

गुरु ने मुझसे विना वार्तालाप किये अज्ञानतापूर्वक मुझ सोने हुए को शाप दिया है इस कारण इसका देह भी नष्ट हो जायगा[१२४]।"

वैदिक साहित्य में निमि के सम्बन्ध में कोई वर्णन नहीं मिलता है, किन्तु मत्स्य, पद्म, वायु, ब्रह्माण्ड, भागवत आदि पुराणों में और रामायण में निमि की कथा का वर्णन विष्णुपुराण के समान ही हुआ है[१२५]।

(४) कृतवीर्य के पुत्र अर्जुन ने अत्रिकुलोत्पन्न दत्तात्रेय की उपासना कर अनेक वर प्राप्त किये थे। अर्जुन ने सम्पूर्ण सप्तद्वीपवती पृथिवी का पालन करते हुए दश सहस्र यज्ञों का अनुष्ठान किया था। पचासी सहस्र वर्ष व्यतीत होने पर सहस्रार्जुन का जामदग्न्य परशुराम ने वध किया[१२६]।

वैदिक साहित्य में कार्तवीर्य अर्जुन की चर्चा दृष्टिगोचर नहीं होती है। पार्जिटर ने कार्तवीर्य अर्जुन को क्षत्रिय परम्परा का एक राजा माना है। जामदग्न्य राम के हाथ से कार्तवीर्य की मृत्युकथा को पार्जिटर ऐतिहासिक रूप देता है, यद्यपि महाभारत और अन्यान्य पुराणों में वर्णित परशुराम के द्वारा इक्कीस बार क्षत्रियों के संहार की कथा को पार्जिटर ने ऐतिहासिक रूप न देकर ब्राह्मण परम्परा की कथामात्र माना है। यह निस्सन्देह है कि "अपने चिरकालीन राज्यशासन के पश्चात् कार्तवीर्य अर्जुनने जगदग्नि और उनके पुत्र परशुराम के साथ विरोध आरंभ किया। पुराणों में विवृत वंशावली से भी इस घटना के सम्बन्ध में आपव ऋषि के शाप के अतिरिक्त अन्य कोई कारण ज्ञात नहीं होता। पार्जिटर के मतानुसार आपव के शाप की कथा केवल ब्राह्मणवाद से सम्बन्धित है और विष्णुपुराण में अंकित संक्षिप्त कथा से भी इसी मन्तव्यता का पुष्टीकरण होता है[१२७]। महाभारत में यह वर्णन है कि कार्तवीर्य के द्वारा अपने आश्रम के जला दिये जाने पर शक्तिशाली आपव ऋषि को अतिशय क्रोध हुआ। उन्होंने अर्जुन को शाप देते हुए कहा—"अर्जुन, तुमने मेरे इस विशाल वन को भी जलाए विना नहीं छोड़ा, इस लिए संग्राम में तुम्हारी इन भुजाओं को परशुराम काट डालेंगे[१२८]।

---

१२४. तु० क० ४।५।७-१०

१२५. ए० इ० हि० ७४-५, पा० टी० ५

१२६. तु० क० ४।११। १२-१३ और २०

१२७. क० हि० वा० १३७

१२८. आपवस्तु ततो रोषाच्छशापार्जुनमच्युत।
दग्धेऽऽश्रमे महावाहो कार्तवीर्येण वीर्यवान्॥

उपर्युक्त प्रसंगो से क्षत्रियों के साथ ब्राह्मणों की व्यावहारिक प्रवृत्तियों के विभिन्न रूप दृष्टिगोचर होते हैं। कहीं समाज की धार्मिक मर्यादा की रक्षा के लिए अहंकार और अधार्मिकता की चरम सीमा पर आसीन राजा का संहार करते हुए; कहीं प्रजारंजक और धर्मप्रतिष्ठापक राजा को उत्पन्न करते हुए और कहीं स्वार्थसिद्धि के लिए क्षत्रिय का उद्धार करते हुए ब्राह्मणों का दर्शन होता है। कहीं पर ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों की पारस्परिक प्रतिशोध की भावना का भी साक्षात्कार होता है। निष्कर्ष यह है कि समाज और राष्ट्र के निर्माण में ब्राह्मणों का प्रमुख हाथ था। ब्राह्मबल के कारण से ही वे समाज में अहंकार और अनीति आदि दुर्गुणों को नहीं आने देते थे।

ब्राह्मण और शिक्षा

ब्रह्मा के द्वारा निर्दिष्ट ब्राह्मण के तीन विशिष्ट कर्मों में से शिक्षण एकतम है[१२९]। और्व मुनि का कथन है कि श्राद्धमें त्रिणाचिकेत, त्रिमधु, त्रिसुपर्ण,[१३०] षडंगवेदज्ञाता, श्रोत्रिय, योगी और ज्येष्ठ सामग ब्राह्मणों को नियुक्त करना चाहिए, किन्तु वेदत्यागी ब्राह्मण को श्राद्ध में निमंत्रित न करे[१३१]।

पुराण में एक उदाहरण है, जिससे ज्ञात होता है कि किस प्रकार वैदिक ज्ञान पितापितामह से पुत्रपौत्र को प्राप्त होता था। जब ब्रह्मा की प्रेरणा से व्यास ने वेदों के विभाग का उपक्रम किया तो उन्होंने वेदों का अन्त तक अध्ययन करने में समर्थ चार शिष्यों को ग्रहण किया था। उनमें व्यास ने पैल को ऋग्वेद, वैशम्पायन को यजुर्वेद और जैमिनि को सामवेद पढ़ाया तथा उन मतिमान् व्यास का सुमन्तु नामक शिष्य अथर्ववेद का ज्ञाता हुआ[१३२]। व्यास के शिष्य जैमिनि ने सामवेद की शाखाओं का विभाग किया था। जैमिनि का पुत्र सुमन्तु था और उसका पुत्र सुकर्मा हुआ। उन दोनों महामति पुत्रपौत्रों ने सामवेद की एक-एक शाखा का अध्ययन किया। तदनन्तर सुमन्तु के पुत्र सुकर्मा ने अपनी सामवेद संहिता के एक सहस्र शाखाभेद किये[१३३]।

त्वया न वर्जितं यस्मान्ममेदं हि महद् वनम्।
दग्धं तस्माद्रणे रामो बाहूंस्ते छेत्स्यतेऽर्जुन॥

—शान्ति० ४९।४२-४३

१२९ ३।८।२३

१३०. तु० क० (गीताप्रेस संस्करण) ३।१५।१ की० पा० टी०

१३१. तु० क० ३।१५।१-५

१३२. तु० क० ३।४।७-९

१३३. तु० क० ३।६।१-३

वैदिक युग से ब्राह्मण की शिक्षा और ज्ञान का आधार वेद आदि मूल ग्रन्थ ही रहे हैं। शतपथब्राह्मण में "स्वाध्याय," शब्द का प्रयोग मिलता है, जिसमे स्वाध्याय के महत्त्व का प्रतिपादन किया गया है[134]। जातक साहित्यों में विद्वान् और साधारण ब्राह्मणों में अन्तर प्रदर्शित किया गया है। पश्चात्कालीन सूत्रग्रन्थ में ब्राह्मण के अध्ययनाध्यापन के सम्बन्ध में विविध प्रकार के नियम और विधि-विधानों का विवरण मिलता है[135]।

पिता से पुत्र को विद्या की प्राप्तिरूप शिक्षणपद्धति का वेदों में वर्णन है। यद्यपि जैमिनि के द्वारा रचित सामवेद के साहित्यों की आज भी उपलब्धि होती हैं, किन्तु इस सम्बन्ध में वेदों में जैमिनि का नामोल्लेख नहीं हुआ है[136]।

विष्णुपुराण में जैमिनि का दर्शन व्यास के शिष्य के रूप में होता है, जिन्होंने सामवेद की शाखाओं का विभाग किया था, किन्तु जैमिनि के द्वारा वैदिक साहित्य के सङ्कलन के सम्बन्ध में पार्जिटर के मौनधारण का तात्पर्य यह हो सकता है कि वेद अनादि हैं और यदि किसी व्यक्ति विशेष को वेदों का संकलयिता मान लिया जाय तो उनकी अनादिता का सर्वथा मूलोच्छेद हो जाता है[137]।

(२) क्षत्रिय

क्षत्र, क्षत्रिय और राजन्य—अपने पुराण में अनेक स्थलों पर "क्षत्र" शब्द का प्रयोग दृष्टिगत होता है। यथा—बाहु से क्षत्र की उत्पत्ति हुई[138]। धृष्ट के वंश में धार्ष्टक नामक क्षत्र पुत्र उत्पन्न हुआ[139]। जब पृथिवीतल क्षत्रहीन किया जा रहा था[140]। शीघ्रग का पुत्र मरु आगामी युग में सूर्यवंशीय क्षत्रों का प्रवर्त्तक होगा[141]। क्षत्रश्रेष्ठ पुत्र की उत्पत्ति के लिए और द्वितीय चरु उसकी माता के लिए बनाया[142]। उससे सम्पूर्ण क्षत्रों के विघातक

---

१३४. वै० इ० २।९५
१३५. सो० आ० इ० १९० से
१३६. क० हिं० वा० १३८
१३७. ए० इ० हिं० ९।३२०
१३८. बाहोः क्षत्रमजायत —१।१२।६३
१३९. धार्ष्टकं क्षत्रमभवत् —४।२।४
१४०. निःक्षत्रे··· क्रियमाणे —४।४।७४
१४१ सूर्यवंशक्षत्रप्रवर्त्तयिता भविष्यति —४।४।११०
१४२. क्षत्रवरपुत्रोत्पत्तये चरुमपरं साधयामास —४।७।१८

परशुराम को उत्पन्न किया[१४३]। वालेय क्षत्र उत्पन्न किया[१४४]। महापद्म सम्पूर्ण क्षत्रों का नाशक होगा[१४५] इत्यादि।

संस्कृतकोष में क्षत्र शब्द के अर्थ उपनिवेश (Dominion), शक्ति (Power) और प्रभुत्व (Supremacy) आदि किये गये हैं[१४६]। टीकाकार मल्लिनाथ ने "क्षत्र" शब्द का प्रयोग क्षत्रियजाति के अर्थ में किया है[१४७] और यही अर्थ हमारे पुराणकर्त्ता को मान्य-सा प्रतीत होता है, क्योंकि हमारे पुराण में प्रयुक्त "क्षत्र" शब्द उपनिवेश, शक्ति वा प्रभुत्व आदि अर्थों के द्योतक नहीं। वे "क्षत्रिय" शब्द के समान ही उपनिवेश आदि के प्रतिष्ठापक-से ही ज्ञात होते हैं। अमरसिंह ने क्षत्रियपर्याय के रूप में मूर्धाभिषिक्त, राजन्य, बाहुज, क्षत्रिय और विराज्-इन पाँच संज्ञायों का निर्देश किया है[१४८]।

अपने पुराण में क्षत्र और क्षत्रिय इन दो शब्दों का ही प्रयोगबाहुल्य दृष्टिगोचर होता है। एक दो स्थलों पर राजन्य शब्द का प्रयोग भी दृष्टिपथ पर अवतीर्ण होता है। यथा राजन्य (क्षत्रिय) और वैश्य का वधकर्त्ता "ताल" नामक नरक में जाता है[१४९]। अन्य प्रसंग में कहा गया है कि आपत्तिकाल में राजन्य को केवल वैश्यवृत्ति का ही आश्रय ग्रहण करना उचित है[१५०]।

कर्मव्यवस्था

ब्रह्मा के द्वारा निर्धारित दान, यजन और अध्ययन के अतिरिक्त दुष्टों को दण्ड देना और साधुजनों को पालन करना क्षत्रियों का एक मुख्य कर्म था[१५१]। आपत्तिकाल में क्षत्रिय को वैश्यकर्म करने का भी आदेश है[१५२]।

ऋग्वेद में "क्षत्रिय" शब्द का प्रयोग देवताओं के विशेषण के रूप में किया गया है और कुछ श्लोकों में इस शब्द का प्रयोग राजा अथवा कुलीन

---

१४३. चाशेषक्षत्रहन्तारं परशुरामसंज्ञम् —४।७।३६
१४४. वालेयं क्षत्रमजन्यत —४।१८।१३
१४५. क्षत्रान्तकारी भविष्यति —४।२४।२०
१४६. स० ई० डि० १७०
१४७. र० वं० टीका, २।५३
१४८. मूर्धाभिषिक्तो राजन्यो बाहुजः क्षत्रियो विराट् . —अ० को० २।८।१
१४९. २।६।१०
१५०. ३।८।३९
१५१. ३।८।२९
१५२. पा० टी० १५०
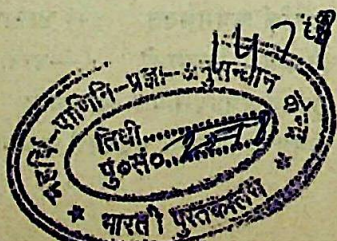
पुरुष के अर्थ में हुआ है[१५३]। विशेषतः पश्चात्कालीन वैदिक साहित्य में क्षत्रिय शब्द का प्रयोग चातुर्वर्ण्य की एकतम जाति के अर्थ में किया गया है। ऋग्वेद में "क्षत्र" शब्द का भी प्रयोग कभी कभी सामासिक रूप में मिलता है। यथा—"ब्रह्मक्षत्र" किन्तु इस सामासिक शब्द में "ब्रह्म" का अर्थ है प्रार्थना और क्षत्र का पराक्रम। कुछ अन्यान्य वैदिक साहित्यों में "क्षत्र" शब्द का प्रयोग सामूहिक रूप से "क्षत्रिय" के पर्याय के रूप में हुआ है[१५४]। राजन्य शब्द का प्रयोग ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में हुआ है[१५५]। किन्तु पश्चात्कालीन वैदिक साहित्य में राजन्य शब्द व्यवस्थित रूप से राजकीय परिवार के पर्याय का रूप धारण कर लेता है[१५६]। जातक युग से "क्षत्रिय" शब्द के स्थान में अधिकतर "खत्तिय" शब्द का प्रयोग सामान्य रूप से होने लगा था। जातक साहित्य का "खत्तिय" शब्द केवल आर्यनेता तथा विजेतृजातियों की सन्तानों को ही लक्षित नहीं करता है, जिन्होंने गंगा की तटस्थ भूमिमों में अपना निवास निर्माण किया था, किन्तु विदेशी आक्रमण के होने पर अपनी स्वतंत्रता के रक्षक आदिवासी प्रजाओं के शासकों को भी इंगित करता है[१५७]। बौद्धपरम्परा में चातुर्वर्ण्य के गणनाक्रम में सदा और सर्वप्रथम खत्तिय जाति का ही नामनिर्देश पाया जाता है[१५८]।

विष्णुपुराण में भी ब्रह्म एवं क्षत्र शब्दों का सामासिक रूप मिलता है, किन्तु यहाँ प्रार्थना और पराक्रम के अर्थ में न होकर ब्राह्मण और क्षत्रिय जातियों के लिए ही प्रयोग हुआ है[१५९]।

क्षत्रिय और बौद्धिक क्रियाकलाप—अपने पुराण में कतिपय क्षत्रिय ब्रह्मज्ञानी, योगी, वानप्रस्थ और तपस्वी के रूप में विवृत हुए हैं। एतत्सम्बन्धी कतिपय उदाहरण प्रयोजनीय प्रतीत होते हैं: महाराज उत्तानपाद के पुत्र ध्रुव ने नगर से बाहर वन में जाकर भक्तियोग के आचरण के द्वारा ज्ञान की चरम सीमा पर पहुँच कर अक्षयपद प्राप्त किया था[१६०]। महाराज प्रियव्रत के मेधा,

---

१५३. हि० ध० २।३०
१५४. क० हि० वा० १३९
१५५. पा० टी० ३
१५६. पा० टी० १५३
१५७. क० हि० वा० १३९
१५८. सो० आ० इ० ८४
१५९. ४।२१।१८
१६०. तु० क० १।११-१२

अग्निबाहु और पुत्र नामक तीन पुत्र योगपरायण तथा अपने पूर्व जन्म के वृत्तान्त-ज्ञाता थे। उन्होंने राज्य आदि भोगों में मन नहीं लगाया था[१६१]।

महाराज भरत ने पुत्र को राज्यलक्ष्मी सौंपकर योगाभ्यास में तत्पर हो अन्त में शालग्राम क्षेत्र में अपने प्राण त्याग दिये थे[१६२]। शीघ्रग के पुत्र मरु के विषय में कथन है कि वह इस समय भी योगाभ्यास में तल्लीन होकर कलाप ग्राम में विद्यमान है[१६३]।

राजा अग्नीध्र अपने नौ पुत्रों को जम्बूद्वीप के हिम आदि नौ वर्षों में अभिषिक्त कर तपस्या के लिए शालग्राम नामक महापवित्र क्षेत्र को चले गए थे[१६४]। पृथिवीपति ऋषभदेव अपने वीर पुत्र भरत को राज्याभिषिक्त कर तपस्या के लिए पुलहाश्रम को चले गए थे[१६५]। राजा रैवत कन्यादान करने के अनन्तर एकाग्र चित्त से तपस्या करने के लिए हिमालय को चले गये थे[१६६]। राजा ययाति पूरु को सम्पूर्ण भूमण्डल के राज्य पर अभिषिक्त कर वन को चले गए थे[१६७]। राजा प्रतीप के ज्येष्ठ पुत्र देवापि बाल्यावस्था में ही वन में चले गये थे[१६८]।

उपर्युक्त औत्तानपादि ध्रुव, प्रैयव्रत मेधातिथि, अग्निबाहु एवं पुत्र, शैघ्रग मरु, आर्षभ भरत, प्रैयव्रत अग्नीध्र और नाभेय ऋषभ के ब्रह्मज्ञान योगाभ्यास, तपश्चरण आदि सद्गुणों का विशेष विवरण प्राचीन आर्य वाङ्मयों में नहीं है। पार्जिटर आदि गवेषी विद्वान् भी इस दिशा में मौन हैं। आनर्त के पुत्र रैवत के सम्बन्ध में कथन है कि वह अपनी कन्या रेवती को लेकर उसके अनुकूल वर की प्राप्ति के सम्बन्ध में परामर्श के लिए ब्रह्मलोक गया था। वहाँ हाहा और हूहू नामक गन्धर्वों के अतितान गान सुनते अनेक युग बीत गए किन्तु रैवत को मुहूर्त मात्र ही प्रतीत हुआ था। अपने विष्णुपुराण में भी रैवत को इसी प्रकार अतिरंजित रूप में उपस्थित किया गया है। पार्जिटर ने इसे पौराणिक

---

१६१. मेधाग्निबाहुपुत्रास्तु त्रयो योगपरायणाः।
जातिस्मरा महाभागा न राज्याय मनो दधुः॥ —२।१।९

१६२. योगाभ्यासरतः प्राणान्शालग्रामेऽत्यजन्मुने॥ —२।१।३४

१६३. तु० क० ४।४।१०८–१०९

१६४. तु० क० २।१।२३–२४

१६५. २।१।२९

१६६. दत्वाथ कन्यां स नृपो जगाम,
हिमालयं वै तपसे धृतात्मा॥ —४।१।९६

१६७. तु० क० ४।१०।३२

१६८. देवापिर्बाल एवारण्यं विवेश॥ ४।२०।१०

रूप देकर अंतथ्य प्रमाणित किया है[१६९]। ययाति की चर्चा ऋग्वेद में दो बार हुई है। एक बार एक प्राचीन यज्ञानुष्ठाता के रूप में और पुनः नहुष की सन्तान—एक राजा के रूप में[१७०]। आगे चलकर वैदिक अनुक्रमणिका के संकलयिताओं का कहना है कि महाभारत आदि ग्रन्थों के अनुसार पुरु के साथ इनके सम्बन्ध में कोई प्रमाण नहीं मिलता है। अतः यह परम्परा अयथार्थ ही संभावित होती है[१७१]। ययाति के अरण्यवास का प्रसंग अन्यान्य पुराणों और हरिवंश में भी उपलब्ध होता है[१७१]। देवापि के सम्बन्ध में महर्षि यास्क का कथन है कि कुरु के वंश में देवापि और शान्तनु दो राजकुमार थे। देवापि ज्येष्ठ भ्राता थे, किन्तु किसी प्रकार शान्तनु राजा बनगये थे। शान्तनु के राज्य में बारह वर्ष तक वर्षा नहीं हुई। ब्राह्मणों ने शान्तनु से कहा—"तुमने ज्येष्ठ भ्राता के जीवन काल में राजत्व लाभ कर अधर्माचरण किया है। इसी कारण वृष्टि नहीं हो रही है।" ब्राह्मणों के कथन से शान्तनु अपने ज्येष्ठ भ्राता देवापि को राज्य देने को उद्यत हो गये। देवापि ने राज्य लेना स्वीकार नहीं किया किन्तु वे राजा शान्तनु के पुरोहित के पद पर कार्य करने लगे और तब वर्षा होने लगी[१७२]।

क्षत्रिय और वैदिक शिक्षा

अपने पुराण में पुरुकुत्स, सगर, शौनक, धन्वन्तरि, कृत और शतानीक आदि कतिपय क्षत्रिय राजा वैदिक ज्ञान में परम निष्णात प्रतिपादित हुए हैं। पुराण में कथन है कि राजा पुरुकुत्स ने सारस्वत को वैष्णव तत्त्व का रहस्य सुनाया था[१७३]। बाहुपुत्र सगर को उपनयन संस्कार होने पर और्व ऋषि ने वेद शास्त्रादि की शिक्षा दी थी[१७४]। गृत्समद का पुत्र शौनक चातुर्वर्ण्य का प्रवर्तक था। दीर्घतपा का पुत्र धन्वन्तरि सम्पूर्ण शास्त्रों का ज्ञाता था। भगवान् नारायण से उसे सम्पूर्ण आयुर्वेद को आठ भागों में विभक्त करने का वर मिला था[१७५]। सन्नतिमत्पुत्र कृत को हिरण्यनाभ ने योग विद्या की शिक्षा दी थी जिसने प्राच्य सामग श्रुतियों की चौबीस संहिताएँ रची थीं[१७६]।

---

१६९. ए० इ० हि० ९८
१७०. क० हि० वा० १४२
१७१, क० हि० वा० १४२
१७२. वही
१७३. तु० क० १।२।९
१७४. वही ४।३।३७
१७५. वही ४।८।६ और ९–१०
१७६. वही ४।१९।५१–५२

जनमेजय के पुत्र शतानीक की याज्ञवल्क्य से वेदाध्ययन कर महर्षि शौनक के उपदेश से आत्मज्ञान में निपुण होकर परम निर्वाणपद की प्राप्ति का विवरण मिलता है[१७७]।

ऋग्वेद से क्षत्रियों की शिक्षा के सम्वन्ध में हमें कोई लेखप्रमाण उपलब्ध नहीं होता है। अनुमान के द्वारा इसका कारण यही प्रतीत होता है कि मुख्य रूप से क्षत्रिय युद्धकला में ही शिक्षित होते थे। अन्तिम ब्राह्मण साहित्य में कुछ विद्वान् राजकुमारों के प्रसंग मिलते हैं। यथा–प्रवाहण जैवालि, जनक, अश्वपति केकय और अजातशत्रु। वे ब्रह्मविद्या सम्वन्धी ज्ञान के कारण विख्यात थे। याज्ञवल्क्य का कथन है कि जनक ने सम्यक् रूप से वेदों और उपनिषदों का अध्ययन किया था। जातक साहित्य के स्थल-स्थल पर यह घोषणा है कि ब्राह्मण कुमारों के समान क्षत्रिय राजकुमार अपने जीवन के निश्चित समय को धार्मिक अध्ययनों में व्यतीत करते थे। धर्मशास्त्र का आदेश है कि आदर्श क्षत्रियों को वेदज्ञान में प्रवीण होना विधेय है। इस से ध्वनित होता है कि लगभग खृष्ट युग से क्षत्रिय राजकुमार वेद और दर्शन शास्त्रों का परिमित ही ज्ञान प्राप्त करते थे[१७८]।

चक्रवर्ती और सम्राट्

विष्णुपुराण में अनेक चक्रवर्ती और सम्राट् क्षत्रिय राजाओं का चरित्र-चित्रण दृष्टिगोचर होता है। प्रतिपादन है कि चक्रवर्ती राजाओं के हाथ में विष्णु के चक्र का चिह्न हुआ करता है, जिसका प्रभाव देवताओं से भी कुण्ठित नहीं होता[१७९]।

अमरसिंह ने चक्रवर्ती का पर्याय "सार्वभौम" निर्दिष्ट किया है[१८०]। रघुवंशीय चक्रवर्तियों के विषय में कालिदास का कथन है कि वे समुद्र पर्यन्त पृथ्वी का शासन करते थे[१८१]।

सम्राट् के लक्षण प्रतिपादन में अमरसिंह का कथन है कि राजसूय यज्ञ के अनुष्ठाता, बारह मण्डलों के अधिपति और अपनी इच्छा से राजाओं के ऊपर शासन-

---

१७७. वही ४।२१।३-४

१७८. क० हि० वा० १४४-४५

१७९. विष्णुचक्रं करे चिह्नं सर्वेषां चक्रवर्तिनाम्।
भवत्यव्याहतो यस्य प्रभावस्त्रिदशैरपि॥ —१।१३।४६

१८०. चक्रवर्ती सार्वभौमः। —अ० को० २।८।३

१८१ आसमुद्रक्षितीशानाम्। —र० वं०, १।५

कर्ता को सम्राट् कहा जाता है[१८२]। विष्णुपुराण में "चक्रवर्ती" शब्दों से विशेषित कतिपय क्षत्रियों की नामावली निम्नलिखित है :—

(१) पृथु (वैन्य) १।१३।५६
(२) मरुत्त (आविक्षित) ४।१।३४
(३) मान्धाता (यौवनाश्व) ४।२।६३ और ४।२४।१४८
(४) सगर (बाहुपुत्र) ४।३।३२
(५) शशिविन्दु (चैत्ररथ) ४।१२।३
(६) भरत (दौष्यन्ति) ४।१९।१०

अपने पुराण के उपर्युक्त चक्रवर्ती शब्द से विशेषित क्षत्रियों के अतिरिक्त अनेक ऐसे क्षत्रियों का विवरण है, जिन्हें अन्यान्य वाङ्मयों और पुराणों में चक्रवर्ती और सम्राट् की मान्यता दी गई है और जो यथार्थतः अपनी साम्राज्य-शक्ति और अपने लोकोत्तर गुणधर्मों के कारण चक्रवर्ती हैं। उनकी नामावली निम्नांकित है :—

(७) गय (आमूर्तरयस) १।१४।२ और ४।१।१४
(८) अम्बरीष (नाभाग) ४।२।५-६ और ४।४।३६
(९) दिलीप (ऐलविल खट्वांग) ४।४।३४
(१०) भागीरथ (दैलीप) ४।४।३५
(११) राम (दाशरथि) ४।४।८७-९९
(१२) ययाति (नाहुष) ४।१०।१-२
(१३) शिवि (औशीनर) ४।१८।९
(१४) रन्तिदेव (सांकृति) ४।१९।२२
(१५) सुहोत्र (आतिथिन) ४।१९।२७
(१६) बृहद्रथ (वासव) ४।१९।८१

उपर्युक्त सोलह प्रसिद्ध महाराजों और उनके अलौकिक कर्मकलापों को "षोडश राजिक" कहा गया है[१८३]। इन सोलह के अतिरिक्त कुछ और क्षत्रिय

---

१८२. येनेष्टं राजसूयेन मण्डलस्येश्वरश्च यः ।
शास्ति यश्चाज्ञया राज्ञः स सम्राट्... ॥
—अ० को० २।८।३

१८३. "The greatest kings were generally styled Cakravartins", sovereigns who Conquered surrounding Kingdoms or brought them under their authority, and

राजा हैं, जिनके नाम इस नामावली में समाविष्ट नहीं किये गये। यथा—पुरूरवा (बौध) और अर्जुन (कार्तवीर्य) आदि। ये चक्रवर्ती "षोडश राजिकपरम्परा" में नहीं आते हैं। इस कारण इनके नाम द्वितीय नामावली में समाविष्ट नहीं किये गये हैं[१८४]। नहुष-पुत्र ययाति विश्वविख्यात विजेता थे। इन्होंने अपने साम्राज्य को अतिशय विस्तृत किया। इस कारण इनको सम्राटों के वर्ग में परिगणित किया गया है[१८५]।

क्षत्रिय-ब्राह्मणसम्बन्ध

(१) क्षत्रब्राह्मण

पुराण की राजवंशावली की नामावली में अनेक बार "क्षत्रोपेत द्विजातय:" शब्द का उल्लेख हुआ है। पौराणिक प्रतिपादन से अवगत होता है कि "क्षत्रोपेत द्विज" नाम से उन क्षत्र सन्तानों को सम्बोधित किया जाता था जो क्षत्रिय कुल में जन्म ग्रहण कर भी अपने आचरण से विप्रत्व में समाविष्ट हो जाते थे। ऐसे कतिपय क्षत्रोपेत विप्रों का विवरण निम्नाङ्कित है:—

(क) रथीतर के सम्बन्ध में यह श्लोक प्रसिद्ध है—"रथीतर के वंशज क्षत्रिय सन्तान होते हुए भी आंगीरस कहलाये अत: वे क्षत्रोपेत ब्राह्मण हुए[१८६]।

(ख) गाधेय विश्वामित्र से मधुच्छन्द, धनंजय, कृतदेव, अष्टक, कच्छप एवं हारीतक नामक पुत्र हुए। उनसे अन्यान्य ऋषिवंशों में विवाह ने योग्य बहुत से कौशिक गोत्र हुए[१८७]।

(ग) अप्रतिरथ का पुत्र कण्व और कण्व का मेधातिथि हुआ जिसकी सन्तान काण्वायन ब्राह्मण हुए।

---

established a paramount position over more or less extensive regions around their own kingdoms. There is a list of sixteen celebrated monarchs and their doings, which is called the Ṣoḍaśa–rājika.

—ए० इ० हि० 39

१८४. वही ४१

१८५. वही २५८

१८६. एते क्षत्रप्रसूता वै पुनश्चांगिरसाः स्मृताः।
रथीतराणां प्रवराः क्षत्रोपेता द्विजातयः॥ —४।२।१०

१८७. तु० कृ० ४।७।३८–३९

(घ) गर्ग से शिनि का जन्म हुआ जिससे गार्ग्य और शैन्य नामक विख्यात क्षत्रोपेत ब्राह्मण हुए।

(ङ) दुरुक्षय के पुत्र त्र्य्यारुणि, पुष्करिण्य और कपि नामक तीन पुत्र उत्पन्न होकर पीछे ब्राह्मण हो गये[१८८]।

(च) अजमीढ से कण्व और कण्व से मेधातिथि नामक पुत्र उत्पन्न हुआ जिससे काण्वायन ब्राह्मण उत्पन्न हुए।

(छ) मुद्गल से मौद्गल्य नामक क्षत्रोपेत ब्राह्मणों की उत्पत्ति हुई[१८९]।

उपर्युक्त विवरण में काण्वायन ब्राह्मणों के दो प्रसंग मिले। अन्तर यही है कि विवरण "ग" में अप्रतिरथ के पुत्र कण्व का पुत्र मेधातिथि हुआ और विवरण "च" में अजमीढ के पुत्र कण्व का पुत्र मेधातिथि हुआ। प्रतीत होता है कि काण्वायन गोत्र दो वर्गों में विभक्त है—एक आप्रतिरथ कण्व से और द्वितीय आजमीढ कण्व से। संभव है दोनों पृथक् पृथक् व्यक्ति हों।

ऋग्वेदकालीन वर्ण व्यवस्था के सम्बन्ध में विद्वानों के मत विभिन्न हैं, किन्तु इस विषय में साधारण दृष्टिकोण यह है कि वर्णव्यवस्था का अधिक विकास वैदिक युग के अन्तिम काल में हुआ। यह भी संकेत मिलता है कि राजा और पुरोहित केवल जन्म के अधिकार से ज्ञात नहीं होते थे[१९०]।

(२) क्षत्रिय-ब्राह्मण विवाह

निम्नलिखित कतिपय प्रसंगों से अवगत होता है कि पौराणिक युग में वैवाहिक बन्धन के कारण क्षत्रिय-ब्राह्मण परस्पर में सम्बन्धित थे :—

(क) स्वायंभुव मनु के पुत्र महाराज प्रियव्रत ने कार्दमी (कर्दम ऋषि की पुत्री) से विवाह किया[१९१] था।

(ख) महाराज शर्याति की "सुकन्या" नामक कन्या से च्यवन ऋषि ने विवाह किया था[१९२]।

(ग) महर्षि सौभरि ने चक्रवर्ती मान्धाता की समस्त कन्याओं से विवाह किया था[१९३]।

---

१८८. तु० क० ४।१९।५-७ और २३-२६

१८९. तु० क० ४।१९।३०-३२ और ६०

१९०. क० हि० वा० १४३

१९१. कर्दमस्यात्मजां कन्यामुपयेमे प्रियव्रतः। —२।१।५

१९२. शर्यातिः कन्या सुकन्यानामाभवत् यामुपयेमे च्यवनः॥ —४।१।६२

१९३. वही ४।२।९५-९६

(घ) गाधि ने सत्यवती नाम की कन्या को जन्म दिया। उस कन्या से भृगुपुत्र ऋचीक ने विवाह किया।

(ङ) जमदग्नि ने इक्ष्वाकु कुलोत्पन्न रेणु की कन्या रेणुका से विवाह किया था जिससे अशेष क्षत्रनिहन्ता परशुराम उत्पन्न हुए[१९४]।

(च) नहुष पुत्र राजा ययाति ने शुक्राचार्य की पुत्री देवयानी से विवाह किया था[१९५]।

(छ) बृहदश्व से दिवोदास नामक पुत्र और अहल्या नामक एक कन्या का जन्म हुआ था। अहल्या से शरद्वत् (महर्षि गौतम) के शतानन्द का जन्म हुआ[१९६]।

वैदिक युगों में ब्राह्मणों के साथ क्षत्रियों के घनिष्ठ और सफल सम्बन्ध का विवरण बहुधा दृष्टिगोचर होता है। राजन्य कन्याओं के ब्राह्मणों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध का चित्रण भी उपलब्ध होता है। राजा शर्याति की सुकन्या नामक कन्या के च्यवन ऋषि के साथ और रथवीति की दुहिता के श्यावाश्व के साथ विवाह का प्रसंग चित्रित हुआ है। किन्तु इस प्रकार के उदाहरण न्यून मात्रा में ही मिलते हैं। पश्चात्कालीन संहिताओं के समय में प्रायः स्ववर्ण या स्वजाति के भीतर ही वैवाहिक प्रथा सीमित हो गई थी, फिर भी इस नियम में उस समय इतनी कठोरता नहीं थी जितनी पीछे चल कर हो गई। हम देखते हैं कि जातक साहित्यों के समय में ही स्वजाति के भीतर वैवाहिक व्यवस्था का सामान्य रूप से प्रचलन हो चुका था, यद्यपि इस नियम के उल्लंघन के उदाहरण भी हैं और इस प्रकार के मिश्रित विवाह से उत्पन्न सन्तानों की स्वीकृति औरस या वैध रूप में ही होती रही है[१९७]।

ध्वनित होता है कि सृष्टि के प्रारंभिक कालों में समाज के नियमों में कुछ अधिक उदारता थी—इतना कठोर बन्धन नहीं था, जितना पीछे चल कर होता गया। देश और काल के अनुसार समाज के रूप में भी विभिन्नता होती रही है और प्रत्येक युग में न्यूनाधिक मात्रा में कुछ अपवाद भी अवश्य ही रहे हैं।

(३) वैश्य

पुराण में वैश्य के सम्बन्ध में विशेष विवरण नहीं मिलता है। इस अध्याय के प्रारंभ में विचार किया जा चुका है कि चातुर्वर्ण्य के सृष्टि के क्रम में ब्रह्मा के

---

१९४. तु० क० ४।७।१२-१६ और ३५
१९५. वही ४।१०।४
१९६. शरद्वतश्चाहल्यायां शतानन्दोऽभवत् ॥ —४।१९।६३
१९७. क० हि० वा० १४६

उरुद्वय से एक रजस् और तमस्विशिष्ट प्रजा उत्पन्न हुई और उसे वैश्य नाम से अभिहित किया गया। लोकपितामह ब्रह्मा ने वैश्यों के लिए पशुपालन, वाणिज्य और कृषि—ये तीन व्यापार जीविकारूप से विहित किये हैं। अध्ययन, यज्ञ, दान और नित्य नैमित्तिकादि कर्मों का अनुष्ठान—ये उनके लिए भी विधेय हैं। आपत्तिकाल में वैश्य वर्ण की वृत्ति का अवलम्बन ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्णों को करना विहित माना गया है[१९८]। एक प्रसंग में कहा गया है कि दिष्ट (क्षत्रिय) का नाभाग नामक पुत्र वैश्य हो गया था[१९९]। अन्य प्रसंग में कथन है कि वैश्यों को मारने से ब्रह्महत्या का पाप लगता है[२००]। कलिधर्मनिरूपण के प्रसंग में कहा गया है कि वैश्य कृषि वाणिज्यादि अपने कर्मों को त्याग कर शिल्पकारी आदि से जीवन निर्वाह करते हुए शूद्रवर्ण की वृत्ति में प्रवृत्त हो जायेंगे[२०१]।

वैदिक साहित्य में जिस परिमाण से ब्राह्मणों और क्षत्रियों का चरित्र-चित्रण मिलता है उसकी अपेक्षा अत्यन्त ही न्यून---नगण्य मात्रा में वैश्य वर्ण का विवरण उपलब्ध होता है। वैश्य यथार्थतः कृषिकर्मा होते थे और उन्होंने गोचारण एवं वाणिज्यवृत्ति को अपनाया था। वैश्यों ने अपनी गोष्ठी बनाई थी, जिसमें शूद्रों को सम्मिलित नहीं किया[२०२] गया।

मार्कण्डेय पुराण में आध्यात्मिक उन्नति के उच्चतम पद पर पहुंचे समाधि नामक एक वैश्य जाति का प्रसंग आया है। एक समय वह अपने स्त्री-पुत्रों के अत्याचार से पीडित हो कर वन में मेधा नामक एक मुनि के आश्रम में गया। कुछ दिनों तक मुनि के आश्रम में रहने के अनन्तर ज्ञानप्राप्ति के सम्बन्ध में उनसे उपदेश पाकर किसी नदी के तट पर वह महामाया का तपश्चरण करने लगा। उसने निरन्तर तीन वर्ष तक निराहार तथा यताहार रह कर चण्डिका देवी की घोर आराधना की। उसकी उग्र साधना तथा तीव्र (एकान्त) आराधना से सन्तुष्ट होकर जगद्धात्री चण्डिका देवी उस वैश्य के समक्ष साकार रूप में प्रकट हुई और समाधि को अभीप्सित वर मांगने को कहा। तदनुसार उस वैश्य समाधि ने भगवती महामाया से परम आत्मज्ञान प्राप्त कर लिया[२०३] था।

---

१९८. तु० क० ३।८।२८-२९

१९९. दिष्टपुत्रस्तु नाभागो वैश्यतामगमत्। —४।१।१९

२००. वही ४।१३।१०९

२०१. वही ६।१।३६

२०२. वै० इ० २।३७२-३७४

२०३. तु० क० दु० स० १ और १३

इस प्रसंग से अवगत होता है कि पौराणिक युग में वैश्य वर्ग भी न्यूनाधिक मात्रा में आध्यात्मिक लक्ष्य पर अग्रसर अवश्य था।

अपने पुराण में गोपालकृष्ण अपने साथ नन्द आदि गोपालों की वृत्ति का विभाजन करते हुए कहते हैं कि वार्ता नाम की विद्या ही कृषि, वाणिज्य और पशुपालन—इन तीन वृत्तियों की आश्रयभूता है। वार्ता के इन तीन भेदों में से कृषि किसानों की, वाणिज्य व्यापारियों की और गोपालन हम लोगों की उत्तम वृत्ति है[२०४]। इससे गोप जाति की वैश्यवर्णता सिद्ध हो जाती है, क्यों कि यहाँ गोपजाति की वृत्ति गोपालन निर्धारित किया गया है जो वैश्य वर्ण के लिए ही ब्रह्मा ने चातुर्वर्ण्य के व्यवस्थापन के समय निर्दिष्ट कर दिया है।

वैश्य का नाम सर्वप्रथम ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में आया है और तत्पश्चात् अथर्ववेद आदि वाङ्मयों में "वैश्य" का प्रयोगबाहुल्य दृष्टिगोचर होता है[२०५]। ऋग्वेद में "विश्" शब्द का प्रयोग बारम्बार हुआ है, किन्तु विभिन्न अर्थों में। कभी कभी इसका प्रयोग प्रजाजाति के अर्थ में हुआ है और यदा कदाचित् "जऊ" के पर्याय के रूप में। यह तो निश्चित ही है कि ऋग्वेद में प्रयुक्त प्रत्येक "विश्" शब्द वैश्य वर्ण का ही अर्थद्योतक नहीं है[२०६]। फ़िक के मतानुसार जातक साहित्यों में वैश्यों को किसी जाति रूप में नहीं माना गया है। मूल बौद्ध साहित्यों में प्रयुक्त "गहपति" शब्द का चतुर्वर्णान्तर्गत "वैश्यों" के साथ सादृश्य आभासित होता है[२०७]।

(४) शूद्र

समाज के चातुर्वर्ण्य के व्यवस्थापन प्रसंग में पहले कहा जा चुका है कि सृष्टिकर्ता के दोनों चरणों से शूद्र की उत्पत्ति हुई थी। प्रथम शूद्र को दीन और परमुखापेक्षी के रूप में विवृत कर द्विजातियों की प्रयोजनसिद्धि के लिए सेवाकर्म ही उसके लिए विधेय वृत्ति बतलायी गयी थी। किन्तु जब ब्रह्मा ने सामाजिक व्यवस्था की योजना का संशोधन किया तब शूद्र के लिए वस्तुओं के क्रय-विक्रय और शिल्पकला के द्वारा जीवनयापन की व्यवस्था की थी[२०९]।

---

२०४. तु० क० ५।१०।२८-२९

२०५ पा० टी० ३

२०६. वै० इ० २।३४२-३ और पा० टी० २०२

२०७. हि० ध० २।३२-३३

२०८. प्रि० बु० इ० २५५-७

२०९ द्विजातिसंश्रितं कर्म तादर्थ्यं तेन पोषणम्।
क्रयविक्रयजैर्वापि धनैः कारूद्भवेन वा ॥ —३।८।३२

पुनः उसी प्रसंग में कहा गया है कि "शूद्र अतिविनम्र होकर निष्कपट भाव से स्वामी की सेवा और ब्राह्मण की रक्षा करे। दान, अल्प यज्ञों का अनुष्ठान, अपने आश्रित कुटुम्बियों के भरण-पोषण के लिए सकल वर्णों से द्रव्यसंग्रह और ऋतुकाल में अपनी ही स्त्री से प्रसंग करे"[२१०]। कलिधर्मनिरूपण के प्रसंग में कहा गया है कि "कलियुग में अधम शूद्रगण संन्यासाश्रम के चिह्न धारण कर भिक्षावृत्ति में तत्पर रहेंगे और लोगों से सम्मानित होकर पाषण्ड-वृत्ति का आश्रय ग्रहण करेंगे"[२११]। कलिधर्म के वर्णन के क्रम में व्यास ने भी शूद्र को श्रेष्ठ और धन्य बतलाया है। मुनियों के द्वारा कारण पूछे जाने पर व्यास ने कहा था कि शूद्रों को द्विजातियों की सेवा में तत्पर होने मात्र से धर्म की सिद्धि हो जाती है[२१२]।

ऋग्वेद में पुरुषसूक्त के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भी 'शूद्र' शब्द का उल्लेख नहीं हुआ है। ऋग्वेद में "दस्यु" अथवा "दास"—इन दो शब्दों की चर्चा आदिवासी और अधिकृत किंकर के रूप में हुई है। पश्चात्कालीन वैदिक साहित्यों में शूद्रों का नामोल्लेख हुआ है, किन्तु वे भी आदिवासी ही थे, जो आर्यों के द्वारा किंकर के रूप में अधिकृत कर लिये गये। यह शब्द प्रायः उन को लक्षित करता है जो आर्यों की अधिकृत राज्यसीमा के बाहर के थे। ऐतरेय ब्राह्मण में प्रतिपादन है कि यह (शूद्र) एकमात्र "पराधीन दास है और स्वामी अपनी इच्छा से उसे बहिष्कृत कर सकता है और उसकी हत्या भी कर सकता है अर्थात् दास का जीवन और मरण सर्वथा स्वामी के अधीन हैं" पंचविंश ब्राह्मण का मत है कि यदि शूद्र समृद्धिशाली भी हो तो भी पराधीन दास के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है और स्वामी का पादप्रक्षालन करना ही उसका विधेय कर्म है[२१३]। यद्यपि जातक साहित्यों के जातियों के वर्णनक्रम में "शुद्द" शब्द का उल्लेख हुआ है, किन्तु चतुर्थ वर्ण "शूद्र" के सम्बन्ध में कोई विवरण नहीं मिलता। तत्कालीन पूर्वीय भारत के सामाजिक चित्रण में निम्न जातियों के बहुधा प्रसंग आये हैं। यथा—चाण्डाल इत्यादि[२१४]। धर्मशास्त्र में विविध प्रकार से शूद्रों में दोष प्रदर्शित किये गये हैं[२१५]।

---

२१०. तु० क० ३।८।३३–३५

२११. भैक्षव्रतपराः शूद्राः प्रव्रज्यालिङ्गिनोऽधमाः।
पाषण्डसंश्रयां वृत्तिमाश्रयिष्यन्ति सत्कृताः॥ —६।१।३७

२१२. शूद्रैश्च द्विजशुश्रूषातत्परैर्द्विजसत्तमाः। —६।२।३५

२१३. क० हि० वा० १४९–१५०

२१४. सो० आ० इ० ३१४

२१५. हि० ध० २।१५४

अवगत होता है कि समाज में शूद्रों के लिए कोई स्थान ही नहीं था। आदि काल से ही शूद्र समाज की ओर से उपेक्षित, तिरस्कृत और बहिष्कृत होते आ रहे हैं। आरंभकाल से ही इनके साथ पशु के सदृश व्यवहार होता आ रहा है। समाज की ओर से कभी और किसी प्रकार की भी सहानुभूति इन्हें नहीं दी गई। शिक्षा-दीक्षा की बात तो दूर रही—शूद्रों और पशुओं में किसी प्रकार का अन्तर नहीं रखा जाता था। इनके जीवन और मरण की भी समस्या पूर्ण रूप से स्वामी की ही इच्छा पर निर्भरित थी। अब इस परिस्थिति में हमारे लिए यह कथन कठिन हो जाता है कि यह विचारप्रवाह अथवा विधिविधान ऐहलौकिक अथवा पारलौकिक किसी भी दृष्टिकोण के अनुसार समाज के लिए हितकर था अथवा अहितकर, क्योंकि प्रत्येक विधि-विधान का निर्माण देशकालपात्र की हितभावना से ही किया जाता है। जो भी हो, किन्तु समाज में ऐसे नियम का प्रचलन तो था।

(५) चतुर्वर्णेतरजातिवर्ग

अपने पुराण में कतिपय ऐसी जातियों का नामोल्लेख हुआ है, जिनकी गणना चातुर्वर्ण्य के अन्तर्गत नहीं है। यथा—निषाद-(१।१३।३४-३६), चाण्डाल-(४।३।२२–२३), शक, यवन, काम्बोज, पारद और पह्लव—(४।३।४२), गर्दभिल, तुरुष्क और मुण्ड-(४।२४।५१-५३), कैङ्किल-(४।२४।५५) कैवर्त, वटु और पुलिन्द-(४।२४।६२), व्रात्य-(४।२४।६९), दैत्य, यक्ष, राक्षस, पन्नग (नाग), कूष्माण्ड और पिशाच आदि-(५।३०।११) दस्यु, आभीर और म्लेच्छ-(५।३८।१३-१४, २६-२८)। अमरसिंह ने निषाद को चाण्डाल का पर्याय माना है[२१६]।

चाण्डाल—

पुराण में चाण्डाल का भी प्रसंग आया है। प्रसंग यह है कि त्र्यारुणि का सत्यव्रत (त्रिशंकु) नामक पुत्र (किसी कारण से) चाण्डाल हो गया था। एक बार बारह वर्ष तक अनावृष्टि रही। उस समय विश्वामित्र मुनि के परिवारों के पोषणार्थ तथा अपनी चाण्डालता छुड़ाने के लिए वह गङ्गा के तटस्थ एक वट-वृक्ष पर प्रतिदिन मृग का मांस बांध आता था[२१७]। स्मृति के अनुसार शूद्र और ब्राह्मणी के संयोग से चाण्डाल की उत्पत्ति हुई है और वह समस्त धर्मों से बहिष्कृत माना गया है[२१८]।

---

२१६. अ० को० २।१०।१९-२०
२१७. तु० क० ४।३।२२-२३
२१८. ब्राह्मण्यां। शूद्राज्जातस्तु चण्डालः सर्वधर्मबहिष्कृतः।
—या० स्मृ० १।४।९३

पार्जिटर ने निषाद, पुलिन्द, दैत्य, राक्षस, नाग, दस्यु, पिशाच और म्लेच्छ आदि जातियों को आदिवासी, असभ्य, अशिक्षित और उद्दण्ड शक्तिशाली के रूप में स्वीकृत किया है[२१९]। अपने पुराण में भी दस्यु, आभीर और म्लेच्छों की चर्चा लुटेरों के रूप में हुई है। ये अर्जुन के द्वारा नीयमान द्वारकावासी वृष्णि और अन्धकवंश की स्त्रियों को लेकर चले गये थे[२२०]।

व्यावसायिकजाति—

कतिपय व्यावसायिक प्रजाजातियों का भी उपमा के रूप में उल्लेख हुआ है। यथा—

औरभ्रिक (२।६।२५)
कुलाल (२।८।२९)
तैलपीड (तेली) (२।१२।२७)
कैवर्त्त (मछुआ या मल्लाह (२।२४।६२)
रजक (धोबी) (५।१९।१४)
मालाकार (५।१९।१७)
हस्तिप (महावत) (५।२०।२२)

पाणिनि ने औरभ्रक शब्द का प्रयोग मेषसमूह के अर्थ में किया है[२२१]। अवगत होता है कि वैयाकरण पाणिनि के युग में औरभ्रिक्र जाति व्यावसायिक वर्ग के अन्तर्गत अपना अस्तित्व रखती थी। पाणिनि के युग में कुलाल जाति की गणना शिल्पिवर्ग में होती थी और उस समय भी यह जाति मृत्तिकामय पात्र निर्माण कर अपनी आजीविका चलाती थीं। व्याकरण के एक उदाहरण मे कुलाल के द्वारा निर्मित मृण्मय भाण्ड को कौलालक की संज्ञा दी गई है[२२२]। रजक जाति का उल्लेख भी पाणिनि ने शिल्पी के अर्थ में किया है[२२३]। बौद्ध-परम्परागत पालिसाहित्य के दीघनिकाय, मज्झिमनिकाय, अंगुत्तरनिकाय, चरियापिटक, जातक और धम्मपद आदि ग्रन्थों में कैवर्त्त के लिए केवट्ट शब्द का मत्स्यजीवी (मछुआ) जाति के अर्थ में प्रयोग बहुधा दृष्टिगोचर होता है[२२४]।

---

२१९. ए० इ० ही० २९०-२९१
२२०. तु० क० ५।३८
२२१. पा० व्या० ४।२।३९
२२२. वही ४।३।११८
२२३. वही ३।१।१४४
२२४. पा० ई० डि० (K) ५१

(६) स्त्रीवर्ग

प्रस्ताव—

स्त्रियों के प्रति लोक का सामान्य दृष्टिकोण क्या था ? कुमारी कन्या, पत्नी और माता के रूप में इनका अधिकार क्या था ? इनका साधारण लौकिक आचरण कैसा था ? वैवाहिक प्रथा और दाम्पत्यजीवन में इनकी अवस्था क्या थी इत्यादि स्त्रीसम्बन्धी आवश्यक विषयों का सामान्य विवेचन करना इस प्रसंग का मुख्य विषय है।

लौकिक दृष्टिकोण—

स्त्रीजाति के प्रति लोक के दृष्टिकोण विविध प्रकार के थे। उन में कतिपय पौराणिक उदाहरणों का उल्लेखन आवश्यक प्रतीत होता है।

(१) कण्डु नामक एक घोर तपस्वी का प्रसंग आया है। अपने तपश्चरण काल की अवधि में उन मुनीश्वर ने प्रम्लोचा नामक एक मंजुहासिनी स्वर्गीय अप्सरा के साथ विषयासक्त होकर मन्दराचल की कन्दरा में नौ सौ सात वर्ष, छः मास और तीन दिन व्यतीत कर दिये थे, किन्तु इतनी लम्बी अवधि उन्हें केवल एक दिन के समान अनुभूत हुई। इस काल के मध्य में अनेक बार उस अप्सरा ने मुनि से अपने स्वर्गलोक को जाने की अनुमति मांगी थी किन्तु विषयासक्त मुनि ने उसे जाने नहीं दिया और कहा–हे शुभे, दिन अस्त हो चुका है अतः अब मैं सन्ध्योपासना करूँगा, नहीं तो नित्यक्रिया नष्ट हो जायगी"। इस पर प्रम्लोचाने हँस कर कहा—"हे सर्वधर्मज्ञ, क्या आज ही आपका दिन अस्त हुआ है ? अनेक वर्षों के पश्चात् आज आप का दिन अस्त हुआ है—इस से किस को आश्चर्य न होगा ?"

इस प्रकार उस अङ्गना ही के द्वारा अवबुद्ध हो कर मुनि ने स्त्रीजाति को धिक्कारते हुए कहा—"स्त्रीजाति की रचना केवल मोह उत्पन्न करने के लिए की गई है। नरक-ग्राम के मार्गरूप स्त्री के संग से वेदवेद्य (भगवान्) की प्राप्ति के कारणरूप मेरे समस्त व्रत नष्ट हो गये[२२५]।

(२) वैवाहिक प्रसंग में अतिकेशा, अतिकृष्णवर्णा आदि कतिपय विशिष्टाकृति स्त्रियों से विवाह करना पुरुषजाति के लिए गर्हित बतला कर स्त्रियों की निम्नता का संकेत किया गया है।

---

२२५. तु० क० १।१५।१३–३८

(३) गृहस्थसम्बन्धी सदाचार के वर्णन में कहा गया है कि बुद्धिमान् पुरुष को स्त्रियों का अपमान न करना चाहिये, उनका विश्वास भी न करना चाहिये तथा उनसे ईर्ष्या और उनका तिरस्कार भी न करना चाहिये[२२६]।

(४) राजसूय यज्ञानुष्ठाता चन्द्रमा के राजमद के प्रसंग में कहा गया है कि मदोन्मत्त हो जाने के कारण चन्द्रमा ने समस्त देवताओं के गुरु बृहस्पति की पत्नी तारा का हरण कर लिया और बृहस्पति से प्रेरित ब्रह्मा के कहने तथा देवर्षियों के मांगने पर भी उसे न छोड़ा।

(५) विश्वाची और देवयानी के साथ विविध भोगों को भोगते हुए "मैं कामाचरण का अन्त कर दूँगा"—ऐसे सोचते-सोचते नहुष के पुत्र राजा ययाति प्रतिदिन (भोगों के लिए) उत्कण्ठित रहने लगे और निरन्तर भोगते-भोगते उन कामनाओं को अत्यन्त प्रिय मानने लगे।

(६) राजा ज्यामघ ने एक युद्ध में अपनी विजय के पश्चात् एक विशालाक्षी, राजकन्या को प्राप्त किया था। नरपति ने अपनी पत्नी शैव्या से आज्ञा लेकर उन कन्या से विवाह करना चाहता था। अपने निवासस्थान पर ले जाने पर राजा ने उस राजकन्या को अपनी पुत्रवधू बतलाया। शैव्या ने पूछा—"आप का तो कोई पुत्र नहीं है फिर किस पुत्र के कारण आपका इससे पुत्रवधू का सम्बन्ध हुआ?" शैव्या की इस जिज्ञासा से विवेकहीन और भयभीत राजा ने कहा—"तुम्हारा जो पुत्र होगा, यह कन्या उसी की पत्नी होगी[२२७]।

(७) एक स्थल पर कहा गया है कि कलियुग में स्त्रियाँ अपने धनहीन पति को त्याग देंगी और सुन्दर पुरुषों की कामना से स्वेच्छाचारिणी बन जायेंगी। कलियुग की स्त्रियाँ विषयलोलुप, खर्वाकृति, अतिभोजना, बहुसन्ताना और मन्दभाग्या होंगी। पतियों के आदेश का अनादरपूर्वक खण्डन करेंगी। अपनी ही उदरपूर्ति में तत्पर, क्षुद्रचित्त, शारीरिक शौच से हीन एवं कटु और मिथ्याभाषिणी होंगी। उस समय (कलियुग) की कुलांगनाएँ निरन्तर दुश्चरित्र पुरुषों की कामना से दुराचारिणी होकर पुरुषों के साथ असद्-व्यवहार करेंगी[२२८]।

---

२२६. वही ३।१०।१६-२२ और ३।१२।३०

२२७. वही ४।६।१०–११, ४।१०।२०–२१ और ४।१२।१७-२१

२२८. तु० क० ६।१।१७-३१

(८) एक अन्यतम प्रसंग में कृष्णद्वैपायन कहते हैं कि शूद्रों को द्विज-सेवा में परायण होने और स्त्रियों को पति की सेवामात्र करने से अनायास ही धर्म की सिद्धि हो जाती है[२२९]।

पौराणिक विवरणों से अवगत होता है कि स्त्रीजाति का समाज में कोई स्वतन्त्र स्थान नहीं था। स्त्रियाँ पुरुषों के इच्छाधीन उपभोग के लिए उपकरण मात्र थीं। चल सम्पत्ति के रूप में स्त्रियों का उपभोग किया जाता था।

ऋग्वेद में हम पाते हैं कि विवाह के समय में ही पत्नी को एक आदरणीय स्थान दे दिया जाता था और वह अपने पति के गृह की स्वामिनी वन जाती थी किन्तु पश्चात्कालीन संहिताओं और ब्राह्मणग्रन्थों में पत्नी के सम्मान में न्यूनता का भी प्रतिपादन मिलता है। मैत्रायणी संहिता में तो द्यूत और मद्य के साथ विलासिता की सामग्रियों में इसकी गणना की गई है। प्राचीन बौद्धसम्प्रदाय में स्त्रीजाति के प्रति अधिक सम्मान प्रदर्शन का विवरण उपलब्ध नहीं होता है। स्वयं बुद्ध स्त्रीजाति को संघ में प्रविष्ट करने में अनिच्छुकसे थे और इसी लिए कुमार श्रमणाओं (भिक्षुणियों) के लिए अलग नियम की व्यवस्था की गई है। जातकसाहित्यों में स्त्रियों के दुष्ट स्वभाव का बहुधा विवरण मिलता है। प्राचीन धर्मशास्त्रों में भी स्त्रीजाति के गौरव के क्रमिक ह्रास का प्रसंग मिलता है और इसी कारण इसे आजीवन स्वतन्त्रता से वंचित रखा गया है तथा इस जाति के चरित्र पर भी दोषारोपण किया गया है। वैदिक युग में दीक्षा आदि धार्मिक और सामाजिक संस्कारों में स्त्रियों का पुरुषों के समान ही अधिकार था। वेदों में स्त्री को शूद्रों की श्रेणी में वर्णित नहीं किया गया है और जातक साहित्य भी इस दिशा में मौन हैं।

पत्नी के रूप में

विष्णुपुराण में पतिपत्नी के पारस्परिक सम्बन्ध और व्यवहार के विभिन्न प्रकार से उदाहरण दृष्टिगोचर होते हैं। यथा :—

(१) भगवान् रुद्र ने प्रजापति दक्ष की अनिन्दिता पुत्री सती को अपनी भार्यारूप से ग्रहण किया। जब सती अपने पिता पर कुपित होने के कारण अपना शरीर त्याग कर मेना के गर्भ से हिमाचल की पुत्री (उमा) हुई तब भगवान् शंकर ने उस अनन्यपरायणा उमा से फिर भी विवाह किया[२३०]।

---

२२९. शूद्रैश्च द्विजशुश्रूषातत्परैः ... ।
तथा स्त्रीभिरनायासात्पतिशुश्रूषयैव हि ॥ —६।२।३५

२३०. तु० क० १।८।१२-१४

(२) विष्णु के विषय में पौराणिक प्रतिपादन है कि इनका लक्ष्मी के साथ पत्नीसम्बन्ध सदा और सर्वत्र अक्षुण्ण रूप से अपना अस्तित्व रखता है। देव, तिर्यक् और मनुष्य आदि योनियों में पुरुष के रूप में भगवान् हरि रहते हैं और नारी के रूप में श्री लक्ष्मी की उनके साथ सर्वत्र व्यापकता रहती है[२३१]।

(३) स्वायंभुव मनु के पुत्र राजा उत्तानपाद के विषय में कथन है कि वे अपनी सुरुचि नामक पत्नी में अधिक प्रेमासक्त थे। सुनीति नामक द्वितीय पत्नी में उनका अनुराग नहीं था। एक दिन राजसिंहासन पर आसीन पिता की गोद में अपने सौतेले भाई उत्तम को बैठा देख सुनीति के पुत्र ध्रुव की इच्छा भी गोद में बैठने की हुई। किन्तु राजा ने अपनी प्रेयसी पत्नी सुरुचि के समक्ष, गोद में चढ़ने के लिए उत्कण्ठित होकर आये हुए उस पुत्र का आदर नहीं किया[२३२]।

(४) विश्वकर्मा की पुत्री संज्ञा सूर्य की भार्या थी। उससे उनके मनु, यम और यमी तीन सन्तानें हुईं। कालान्तर में पति का तेज सहन न कर सकने के कारण संज्ञा छाया को पति की सेवा में नियुक्त कर स्वयं तपश्चरण के लिए वन को चली गई। सूर्य ने छाया को संज्ञा ही समझ कर उससे शनैश्चर, एक अन्य मनु और तपती—तीन सन्तानें उत्पन्न कीं। एक दिन जब छाया-रूपिणी संज्ञा ने क्रोधित होकर यम को शाप दिया तब सूर्य और यम को विदित हुआ कि यह तो कोई अन्य ही है। तब छाया के द्वारा ही सारे रहस्य के खुल जाने पर सूर्य ने समाधि में स्थित होकर देखा कि संज्ञा घोड़ी का रूप धारण कर तपस्या कर रही है। अतः उन्होंने भी अश्वरूप होकर उस से दो अश्विनीकुमार और रेवन्त को उत्पन्न किया[२३३]।

(५) पुराण में शतधनु राजा और उनकी धर्मपरायणा पत्नी शैब्या का प्रसंग है। राजा शतधनु को कुछ अनिवार्य पापाचरण के कारण क्रमशः कुक्कुर, शृगाल, वृक, गृध्र, काक और मयूर आदि निकृष्ट योनियों में जन्म ग्रहण करना पड़ा था। धर्मपरायणा उनकी पत्नी शैब्या अपने योगबल से पति को कुक्कुरादि प्रत्येक योनि में उत्पन्न जानकर पूर्वजन्म के वृत्तान्त का स्मरण कराती हुई उनका उद्धार करती गई। जब पापमुक्त होने पर शतधनु ने महात्मा

---

२३१. तु० क० १।८।१७-३५
२३२. वही १।११।१-५
२३३. वही ३।२।२-७

जनक के पुत्र के रूप में जन्म ग्रहण किया तब फिर शैव्या ने उस पति को पतिभाव से वरण कर लिया[२३४]।

(६) सौभरि ऋषि के प्रसंग में कहा गया है कि वे पुत्र, गृह, आसन, परिच्छद आदि सम्पूर्ण पदार्थों को त्यागकर अपनी अशेष पत्नियों के सहित वन में चले गये थे[२३५]।

(७) राजा ज्यामघ के पत्नीव्रत के सम्बन्ध में कथन है कि संसार में पत्नी के वशीभूत जो जो राजा होंगे और जो जो पूर्व में हो चुके हैं उनमें शैव्या का पति ज्यामघ ही श्रेष्ठ है। उसकी पत्नी शैव्या यद्यपि निःसन्तान थी तथापि सन्तानेच्छुक होकर भी ज्यामघ ने शैव्या के भय से अन्य स्त्री से विवाह नहीं किया[२३६]।

(८) कृष्ण और सत्यभामा के प्रेमप्रसंग में वर्णन आया है कि जब कृष्ण के साथ सत्यभामा इन्द्र के नन्दनवन में पारिजात वृक्ष को देख कर पति से बोली—"हे कृष्ण, इस वृक्ष को द्वारकापुरी में क्यों नहीं ले चलते ? आपने अनेक बार मुझसे यह प्रियवचन कहा है कि आपको जितनी मैं प्यारी हूँ उतनी न जाम्बवती है और न रुक्मिणी ही। हे गोविन्द, यदि आपका यह कथन सत्य है तो मेरी इच्छा है कि मैं अपने केशकलाप में पारिजातपुष्प गूँथ कर अपनी अन्य सपत्नियों में सुशोभित होऊं"। सत्यभामा के इस प्रकार कहने पर हरि ने हँसते हुए पारिजात वृक्ष को गरुड पर रख लिया।

(९) वनरक्षकों के द्वारा सत्यभामा और कृष्ण के इस वृत्तान्त को जान कर शची ने अपने पति देवराज इन्द्र को उत्साहित किया। इन्द्राणी से उत्तेजित होकर देवराज इन्द्र पारिजात वृक्ष को छुड़ाने के लिए सम्पूर्ण देवसेना के सहित हरि से युद्ध करने को चल दिये[२३७]।

धर्मशास्त्रों में भी वर्ण और धर्मानुकूल वैवाहिक बन्धन को पवित्र और ऋग्वेद के समान प्राचीन माना गया है[२३८]। विष्णुपुराण में भी प्रतिपादन है

---

२३४. वही ३।१८।५२–८८

२३५ सौभरिरपहाय पुत्रगृहासनपरिच्छदादिकमशेषमर्थजातं सकलभार्यासमन्वितो वनं प्रविवेश ॥ —४।२।१२९

२३६. ज्यामघस्य श्लोको गीयते ॥
भार्यावश्यास्तु ये केचिद्भविष्यन्त्यथवा मृताः।
तेषां तु ज्यामघः श्रेष्ठश्शैव्यापतिरभून्नृपः ॥ —४।१२।१२–१३

२३७. तु० क० ५।३०।३४–३८ और ५२–५३

२३८. हि० ध० २।४२७ और पो० वि० इ० ३४

कि धर्मानुकूल विधि से दारपरिग्रह कर सहधर्मिणी के साथ गार्हस्थ्य धर्म का पालन करना चाहिये, क्योंकि यह महान् फलप्रद है[२३९]।

ध्वनित होता है कि अपने सौन्दर्य और सुशीलता आदि अलौकिक एवं आकर्षक गुणों से पत्नी अपने पति को अपने प्रति मोहित कर लेती थी और पत्नी का साहचर्य धार्मिक भाव से प्रतिष्ठित तथा अनिवार्य था। अत एव लोक और परलोक सर्वत्र पति अपनी विशिष्ट पत्नी की ही कामना करता था। तदनुरूप पत्नी भी धार्मिक भावनाओं से प्रेरित होकर पति के सार्वत्रिक कल्याण के लिए सर्वथा चेष्टाएँ करती थी।

माता के रूप में

विष्णुपुराण में माताओं का दर्शन हमें विविध रूपों में प्राप्त होता है। यथा—

(१) स्वायम्भुव मनु के पुत्र उत्तानपाद की प्रेयसी पत्नी सुरुचि से पिता का अत्यन्त लाडला उत्तम नामक पुत्र हुआ और सुनीति नामक की जो राज-महिषी थी उसमें उसका विशेष प्रेम नहीं था। सुनीति का पुत्र ध्रुव हुआ। एक दिन राजसिंहासनासीन पिता की गोद में अपने भाई उत्तम को उपविष्ट देख ध्रुव की इच्छा भी गोद में बैठने की हुई। अपनी सपत्नी के पुत्र को गोद में चढ़ने के लिए उत्सुक देख सुरुचि ने भर्त्संना के शब्दों में कहा—"अरे वत्स, मेरे उदर से न उत्पन्न एवं किसी अन्य स्त्री का पुत्र होकर भी तू व्यर्थ क्यों ऐसा मनोरथ करता है? अविवेक के कारण ऐसी उत्तमोत्तम वस्तु की कामना करता है। समस्त चक्रवर्ती राजाओं का आश्रयरूप यह राजसिंहासन मेरे ही पुत्र के योग्य है। मेरे पुत्र के समान तुझे वृथा ही यह उच्च मनोरथ क्यों होता है? क्या तू नहीं जानता कि तेरा जन्म सुनीति से हुआ है"[२४०]।

(२) गाधि के जामाता ऋचीक ऋषि के प्रसंग में विवरण है कि ऋचीक ने अपनी पत्नी गाधेयी सत्यवती के लिए यज्ञीय चरु प्रस्तुत किया था उसी के द्वारा प्रसन्न किये जाने पर एक क्षत्रियश्रेष्ठ पुत्र की उत्पत्ति के लिए एक और चरु उसकी माता (गाधिपत्नी) के लिए भी प्रस्तुत किया। चरुओं के उपयोग के समय माता ने कहा—"पुत्री, सभी लोग अपने ही लिए सर्वाधिक गुणवान्

---

२३९. सधर्मचारिणीं प्राप्य गार्हस्थ्यं सहितस्तया।
समुद्वहेद्ददात्येतत्सम्यगूढं महाफलम्॥ —३।१०।२६

२४०. तु० क० १।११।१-१०

पुत्र चाहते हैं, अपनी पत्नी के भाई के गुणों में किसी की भी विशेष रुचि नहीं होती। अतः तू अपना चरु तो मुझे दे दे और मेरा तू ले ले, क्योंकि मेरे पुत्र को सम्पूर्ण भूमण्डल का पालन करना होगा और ब्राह्मणकुमार को तो बल, वीर्य तथा सम्पत्ति आदि से प्रयोजन ही क्या है[२४१]"।

(३) भरत की माता शकुन्तला के प्रसंग में देवगण का कथन है—"माता तो केवल चमड़े की धौकनी के समान है, पुत्र पर अधिकार तो पिता का ही है, पुत्र जिसके द्वारा जन्म ग्रहण करता है उसी का स्वरूप होता है[२४२]"।

(४) भगवान् देवकी से कहते हैं—"हे देवी, पूर्वजन्म में तूने जो पुत्र की कामना से मुझसे प्रार्थना की थी। आज मैंने तेरे गर्भ से जन्म लिया है। अतः तेरी वह कामना पूर्ण हो गई[२४३]। पुनः अन्य प्रसंग में भगवान् कहते हैं हे मातः, बलरामजी और मैं चिरकाल से कंस के भय से छिपे आप (माता-पिता) के दर्शनों के लिए उत्कण्ठित थे और आज आपका दर्शन हुआ है। जो समय माता-पिता की असेवा में व्यतीत होता है वह असाधु पुरुषों की आयु का भाग व्यर्थ ही जाता है। गुरु, देव, ब्राह्मण और माता-पिता का पूजन करते रहने से देहधारियों का जीवन सफल हो जाता है[२४४]"।

पौराणिक विवरणों में मातृरूपधारिणी स्त्रियों ने कहीं अपने हृदय की संकीर्णता का और कहीं अपनी स्वार्थान्धता का परिचय दिया है, किन्तु फिर भी उनकी सामाजिक स्थिति गुरु, देवता और ब्राह्मण के समान पूज्य रूप में स्वीकृत हुई है। वैदिक युग में पारिवारिकक्रम में पिता के पश्चात् माता की ही गणना है। धार्मिक कृत्यों में माता के प्रति सम्मान-प्रदर्शन का विवरण सूत्र-ग्रन्थों में विस्तृत रूप में उपलब्ध होता है[२४५]। जातक साहित्यों में भी माता के सामाजिक सम्मान का संकेत पाया जाता है[२४६]। सम्पूर्ण धर्मशास्त्रों में माता के रूप में स्त्रियों का स्थान अत्यन्त उच्चस्तरीय वर्णित हुआ है। कहीं-

---

२४१. वही ४।७।२१–२३

२४२. माता भस्त्रा पितुः पुत्रो येन जातः स एव सः। —४।१९।१२

२४३. स्तुतोऽहं यत्त्वया पूर्वं पुत्रार्थिन्या तदद्यते।
सफलं देवि सञ्जातं जातोऽहं यत्तवोदरात्॥ —५।३।१४

२४४. वही ५।२१।२–४

२४५. वै० इ० २।१६७

२४६. प्रि० बु० इ० २९१–२

कहीं तो गुरु और पिता आदि के साथ उसकी तुलना की गई है[२४७]। मनु ने तो कहा है कि माता का स्थान पिता की अपेक्षा सहस्र गुण उच्चतर है[२४८]।

अदण्डनीयता

जब पृथिवी के विरुद्ध प्रजाओं के द्वारा निवेदित होकर महाराज पृथु धनुष और बाण लेकर गोरूपधारिणी पृथिवी को दण्ड देने के लिए उसके पीछे दौड़े तब भय से कांपती हुई वह महाराज से बोली—"हे राजेन्द्र, क्या आपको स्त्रीवध का महापाप नहीं दीख पड़ता जो मुझे मारने पर आप इस प्रकार उद्यत हो रहे हैं[२४९]" ?

प्राचीन काल से यह मान्यता चली आ रही है कि किसी भी परिस्थिति में स्त्रियां अवध्य होती हैं[२५०]। शतपथ ब्राह्मण में भी स्त्री की अवध्यता[२५१] के प्रतिपादन के साथ कहा गया है कि केवल राजा (गौतमधर्मसूत्र और मनुस्मृति के अनुसार) निम्न जाति के पुरुष के साथ संगम करने पर स्त्री को प्राण-दण्ड दे सकता है, किन्तु इस दण्डविधान के कारण राजा के लिए थोड़ा प्रायश्चित्त भी विधेय है[२५२]।

शिक्षा

पुराण के परिशीलन से अवगत होता है कि उस युग में स्त्रीशिक्षा की मात्रा चरम सीमा पर पहुँची हुई थी। स्त्रीजाति की उच्च शिक्षा, तपश्चरण और योगसिद्धि के सम्बन्ध में अनेक उदाहरण उपलब्ध होते हैं। यथा :—

(१) स्वायम्भुव मनु ने तप के कारण निष्पाप शतरूपा नामक स्त्री को अपनी पत्नीरूप से ग्रहण किया था[२५३]।

(२) स्वधा से मेना और धारिणी नामक दो कन्याएँ उत्पन्न हुई थीं। वे दोनों ही उत्तम ज्ञान से सम्पन्न और सभी गुणों से युक्त ब्रह्मवादिनी तथा योगिनी थीं[२५४]।

---

२४७. हि० ध० ५८०-५८१

२४८. म० स्मृ० २।१४५

२४९. १।१३।७३

२५०. हि० ध० २।५९३

२५१. पो० वि० इ० ३८०

२५२. क० हि० वा० १५६

२५३. शतरूपां च तां नारीं तपोनिर्धूतकल्मषाम्।
स्वायंभुवो मनुर्देवः पत्नीत्वे जगृहे प्रभुः॥ —१।७।१७

२५४. तेभ्यः स्वधा सुते जज्ञे मेनां वै धारिणीं तथा॥

(३) बृहस्पति की भगिनी वरस्त्री, जो ब्रह्मचारिणी और सिद्धयोगिनी थी तथा अनासक्त भाव से समस्त भूमण्डल में विचरती थी, अष्टम वसु प्रभास की भार्या हुई। उस से महाभाग प्रजापति विश्वकर्मा का जन्म हुआ[२५५]।

(४) पुत्रों के नष्ट हो जाने पर दिति ने कश्यप को प्रसन्न किया। उसकी सम्यक् आराधना से सन्तुष्ट होकर तपस्वियों में श्रेष्ठ कश्यप ने उसे वर देकर प्रसन्न किया। उस समय उसने इन्द्र के वध करने में समर्थ एक अतितेजस्वी पुत्र का वर माँगा[२५६]।

(५) विश्वकर्मा की पुत्री संज्ञा सूर्य की भार्या थी। उससे उनके मनु, यम और यमी तीन सन्तानें हुई थीं। कालान्तर में पति का तेज सहन न कर सकने के कारण संज्ञा पति की सेवा में छाया को नियुक्त कर स्वयं तपस्या के लिए वन को चली गई[२५७]।

(६) राजा शतधनु की पत्नी शैव्या अत्यन्त धर्मपरायणा थी। उस पत्नी के साथ राजा शतधनु ने परम समाधि के द्वारा भगवान् की आराधना की थी। कालान्तर में मर जाने पर किसी कारणविशेष से राजा को क्रमशः कुक्कुर, वृक, गृध्र और काक के निषिद्ध योनियों में जन्म ग्रहण करना पड़ा। प्रत्येक योनि में शैव्या अपने योगबल से पति को पूर्व जन्म के वृत्तान्त से अवगत कराती थी[२५८]।

(७) सौभरि मुनि पुत्र, गृह, आसन, परिच्छद आदि पदार्थों को छोड़कर अपनी समस्त स्त्रियों के सहित वन में चले गये। वहाँ वानप्रस्थों के योग्य क्रियाकलाप का अनुष्ठान करते हुए क्षीणपाप होकर संन्यासी हो गये। फिर भगवान् में आसक्त होकर अच्युतपद (मोक्ष) को प्राप्त कर लिया[२५९]।

(८) वृक के बाहु नामक पुत्र हैहय और तालजंघ आदि क्षत्रियों से पराजित होकर अपनी गर्भवती पटरानी के साथ वन में चला गया था[२६०]।

ते उभे ब्रह्मवादिन्यौ योगिन्यावप्युभे द्विज।
उत्तमज्ञानसम्पन्ने सर्वैः समुदितैर्गुणैः ॥ —१।१०।१८-१९

२५५. तु० क० १।१५।११८–११९

२५६. वही १।२१।३०–३१

२५७. वही ३।२।२–३

२५८. पा० टी० २३४

२५९. वही ४।२।१२९-१३१

२६०. ततो वृकस्य बाहुर्योऽसौ हैहयतालजङ्घादिभिः।
पराजितोऽन्तर्वत्न्या महिष्या सह वनं प्रविवेश ॥ —४।३।२६

(९) राजा सगर की सुमति और केशिनी—दो पत्नियाँ थीं। उन दोनों ने सन्तानोत्पत्ति के लिए परम समाधि (तपश्चरण) के द्वारा और्व ऋषि को प्रसन्न किया[२६१]।

(१०) चित्रलेखा नामक एक उषा की सखी के प्रसंग में कहा गया है कि वह अपने योगबल से अनिरुद्ध को वहां ले आई[२६२]।

उपर्युक्त पौराणिक विवरणों से अवगत होता है कि उस युग की स्त्रियाँ योग, दर्शन आदि विद्याओं की प्रत्येक शाखा में सम्यक् शिक्षासम्पन्न होती थीं।

वैदिक युग में भी स्त्रियों की उच्च शिक्षा का विवरण मिलता है। उस युग में स्त्रियाँ बौद्धिक व्यापार में भी भाग लेने में समर्थ होती थीं[२६३]। सर्वानुक्रमणिका में ऋग्वेदीय मन्त्रों की लेखिकाओं के रूप में बीस स्त्रियों के नाम प्राप्त होते हैं[२६४]; उपनिषद् की मैत्रेयी और गार्गी नामक दो स्त्रियां अपनी ज्ञाननिष्ठता के लिए प्रसिद्ध हैं। वैयाकरणों के प्रसंग में कतिपय अध्यापिका स्त्रियों का भी परिचय मिलता है[२६५]। जातकयुग में स्त्रीशिक्षा कुछ मन्द पड़ चुकी थी, किन्तु फिर भी कुमार श्रमणाओं (भिक्खुनियों) के रूप में स्त्रियों का संघ में प्रवेश होता था। धर्मशास्त्रों से संकेत मिलता है कि स्त्रियों की साहित्यिक शिक्षा उस समय में प्रायः समाप्ति की अवस्था में थी[२६६]।

गोपनीयता वा पर्दा प्रथा

विष्णुपुराण के अध्ययन के द्वारा यह निष्कर्ष निकालना अत्यन्त कठिन है कि पौराणिक युग की स्त्रियों को गोपनीय (पर्दे में) रखा जाता था अथवा ये पुरुषों के समान ही समाज में सर्वत्र स्वच्छन्दतापूर्वक विचरण कर सकती थीं। एतत्सम्बन्ध में दोनों प्रकार के उदाहरण उपलब्ध होते हैं। सौभरि ऋषि के चरित्रचित्रण के प्रसंग में कन्याओं के अन्तःपुर का उल्लेख हुआ है।

---

२६१. तु० क० ४।४।१–२

२६२. एतस्मिन्नेव काले तु योगविद्याबलेन तम्।
अनिरुद्धमथानिन्ये चित्रलेखा वराप्सराः॥ —५।३३।५

२६३. वै० इ० २।५३७

२६४. हि० ध० २।३६५–६

२६५. प्रि० बु० इ० २९८

२६६. हि० ध० २।३६८

अन्तःपुर के रक्षक नपुंसक व्यक्ति को निर्दिष्ट किया गया है[२६७]। इस प्रसंग से ध्वनित होता है कि पौराणिक युग में स्त्रियों के लिए गोपनीयता (पर्दे) का प्रवन्ध था।

द्वितीय प्रसंग बृहस्पति की पत्नी तारा का है। सोम ने तारा को हरण कर उसके साथ संभोग किया था, जिससे तारा गर्भिणी हो गई थी। बृहस्पति की प्रेरणा से ब्रह्मा के बहुत कुछ कहने-सुनने और देवर्षियों के मांगने पर भी सोम ने तारा को नहीं छोड़ा। तारा के गर्भ से एक तेजस्वी पुत्र उत्पन्न हुआ। उस सुन्दर पुत्र को लेने के लिए बृहस्पति और चन्द्रमा दोनों उत्सुक हुए तब देवताओं ने सन्दिग्धचित्त होकर तारा से पूछा—'हे सुभगे, सच-सच बता यह पुत्र सोम का है अथवा बृहस्पति का ?" उनके ऐसा पूछने पर तारा ने लज्जावश कुछ भी नहीं कहा[२६८]। पुराण में कन्यापुर और कन्यान्तःपुर का नाम भी उपलब्ध होता है[२६९]। इस उदाहरणों से संकेतित होता है कि स्त्रियाँ समाज में सर्वत्र स्वतन्त्रतापूर्वक विचरण करती थीं तथा पर्दे में भी रहती थीं।

स्त्रियों की गोपनीयता के सम्बन्ध में वेदों और जातक साहित्यों से कोई उदाहरण उद्धृत नहीं किया जा सकता है। यद्यपि जातक साहित्यों में गोपनीयता के विरुद्ध कुछ अस्पष्ट लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं, किन्तु सामान्य रूप से विचार करने पर गोपनीयता के कठोर बन्धन का संकेत नहीं मिलता[२७०]। जो कुछ हो पर यह तो निःसन्देह है कि लगभग खृष्टीय युग मे यह पर्दाप्रथा समाज के लिए अत्यन्त अपरिचित हो चुकी थी[२७१] किन्तु विदित होता है कि इस युग के पश्चात् ही समाज में एक ओर से स्त्रियों की गोपनीयता का अधिकतर रूप में समर्थन होने लगा[२७२]।

सती प्रथा

(१) जब राजा शतधनु—शत्रुजित् मर गया तब उसकी पत्नी शैब्या ने भी चितारूढ़ महाराज का अनुगमन किया पुनः जन्मान्तर में भी वही राजा

---

२६७. तु० क० ४।२।८५-८६

२६८. वही ४।६।१०–२६

२६९. वही ५।२९।३१ और ५।३३।६

२७०. प्रि० बु० इ० २९०–२९१

२७१. पो० वि० इ० १९ और हि० ध० २।५९६–५९८

२७२. वही २००

इसका पति हुआ और उस सुलोचना ने पूर्व के समान ही अपने चितारूढ पति का विधिपूर्वक प्रसन्न मन से अनुगमन किया[२७३]।

(२) वृक का पुत्र राजा बाहु वृद्धावस्था के कारण जब और्व मुनि के आश्रम के समीप मर गया था तब उसकी पटरानी ने चिता बना कर उस पर पति का शव स्थापित कर उसके साथ सती होने का निश्चय किया[२७४]।

(३) एक अन्य प्रसंग में कहा गया है कि कृष्ण की जो आठ पटरानियाँ बतलाई गई हैं, सब ने उनके शरीर का आलिंगन कर अग्नि में प्रवेश किया था। सती रेवती भी बलराम के देह का आलिङ्गन कर प्रज्वलित अग्नि मे प्रवेश कर गयी थीं। इस सम्पूर्ण अनिष्ट का समाचार सुनते ही उग्रसेन, वसुदेव, देवकी और रोहिणी ने भी अग्नि में प्रवेश किया था[२७५]।

पाश्चात्य विद्वान् श्रेडर के मत से पति की मृत्यु के पश्चात् पत्नी के आत्मबलिदान की प्रथा भारोपीय समाजों में प्रचलित थी।[२७६] विधवा स्त्री के आत्मबलिदान की प्रथा वैदिक युग में भी प्राचीन ही मानी जाती थी जिसका व्यावहारिक अस्तित्व क्रमशः समाप्त होता गया। लगभग खृष्ट पूर्व ३०० ई० से पुनः यह प्रथा धीरे-धीरे अस्तित्व में आने लगी और लगभग ४०० शतक तक सामान्य रूप से प्रचलित रहीं। मुख्य रूप से क्षत्रियों में इस प्रथा का प्रचलन था।[२७७]

विवाह

विष्णुपुराण के अध्ययन से ध्वनित होता है कि विवाहसंस्कार कोई अनिवार्य विधि नहीं है। यह ब्रह्मचर्याश्रमी पुरुष की इच्छा पर निर्भरित है। पुराण की विवाहसंस्कारविधि के अध्याय में कहा गया है कि विद्याध्ययन की समाप्ति के पश्चात् यदि गृहस्थाश्र में प्रवेश करने की इच्छा हो तो (ब्रह्मचारी को) विवाह कर लेना चाहिये।[२७८] ब्रह्मचारी को अपनी वयस् से तृतीयांश अवस्थापन्न कन्या से विवाह करने का आदेश है।[२७९]

---

२७३. तु० क० ३।१८।६० और ९२

२७४. सा तस्य भार्या चितां कृत्वा तमारोप्यानुमरणकृतनिश्चयाभूत् ॥
—४।३।३०

२७५. वही ५।३८।२-४

२७६. क० हि० वा० १५५

२७७. पो० वि० इ० १३७-१४३

२७८. गृहीतविद्यो गुरवे दत्त्वाच गुरुदक्षिणाम् ।
गार्हस्थ्यमिच्छन्भूपाल कुर्याद्दारपरिग्रहम् ॥ —३।१०।१३

२७९. वर्षैरेकगुणां भार्यामुद्वहेत् त्रिगुणस्स्वयम् । —३।१०।१६

श्रीधरी टीका के अनुसार इसका अर्थ होता है कि आठ वर्ष की गौरीरूपा कन्या का चौबीस वर्ष के वर के साथ, नौ वर्ष की रोहिणीरूपा कन्या का सत्ताईस वर्ष के वर के साथ और दश वर्ष की कन्यारूपा कन्या का तीस वर्ष के वर के साथ विवाहसंस्कार विहित और वैधानिक है।[२८०] किन्तु अपने पुराण के किसी भी उदाहरण में इस नियम की चरितार्थता नहीं प्राप्त होती है।

अन्य नियम की विधि में कथन है कि मातृपक्ष से पांचवीं पीढ़ी तक और पितृपक्ष से सातवीं पीढ़ी तक जिस कन्या का सम्बन्ध न हो, गृहस्थ पुरुष को नियमानुसार उसी से विवाह करना चाहिये।[२८१] इस नियम का भी अपने पुराण में उल्लंघन हुआ है। साक्षात् कृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न ने अपने मामा रुक्मी की पुत्री रुक्मवती से विवाह किया था और प्रद्युम्न के पुत्र अनिरुद्ध ने रुक्मी की पौत्री अर्थात् अपनी ममेरी भगिनी सुभद्रा से विवाह किया था[२८२]।

विवाह के प्रकार

अपने पुराण में ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच—ये ही विवाह के आठ प्रकार निर्दिष्ट किये गये हैं[२८३]।

विवाह के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न प्रकार के उदाहरण पाये जाते हैं :

(१) सोम के पुत्र बुध ने अपने आश्रम के निकट घूमती हुई कुमारी इला पर अनुरक्त होकर उसके साथ संभोग किया और उस से पुरूरवा नामक पुत्र उत्पन्न हुआ[२८४]।

---

२८०. वर्षैरेकगुणामिति न्यूनत्वमात्रोपलक्षणम्, अन्यथा तु सांगवेदाध्ययनादव्यासक्तस्य त्रिंशद्वर्षादूर्ध्वं विवाहो यदि भवेत् "दशवर्षा भवेत्कन्या अत ऊर्ध्वं रजस्वला" इति निन्दितरजस्वलोद्वाहापत्तेः"। —३।१०।१६

२८१. पञ्चमीं मातृपक्षाच्च पितृपक्षाच्च सप्तमीम्।
गृहस्थश्चोद्वहेत्कन्यां न्यायेन विधिना नृप॥ —३।१०।२३

२८२. वही ४।१५।३८ और ४०

२८३. ब्राह्मोदैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथासुरः।
गान्धर्वराक्षसौ चान्यौ पैशाचश्चाष्टमो मतः। —३।१०।२४

२८४. तु० क० ४।१।११-१२

(२) राजसूय यज्ञानुष्ठान के पश्चात् अपने प्रभाव और आधिपत्य के कारण अत्रिपुत्र सोम राजमद से आक्रान्त हुआ और मदोन्मत्त हो जाने के कारण उसने बृहस्पति की पत्नी तारा को हरण कर लिया। ब्रह्मा और देवर्षियों के कहने-सुनने पर भी उसने तारा को न छोड़ा। परिणामस्वरूप तारा के लिए दोनों पक्षों में तारकामय नामक अत्यन्त घोर संग्राम छिड़ गया। शुक्र समस्त दैत्य-दानवों के साथ सोम के सहायक हुए और इन्द्र सकल देवसेना के सहित बृहस्पति के। ब्रह्मा ने शुक्र, रुद्र, दानव और देवगण को युद्ध से निवृत्त कर बृहस्पति को तारा दिलवादी। इस समय तारा गर्भवती थी। बृहस्पति के कहने से तारा ने गर्भ को सींक की झाड़ी में छोड़ दिया जिस से एक तेजस्वी पुत्र उत्पन्न हुआ। देवताओं ने सन्देह हो जान के कारण तारा से पूछा—"हे सुभगे, यह पुत्र बृहस्पति का है अथवा सोम का ?" लज्जावश तारा ने इसका कोई उत्तर नहीं दिया। अन्त में ब्रह्मा के बहुत अनुरोध करने पर उसने लज्जापूर्वक कहा—"सोम का"।

(३) राजा पुरूरवा के साथ वैवाहिक बन्धन के पूर्व ही उर्वशी नामक अप्सरा उस को प्रतिज्ञाबद्ध कर बोली—"मेरे पुत्ररूप इन दो मेषशिशुओं को यदि आप मेरी शय्या से दूर न करेंगे और (संभोग काल के अतिरिक्त) कभी मैं आप को नग्न नहीं देख पाऊँ तो मैं प्रेम दान दे सकती हूँ"। राजा के स्वीकार कर लेने पर दोनों स्वेच्छानुसार अभीष्ट स्थानों में विलासमय जीवन व्यतीत करने लगे। उर्वशी भी अब देवलोक को भूल गई थी।

उधर उर्वशी के अभाव में सिद्धों और गन्धर्वों को स्वर्गलोक अरमणीय-सा प्रतीत होने लगा। अत: उर्वशी और पुरूरवा की प्रतिज्ञा के ज्ञाता विश्वावसुने एक रात्रि के समय गन्धर्वों के साथ जाकर शयनागार से एक मेष का हरण कर लिया। उसका शब्द सुन कर उर्वशी से प्रेरित होकर भी नग्न होने के कारण राजा नहीं उठा। तदनन्तर गन्धर्वगण द्वितीय मेष को भी लेकर चले गये। उसे ले जाने के समय उसका शब्द सुनकर भी उर्वशी ने हाय हाय करती हुई राजा को इस की सूचना दी। इस बार राजा यह सोचकर कि इस समय अन्धकार है, नग्नावस्था में ही मेषों की खोज में निकल पड़े। गन्धर्वों ने अति उज्ज्वल विद्युत् प्रकट कर दी। उसके प्रकाश में राजा को नंगा देख कर प्रतिज्ञाभंग हो जाने से उर्वशी तुरंत ही वहाँ से चली गई[२८५]।

उपर्युक्त बुध और इला तथा उर्वशी और पुरूरवा का सम्बन्ध कुछ मान्यदं

---

२८५. तु० क० ४।६

श्रेणी में आ सकता है। गान्धर्व विवाह की परिभाषा में मनु का विचार सर्वाधिक व्यापक है; जब कन्या और वर कामुकता के वशीभूत होकर स्वेच्छापूर्वक परस्पर संभोग करते हैं तो विवाह के उस प्रकार को गान्धर्व कहा जाता है[२८६]।

(४) राजा रेवत की पुत्री रेवती के वैवाहिक प्रसंग में एक पौराणिक कथा है : महाराज अपनी राजकुमारी को लेकर उसके योग्य वर के विषय में ब्रह्मा से पूछने के लिए ब्रह्मलोक में गये थे। उस समय वहाँ हाहा और हूहू नामक गन्धर्व अतितान नामक दिव्य गान कर रहे थे। उस विलक्षण गान के श्रवण में अनेक युगों का परिवर्तन भी मुहूर्त सा प्रतीत हुआ। गान की समाप्ति होने पर राजा ने अपने युग के अभिमत वरों के नाम कहे जाने पर ब्रह्मा ने कहा—"इन वरों में से अब पृथिवी पर किसी के पुत्र-पौत्रादि की सन्तान भी नहीं है, क्योंकि अब कलियुग का आरंभ होने जा रहा है। पूर्वकालीन तुम्हारी "कुश-स्थली पुरी अब द्वारकापुरी हो गई है। वहीं विष्णु का बलदेव नामक अंश विराजमान है। यह कन्या पत्नी रूप से उन्हीं को दे दो। ब्रह्मा के वचनानुसार पृथिवीतल पर रेवत ने मनुष्यों को खर्वाकृति और कुरूप देखा। राजा ने हलायुध को अपनी कन्या दे दी। बलदेव ने उसे बहुत ऊँची देख कर अपने हलाग्रभाग से दबा कर नीची कर ली। रेवती भी तत्कालीन स्त्रियों के समान छोटी हो गई और तब बलराम ने उसके साथ विधिपूर्वक विवाह कर लिया[२८७]।

रेवती और बलराम का यह सम्बन्ध कुछ अंश में ब्राह्म प्रकार के अन्तर्गत हो सकता है। क्योंकि ब्राह्म विवाह की परिभाषा में मनु का कथन है : पिता के द्वारा विद्वान् एवं शीलसम्पन्न वर को स्वयं आमन्त्रित और विधिवत् सत्कार कर यथाशक्ति वस्त्राभूषणों से अलंकृत कन्या का दान करना ब्राह्म विवाह है[२८८]।

(५) सौभरि नामक एक ब्रह्मर्षि बारह वर्ष तक जल में तपश्चरण के पश्चात् गृहस्थाश्रम में प्रवेश की इच्छा से कन्यार्थी होकर राजा मान्धाता के

---

२८६. इच्छयाऽन्योन्यसंयोगः कन्यायाश्च वरस्य च।
गान्धर्वस्स तु विज्ञेयो मैथुन्यः कामसम्भवः॥ —म० स्मृ० ३।३२

२८७. तु० क० ४।१।६७–९६

२८८. आच्छाद्य चार्चयित्वा च श्रुतिशीलवते स्वयम्।
आहूय दानं कन्याया ब्राह्मोधर्मः प्रकीर्तितः॥ —म० स्मृ० ३।२७

समीप गये। महर्षि ने मान्धाता की पचास तरुणी कन्याओं मे से एक के लिए याचना की। राजा ऋषि के जराजीर्ण देह को देख शाप के भय से अस्वीकार-कातर और कर्त्तव्यमूढ हो गये। अन्त में अन्तःपुर के रक्षक के साथ राजा ने सौभरि जी को इस आधार पर कन्याओं के निकट भेजा कि यदि कोई भी कन्या इन्हें अपनी इच्छा से वरण कर ले तो राजा को विवाह करने में कोई आपत्ति नहीं होगी। वहाँ जाने पर राजा की पचासों तरुणी कन्याओं ने महर्षि का स्वयं वरण कर लिया और तदनुसार विवाह संस्कार सम्पन्न कर सकल कन्याओं को महात्मा अपने आश्रम पर ले गये[२८९]।

इस विवाह को भी गान्धर्व श्रेणी में रखा जा सकता है।

(६) गाधि की कन्या सत्यवती को भृगुपुत्र ऋचीक ने वरण किया था। गाधि ने अति क्रोधी और अतिवृद्ध ब्राह्मण को कन्या न देने की इच्छा से ऋचीक से कन्या के मूल्य में चन्द्रमा के समान कान्तिमान् और पवन के तुल्य वेगवान् सहस्र श्यामकर्ण अश्व मांगे। महर्षि ऋचीक ने अश्वतीर्थ से उत्पन्न एक सहस्र अश्व वरुण से लेकर दे दिये और कन्या सत्यवती से विवाह किया[२९०]।

गाधेयी और ऋचीक का विवाह मनु के अनुसार आसुर प्रकार के अन्तर्गत हो सकता है, क्योंकि जिस विवाह में पति कन्या तथा उसके सम्बन्धियों को यथाशक्ति धन प्रदान कर स्वच्छन्दतापूर्वक कन्या से विवाह करता है उस विवाह को आसुर कहते हैं[२९१]।

(७) शैव्या के पति राजा ज्यामघ ने एक घोर युद्ध में अपनी विजय के पश्चात् भय से कातर और विलाप करती हुई एक विलोचना राजकन्या को प्राप्त किया था और उसके साथ परिणय की कामना से अपने निवासस्थान पर ले गये थे। किन्तु स्त्री के वशवर्ती राजा ने लज्जावश उसके साथ अपना परिणय स्थापित न कर कुछ काल के पश्चात् जब शैव्या के गर्भ से विदर्भ नामक पुत्र उत्पन्न हुआ तब उसी के साथ पुत्रवधू के रूप में उसका पाणि-ग्रहण कराया[२९२]।

---

२८९. तु० क० ४।२।६९–९६

२९०. तु० क० ४।७।१२–१६

२९१. ज्ञातिभ्यो द्रविणं दत्वा कन्यायै चैव शक्तितः।
कन्याप्रदानं स्वाच्छन्द्यादासुरो धर्म उच्यते ॥ —मं० स्मृ० ३।३१

२९२. तु० क० ४।१२।१५–३६

यह विवाह मनु के मत से राक्षस प्रकार के अन्तर्गत आ सकता है, क्योंकि रोती-पीटती हुई कन्या का, उसके सम्बन्धियों को मार अथवा क्षतविक्षत कर बलपूर्वक हरण को राक्षस विवाह कहा गया है[२९३]। रुक्मिणी-कृष्ण, मायावती-प्रद्युम्न, और उषा-अनिरुद्ध के विवाह राक्षस और गान्धर्व दोनों प्रकारों के अन्तर्गत आ सकते हैं, क्योंकि इन विवाहों में मारकाट और क्षत-विक्षत आदि राक्षसी प्रवृत्ति के साथ कन्या वरों में पारस्परिक प्रेमांकुर का भी उद्भावन प्रदर्शित हुआ है[२९४]।

नियोग

नियोग प्रकरण में याज्ञवल्क्य का प्रतिपादन है कि गुरुजनों से अनुमत होकर देवर, सपिण्ड या सगोत्र पुरुष पुत्र की कामना से केवल ऋतुकाल में अपुत्री स्त्री के साथ संगम कर सकता है। यह संगम एक पुत्र की उत्पत्ति तक ही सीमित है। एक पुत्रोत्पत्ति के पश्चात् संभोगकर्ता पतित हो जाता है। इस प्रकार नियोग विधि से उत्पन्न सन्तान पर पूर्व परिणेता पिता का ही आधिकार है[२९५]।

विष्णुपुराण में भी नियोगाचरण के कतिपय उदाहरण उपलब्ध होते हैं। यथा—

(१) राजा सौदास (कल्माषपाद) के प्रार्थना करने पर वसिष्ठ ने उस पुत्रहीन राजा की पत्नी मदयन्ती में गर्भाधान किया था[२९६]।

(२) क्षत्रिय बलि के क्षेत्र (रानी) में दीर्घतमा नामक मुनि ने अंग, वंग, कलिंग, सुह्म और पौण्ड्र नामक पाँच वालेय क्षत्रिय उत्पन्न किये थे।

(३) जयद्रथ की ब्राह्मण और क्षत्रिय के संसर्ग से उत्पन्न हुई पत्नी के गर्भ से विजय नामक पुत्र का जन्म हुआ था[२९७]।

---

२९३. हित्वा छित्वा च भित्वा च क्रोशन्तीं रुदतीं गृहात्।
प्रसह्य कन्यां हरतो राक्षसो विधिरुच्यते ॥ —म० स्मृ० ३।३३

२९४. तु० क० ३।२६।२–११, ४।२७।१८–२०, ४।३२।१५ और ५।३३। ७–५२

२९५. या० स्मृ० १।३।६८–६९

२९६. वसिष्ठश्चापुत्रेण राज्ञा पुत्रार्थमभ्यर्थितो।
मदयन्त्यां गर्भाधानं चकार ॥ —४।४।६९

२९७. तु. क० ४।१८।१३ और २३

(४) भरत ने पुत्र की कामना से मरुत्सोम नामक यज्ञ का अनुष्ठान किया था। उस यज्ञ के अन्त में मरुद्गण ने उन्हें भरद्वाज नामक एक बालक पुत्ररूप से दिया जो उतथ्य की पत्नी ममता के गर्भ में स्थित दीर्घतमा मुनि के पादप्रहार से स्खलित हुए बृहस्पति के वीर्य से उत्पन्न हुआ था[२९८]।

(५) कृष्णद्वैपायन सत्यवती के नियुक्त करने से माता का वचन टालना उचित न जान विचित्रवीर्य की पत्नियों से धृतराष्ट्र और पाण्डु नामक दो पुत्र उत्पन्न किये और उनकी भेजी हुई दासी से विदुर नामक एक पुत्र उत्पन्न किया। पाण्डु की स्त्री कुन्ती से धर्म, वायु और इन्द्र ने क्रमशः युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन नामक तीन पुत्र तथा माद्री से दोनों आश्विनीकुमारों ने नकुल और सहदेव नामक दो पुत्र उत्पन्न किये[२९९]।

प्राचीन आर्यों में इस प्रथा का प्रचलन था जिसके अनुसार कुछ विशिष्ट परिस्थितियों में परक्षेत्र में पुत्र सन्तान की उत्पत्ति के लिए किसी विशिष्ट पुरुष को निपुक्त किया जाता था। गौतम सदृश प्राचीन धर्मशास्त्रों के द्वारा नियोगाचरण का समर्थन हुआ, किन्तु गौतमसमकालीन कुछ अन्य धर्मशास्त्रों ने इस प्रथा में दूषण दिखलाकर इसे वर्जित कर दिया है[३००]। यह नियोगाचरण चिर-अतीत काल की प्रथा थी, किन्तु पश्चात्कालीन लेखकों के द्वारा इसकी उपेक्षा की गई[३०१]।

बहुविवाह

पौराणिक युग में बहुविवाह प्रथा का भी प्रचलन था। इसके सम्बन्ध में कतिपय उदाहरणों का उल्लेख प्रयोजनीय है :

धर्म की तेईस (१३ + १०) पत्नियों का उल्लेख है[३०२]। कश्यप की तेरह, सोम की सताईस, अरिष्टनेमि की चार, बहुपुत्र की दो, अंगिरा की दो और कृशाश्व की दो पत्नियों का प्रसंग है[३०३]। महर्षि सौभरि ने महाराज मान्धाता की पचास कन्याओं के साथ विवाह किया था[३०४]। राजा सगर की दो और नहुष-

---

२९८. वही ४।१९।१६

२९९. वही ४।२०।३८–४०

३००. हि० ध० २।६०२–४

३०१. पो० वी० इ० १७० से

३०२. तु० क० १।७।२३ और १।१५।१०४

३०३. वही १।१५।१०४–१०५

३०४. वही ४।२।९५–९६

पुत्र राजा ययाति की भी दो पत्नियों का विवरण है[३०५]। चक्रवर्ती सम्राट् शशिबिन्दु की एक लाख पत्नियों का प्रमाण मिलता है[३०६]। कार्ष्णि प्रद्युम्न की दो[३०७] और प्रद्युम्नपुत्र अनिरुद्ध की भी दो पत्नियों का विवरण है[३०८]। पौराणिक विवरण के अनुसार भगवान् कृष्ण की सोलह सहस्र एक सौ आठ (१६,१०८) पत्नियों का प्रमाण उपलब्ध होता है[३०९]।

स्वैरिणी

स्वैरिणी, कुलटा और वेश्याओं का भी समाज में अस्तित्व था। कलियुग के प्रसंग में कहा गया है कि इस युग की स्त्रियां सुन्दर पुरुषों की कामना से स्वेच्छाचारिणी हो जायेंगी[३१०] और जो पति धनहीन होगा उसे स्त्रियां त्याग देंगी। धनवान् पुरुष ही स्त्रियों का पति होगा[३११]। स्त्रियां विषयलोलुपा, खर्वकाया, अधिकभोजना और अधिकसन्ताना होंगी। कुलांगनाएँ निरन्तर दुश्चरित्र पुरुषों की कामना करेंगी और दुराचारिणी हो जायेंगी[३१२]।

स्त्री और राज्याधिकार

संभवतः स्त्रीजाति को राज्यपद पर अभिषिक्त करना वैधानिक नहीं था। इस दिशा में सुद्युम्न का विवरण उल्लेखनीय है। मनु ने पुत्र की कामना से मित्रावरुण यज्ञ का अनुष्ठान किया था। होता के विपरीत संकल्प के कारण यज्ञ में विपर्यय हो जाने से उनके इला नाम की कन्या उत्पन्न हुई, किन्तु मित्रावरुण की कृपा से वह इला मनु के सुद्युम्न नामक पुत्र के रूप में परिणत हो गई। पुनः महादेव के शाप से स्त्री होकर चन्द्रमा के पुत्र बुध के आश्रम के निकट घूमने लगी। बुध ने अनुरक्त होकर उस स्त्री से पुरूरवा नामक पुत्र उत्पन्न किया। पुरूरवा के जन्म के पश्चात् भी परमर्षियों ने सुद्युम्न के पुरुषत्व

---

३०५. वही ४।४।१ और ४।१०।४

३०६. तस्य च शतसहस्रं पत्नीनामभवत् ॥—४।१२।४

३०७ वही ४।१५।३८ और ५।२७।२०

३०८. वही ४।१५।४० और ५।३३।५२

३०९. वही ५।२८।३–५ और ५।३१।१८

३१०. स्त्रियः कलौ भविष्यन्ति स्वैरिण्यो ललितस्पृहाः। —६।१।२१

३११. परित्यक्ष्यन्ति भर्तारं वित्तहीनं तथा स्त्रियः।
भर्ता भविष्यति कलौ वित्तवानेव योषिताम् ॥ —६।१।१८

३१२. तु० क० ६।१।२८–३१

लाभ की आकांक्षा से भगवान् यज्ञपुरुष का यजन किया तब वह पुनः पुरुषत्व लाभ कर पुरुष हो गयी[313]। पूर्व में स्त्री होने के कारण सुद्युम्न को राजपद पर अभिषिक्त नहीं किया गया[314]।

इस से ध्वनित होता है कि स्त्रीजाति को राज्याधिकार प्रदान करना विहित और वैधानिक नहीं माना जाता था।

निष्कर्ष :

ब्राह्मण और क्षत्रिय दो ही वर्ण समाज के मुख्य रूप से अभिनेता थे। कर्मकाण्ड के अतिरिक्त राजनीतिक क्षेत्र में भी ब्राह्मण भाग लेते थे। एकाध स्थल पर पुरोहित के रूप में क्षत्रिय का भी दर्शन हुआ है। वैवाहित बन्धन आज के समान कठोर नहीं था। ब्राह्मण और क्षत्रिय में वैवाहिक सम्बन्ध प्रायः प्रचलित था। इन दोनों जातियों में पारस्परिक संघटन तो था ही, कभी-कभी संघर्ष भी उत्पन्न हो जाता था। वैश्यों के सम्बन्ध में नन्द आदि गोपों के अतिरिक्त अन्य का प्रसंग नगण्य है इसी प्रकार शूद्र की भी कोई विशिष्ट चर्चा नहीं। प्रत्येक वर्ग के लोग सुखसम्पन्न एवं अपने अधिकार में स्वयं सन्तुष्ट थे। समाज में स्त्रियों की संख्या पुरुषों की अपेक्षा अधिक थी और उनके लिए स्थान भी आनुपातिक दृष्टि से निम्नस्तरीय था। स्त्रीवर्ग में उच्च शिक्षा का भी प्रमाण मिलता है और सामान्यतः आज के समान ही इस वर्ग में पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष का भी प्रमाण उपलब्ध होता है। साधारणतः स्त्रियों के प्रति समाज की ओर से सम्मान और अपमान— दोनों का भाव प्रदर्शित हुआ है, किन्तु निष्कर्ष रूप से उन (स्त्रियों) की पुरुषमुखापेक्षिता एवं "अबला" संज्ञा की चरितार्थता संकेतित हुई है।

---

३१३. तु० क० ४।१।८–१४

३१४. सुद्युम्नस्तु स्त्रीपूर्वकत्वाद्राज्यभागं न लेभे। —४।१।१५

चतुर्थ अंश

राजनीतिक संस्थान

[प्रस्ताव, राजा की आवश्यकता, राजा में दैवी भावना, राज्य की उत्पत्ति और सीमा, राजनीति, उपाय, त्रिवर्ग, दायविभाजन, विधेय राजकार्य, राजकर, यज्ञानुष्ठान, अश्वमेध, राजसूय, सभा, गण, जनपद, राष्ट्रिय-भावना, निष्कर्ष ।

[प्रयुक्त साहित्य : (१) विष्णुपुराणम् (२) हिन्दू राज्यतंत्र (३) महाभारतम् (४) वैदिक इण्डेक्स (५) Cultural History from Vāyu Purāna (६) मनुस्मृतिः (७) State Government in Ancient India (८) याज्ञवल्क्यस्मृतिः (९) ऋग्वेदः (१०) शतपथब्राह्मणम् (११) ऐतरेयब्राह्मणम् (१२) पाणिनिव्याकरणम् (१३) कुमारसम्भवम् और (१४) भोजप्रबन्धः]

प्रस्ताव

दीप्त्यर्थक राज् धातु के आगे कर्ता के अर्थ में कनिन् प्रत्यय के योग से राजन् शब्द की निष्पत्ति होती है और इसका शाब्दिक अर्थ दीप्यमान, प्रकाशमान अथवा प्रतापवान् होता है। वेनपुत्र पृथु के प्रसंग में पौराणिक प्रतिपादन है कि प्रजा को अनुरंजित करने के कारण उनका नाम 'राजा' हुआ है[1]।

जायसवाल का कथन है कि 'राजन्' शब्द और उसके मूल रूप 'राट्' का शब्दार्थ 'शासक' है। लैटिन भाषा के Rex शब्द के साथ इसका सम्बन्ध है। परन्तु हिन्दूराजनीति के विशारदों ने इसकी दार्शनिक व्युत्पत्ति प्रतिपादित की है। वे कहते हैं कि शासक को राजा इस लिए कहते हैं कि उसका कर्तव्य अच्छे शासन के द्वारा अपनी प्रजाओं का रंजन करना अथवा उन्हें प्रसन्न रखना है। समस्त संस्कृत शास्त्र में यही दार्शनिक व्युत्पत्ति एक निश्चित सिद्धान्त के रूप में मानी गई है। कलिङ्ग के सम्राट् खारवेल ने—जो एक जैन था—अपने शिलालेख (ई० पू० १६५) में कहा है कि मैं अपनी प्रजा का रंजन करता हूँ, जिसकी संख्या पैंतीस लाख है। बौद्ध धर्मग्रन्थों से भी इस शब्द की यही सैद्धान्तिक व्याख्या उपलब्ध होती है। यथा—'दम्मेन परे रंजेतीति खो, वा सेट्ठ, राजा। आर्य जाति की मूल और परवर्ती दोनों ही शाखाओं ने इस व्याख्या को ग्रहण किया था। यह राज्य-शासन सम्बन्धी एक राष्ट्रीय व्याख्या और राष्ट्रीय सिद्धान्त था[2]।

राजा की आवश्यकता—पुराण में कहा गया है कि भगवान् की निन्दा आदि करने के कारण मुनिगणों ने जब पापी राजा वेन को मार डाला तब उन मुनीश्वरों ने सर्वत्र धूलि उठती देखी। कारण पूछने पर निकटवर्ती पुरुषों ने कहा—'राष्ट्र के राजहीन हो जाने के कारण दीन लोगों ने चोर बन कर दूसरों का धन लूटना आरंभ कर दिया है। उन तीव्रगति

---

१. १-१३-४८, ९३। २. हि० रा० त० २. १-२

परधनापहारी चोरों के उत्पात से ही यह बड़ी भारी धूलि उड़ती दृष्टिगोचर हो रही है[3]।"

राजा वसुमना के राजा की प्रयोजनीयता के सम्बन्ध में जिज्ञासा करने पर बृहस्पति ने कहा था कि लोक में जो धर्म देखा जाता है, उसका मूल कारण राजा ही है। राजा के भय से ही प्रजा एक दूसरे को नहीं सताती। जब प्रजा मर्यादा को छोड़ने लगती है और लोभ के वशीभूत हो जाती है, तब राजा ही धर्म के द्वारा उसमें शान्ति स्थापित करता है और स्वयं भी प्रसन्नतापूर्वक अपने तेज से प्रकाशित होता है[4]।

राष्ट्रीय समाज की प्रत्येक शाखा में मर्यादा-रक्षा के लिए एक शासन-नेता की अपेक्षा होती है, क्योंकि शासननेतृत्व के अभाव में सामाजिक मर्यादा के भंग होने की स्वाभाविक संभावना बनी रहती है। शासक-नेतृत्व के बिना कोई भी संस्थान सुचारु रूप में संचालित नहीं हो सकता। शासन के भय से ही समाज की नियमबद्धता स्थिर रहती है, अन्यथा उच्छृङ्खलता के कारण मर्यादा के नष्ट-भ्रष्ट हो जाने की सतत आशङ्का है। इसी कारण से राष्ट्र के हित के लिए शासक के रूप में एक धार्मिक और शक्तिशाली राजा की उपादेयता प्रतिपादित की गई है।

राजन् (राजा) एक ऐसा शब्द है जो ऋग्वेद और पश्चात्कालीन साहित्य में बहुधा दृष्टिगोचर होता है। यह सर्वथा स्पष्ट है कि आरम्भिक भारत में यद्यपि सार्वभौमिक रूप से तो नहीं, तथापि सामान्यतया सरकार का रूप राजसत्तात्मक ही था। इस दृष्टिकोण को ध्यान में रख कर कि भारतीय आर्य एक शत्रुप्रदेश पर आक्रामकों के ही रूप में आये थे और ऐसा स्वाभाविक भी है। यूनान पर आक्रमणकारी आर्यों और इंग्लैण्ड के जर्मन

---

३. आख्यातं च जनैस्तेषां चोरीभूतैरराजके।
राष्ट्रे तु लोकैरारब्धं परस्वादानमातुरैः॥
तेषामुदीर्णवेगानां चोराणां मुनिसत्तमाः।
सुमहान् दृश्यते रेणुः परवित्तापहारिणाम्॥ —१. १३. ३१–३२

४. राजमूलो महाप्राज्ञ धर्मो लोकस्य लक्ष्यते।
प्रजा राजभयादेव न खादन्ति परस्परम्॥
राजा ह्येवाखिलं लोकं समुदीर्णं समुत्सुकम्।
प्रसादयति धर्मेण प्रसाद्य च विराजते॥

—म० भा० शान्ति० ६८. ८-९.

आक्रमणकारियों की दशा में भी स्थिति ऐसी ही थी जिन्होंने प्रायः अनिवार्यतः उन देशों में राजसत्तात्मक विधान के विकास को ही सशक्त किया था। वैदिक राजसत्ता की व्याख्या के लिए केवल समाज का पितृसत्तासम्पन्न संघटन मात्र ही पर्याप्त नहीं है जैसा कि त्सिमर मानते हैं[५]।

राजा में दैवी भावना

कतिपय पौराणिक उदाहरणों से संकेत मिलता है कि राजा प्रायः विष्णु के अंश से पृथिवी पर उत्पन्न होते हैं। महाराज पृथु के सम्बन्ध में कहा गया है कि उनके दाहिने हाथ में चक्र का चिह्न देखने के पश्चात् उन्हें विष्णु का अंश जानकर पितामह ब्रह्मा को परम आनन्द हुआ। यह भी ध्वनित होता है कि वैष्णव चक्र का चिह्न अशेष चक्रवर्ती राजाओं के हाथ में होता है जिसका प्रभाव देवताओं से भी कुण्ठित नहीं होता[६]। त्रेतायुग में एक समय दैत्यों से पराजित होने के कारण शरणापन्न हुए देवगण से विष्णु ने कहा था कि राजर्षि शशाद के पुत्र पुरञ्जय के शरीर में मैं अंशमात्र से स्वयं अवतीर्ण होकर सम्पूर्ण दैत्यों का नाश करूंगा। बृहदश्व के पुत्र कुवलयाश्व के सम्बन्ध में यह कथन है कि उसने वैष्णव तेज से पूर्णता लाभ कर अपने इक्कीस सहस्र पुत्रों के साथ मिल कर महर्षि उदक के अपकारी धुन्धु नामक दैत्य को मारा था[७]। मान्धाता के पुत्र पुरुकुत्स में प्रविष्ट होकर भगवान् ने दुष्ट गन्धर्वों के नाश करने की प्रतिज्ञा की थी। पुरुकुत्स ने भागवत तेज से अपने शारीरिक बल बढ़ जाने से गान्धर्वों को मार डाला था[८]।

देवासुर संग्राम के आरम्भ में विजय प्राप्ति के निमित्त देवताओं ने राजा रजि से सहायता की याचना की थी और विजय प्राप्ति होने पर उसके विनिमय में रजि को इन्द्रपद पर अभिषिक्त करने की प्रतिज्ञा की थी। रजि ने देवपक्ष से असुरों के साथ युद्ध किया था और देवपक्ष विजयी भी हुआ। इन्द्र ने विविध चाटुकारिताओं के द्वारा राजा रजि को अनुकूल कर इन्द्रपद प्राप्ति की ओर से उन्हें विरक्त कर दिया था। रजि के स्वर्गवासी होने पर रजिपुत्र इन्द्र को जीतकर स्वयं इन्द्रपद का भोग करने लगे थे। पीछे बृहस्पति की सहायता से अभिचार आदि के द्वारा शतक्रतु ने रजि के पुत्रों को बुद्धिभ्रष्ट तथा धर्माचार-

---

५. वै० इ० २।२३४-५

६. तु० क० १।१३।४५-४६

७. वही ४।२।२२-२६ और ३८-४०

८. वही ४।३।६-९

छीन कर मार डाला और पुनः स्वर्ग पर अधिकार प्राप्त कर लिया था[९]। हम पहले ही देख चुके हैं कि युद्ध से कभी विरत न होने वाले क्षत्रियों का स्थान इन्द्र-लोक है[१०]। दाशरथि राम समस्त राजाओं के मध्य में ब्रह्मा, इन्द्र आदि देवगणों से स्तुत होकर सम्पूर्ण लोकरक्षा के लिए विधिपूर्वक अभिषिक्त हुए थे[११]। महाराज पृथु के सम्बन्ध में कहा गया है कि जो मनुष्य इस महाराज के चरित्र का कीर्तन करता है उसका कोई भी दुष्कर्म फलदायी नहीं होता। पृथु का यह अत्युत्तम जन्मवृत्तान्त और उनका प्रभाव सुनने वाले पुरुषों के दुःस्वप्नों को सर्वदा शान्त कर देता है[१२]।

राजा में देवत्व-भावना के बीज ऋग्वेद में भी निक्षिप्त मिलते हैं। यहाँ एक राजा को वैदिक देवमण्डल में से दो प्रधान देवताओं के साथ अपना परिचय देते हुए पाते हैं। अथर्ववेद में राजा में देवत्व-भावना का समावेश साधारण रूप से हुआ है किन्तु यजुर्वेद और ब्राह्मण ग्रन्थों में बड़े-बड़े राजकीय यज्ञों के अंशभागी के रूप से राजा को विवृत किया गया है। ऐसे अवसरों पर विशेषतः देवेन्द्र राजा के प्रतिनिधि के रूप में अवतीर्ण हुए हैं, किन्तु ये वर्णन केवल गौण अथवा लाक्षणिक मात्र हैं, क्योंकि इन्द्र के अतिरिक्त अन्य देवताओं को भी राजप्रतिनिधि के रूप से देखा जाता है। किन्तु राजा में देवत्व-भावना के सिद्धान्तों का अस्पष्ट वर्णन पश्चात्कालीन वैध साहित्यों में उपलब्ध होता है जो शतपथब्राह्मण पर आधारित है। शतपथब्राह्मण में राजन्य अर्थात् राजा को प्रजापति के प्रत्यक्ष प्रतिनिधि के रूप से वर्णित किया गया है, क्योंकि वह एक होकर अनेकों पर शासन करता है। फिर भी यह स्मरण होना चाहिये कि इन साहित्यों में राजा को पैतृक परम्परा के अधिकार से देवत्व की मान्यता नहीं दी गई है। द्वितीय पक्ष में राजा को वे मानव रूप में ही घोषित करते हैं। जातक साहित्यों में राजा के देवत्व प्रतिपादन के पक्ष में उतनी एकाग्रता नहीं है। राजा के देवत्व निर्धारण के पक्ष में कौटिल्य का संकेत है किन्तु इसके स्पष्टीकरण में जायसवाल के मत से अर्थशास्त्र में राजा को देवत्व की मान्यता नहीं दी गई है[१३]। केवल मनुसंहिता में राजा में देवत्व-निर्धारण के

---

९. वही ४।९

१०. स्थानमैन्द्रं क्षत्रियाणां संग्रामेष्वनिवर्तिनाम् ॥

—१।६।३४

११. वही ४।४।९९

१२. वही १।१३।९४–९५

१३. क० हि० वा० १६३–४

सिद्धान्त का स्पष्टीकरण मिलता है। स्मृति में कहा गया है कि राजा बाल्यावस्था का ही क्यों न हो फिर भी उसे मनुष्य समझ कर उसके सम्मान में किसी प्रकार की न्यूनता न करनी चाहिये, क्योंकि राजा मनुष्य के रूप में साक्षात् देवता ही होता है[14]।

राज्य की उत्पत्ति और सीमा—

राज्य की उत्पत्ति ब्रह्मा के पुत्र स्वायम्भुव मनु के समय से ही हुई, क्योंकि पिता के द्वारा स्वायम्भुव ही प्रजापालन के लिए प्रथम मनु बनाये गये थे। स्वायम्भुव मनु के प्रियव्रत और उत्तानपाद नामक दो पुत्र हुए। वे दोनों बलवान् और धर्मरहस्य के ज्ञाता थे। ये दोनों भाई पृथिवी के प्रथम चक्रवर्ती के रूप में आये हैं। सम्पूर्ण पृथिवी में इनका साम्राज्य था। प्रियव्रत के साम्राज्य की सीमा के विषय में कहा गया है कि वे पूर्ण सप्तद्वीपा वसुन्धरा के राजा थे, क्योंकि उन्हों ने इस समस्त पृथिवी को सात द्वीपों में विभक्त किया था और उन द्वीपों में अपने अग्नीध्र आदि सात पुत्रों को क्रमशः अभिषिक्त किया था। प्रियव्रत के ज्येष्ठ पुत्र अग्नीध्र इस जम्बूद्वीप के राजा थे। अग्नीध्र भी जम्बूद्वीप को नौ भागों में विभाजित कर और उन में अपने नाभि आदि नौ पुत्रों को यथाक्रम अभिषिक्त कर स्वयं तपस्या के लिए शालग्राम नामक महापवित्र क्षेत्र को चले गये थे। शतजित् के विष्वग्ज्योति आदि सौ पुत्रों ने भारतवर्ष के नौ भाग कर शासन किया था[15]। प्रियव्रत के अनुज उत्तानपाद के राजा होने का विवरण मिलता है किन्तु उनकी राज्यसीमा का कोई संकेत नहीं पाया जाता[16]। पृथु वैन्य के सम्बन्ध में भी प्रतिपादन है कि पृथिवीपति ने पृथिवी का पालन करते हुए प्रचुरदक्षिणासम्पन्न अनेक महान् यज्ञों का अनुष्ठान किया था। यह भी विवरण है कि पृथु वैन्य ने ही अपने धनुष की कोटि से असमतल पृथिवी को समतल कर उस पर पुरों और ग्रामों का निर्माण किया था[17]।

---

१४. बालोऽपि नावमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः।
महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति॥ —म० स्मृ० ७।८

१५. विष्वग्ज्योतिःप्रधानास्ते यैरिमा वर्द्धिताः प्रजाः।
तैरिदं भारतं वर्षं नवभेदमलंकृतम्॥ —२।१।४१

१६ वही १।११

१७. वही १।१३

पूर्वकाल में महर्षियों ने जब महाराज पृथु को राज्य पद पर अभिषिक्त किया तब लोकपितामह ने क्रम से राज्यों का वितरण किया[१८]।

मैकडोनेल और कीथ के मत से पृथि, पृथी अथवा पृथु एक अर्धपौराणिक व्यक्ति का नाम है, जिसका ऋग्वेद और पीछे चलकर एक ऋषि और विशेषत: कृषि के आविष्कर्ता और मनुष्यों तथा पशुओं दोनों के ही संसारों के अधिपति के रूप में उल्लेख है। अनेक स्थलों पर यह 'वैन्य' की उपाधि धारण करता है और तब इसे कदाचित् एक वास्तविक मनुष्य की अपेक्षा सांस्कृतिक नायक ही मानना उचित है। अनेक विवरणों के अनुसार यह प्रतिष्ठापित राजाओं में प्रथम था। लुडविग ने ऋग्वेद के एक स्थल पर तृत्सु भरतों के विरोधियों के रूप में पर्शुओं के साथ सम्बद्ध एक जाति के रूप में भी पृथुओं का उल्लेख किया है। किन्तु यह निश्चित रूप से अशुद्ध है[१९]। पर्शु ऋग्वेद की एक दान-स्तुति में किसी व्यक्ति के नाम के रूप में आता है। तिरिन्दिर के साथ इसका समीकरण निश्चित नहीं है, किन्तु शाङ्खायन श्रौतसूत्र में वत्स काण्व के प्रतिपालक के रूप में 'तिरिन्दर पारशव्य' का उल्लेख है। वृषाकपि-सूक्त में एक स्थल पर एक स्त्री और मनु की पुत्री के रूप मे 'पर्शु मानवी' नाम आता है, किन्तु इस से किसका तात्पर्य है यह कह सकना सर्वथा असम्भव है। इन दो स्थलों के अतिरिक्त ऋग्वेद का अन्य कोई भी स्थल ऐसा नहीं है जहां इसे व्यक्ति-वाचक नाम मानने की कोई संभावना हो। लुडविग एक अन्य स्थल पर 'पृथुओं' और 'पर्शुओं' अर्थात् पार्थियनों और पर्शियनों का सन्दर्भ मानते हैं। पाणिनि (५।३।११७) को पर्शुगण एक योद्धाजाति के रूप में परिचित थे। पारशवगण मध्यदेशीय दक्षिण-पश्चिमनिवासी एक जाति के लोग थे, और पेरिप्लस भी उत्तरभारतनिवासी एक 'पार्थोइ' जाति से परिचित हैं। अतएव अधिक से अधिक यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि ईरानी और भारतीय अतिप्राचीन काल से परस्पर सम्बद्ध थे और वस्तु-स्थिति भी ऐसी ही है। परन्तु वास्तविक ऐतिहासिक सम्पर्क की पुष्टि निश्चयपूर्वक नहीं की जा सकती[२०]।

चक्रवर्ती मान्धाता सप्तद्वीपसम्पन्न अखिल पृथिवी पर शासन करता था। इसके विषय में कहा गया है कि जहाँ से सूर्य उदय होता है और जहाँ

---

१८. यदाभिषिक्तः स पृथुः पूर्वं राज्ये महर्षिभिः।
ततः क्रमेण राज्यानि ददौ लोकपितामहः॥ —१।२२।१

१९. वै० इ० २।१८–२०

२०. वही १।५७४–५

अस्त होता है वह सभी क्षेत्र मान्धाता यौवनाश्व का है[२१]। पूरु सम्पूर्ण भूमण्डल के राज्य पर अभिषिक्त हुआ था[२२]।

अर्जुन कार्तवीर्य ने इस सम्पूर्ण सप्तद्वीपवती पृथिवी का पालन तथा दश सहस्र यज्ञों का अनुष्ठान किया था[२३]।

हिरण्यकशिपु पूरे त्रिभुवन पर शासन करता था। वह इन्द्र पद का उपभोग करता था। उसके भय से देवगण स्वर्ग को छोड़ कर मनुष्य शरीर धरण कर भूमण्डल में विचरते थे[२४]।

राजशक्ति को व्यक्त करने के लिए वैदिक ग्रन्थों में "राज्य" के अतिरिक्त अन्य शब्द भी मिलते हैं। अतएव शतपथब्राह्मण का विचार है कि राजसूय राजाओं का और वाजपेय सम्राटों (सम्राज्) का यज्ञ है। यहाँ 'साम्राज्य' का स्तर 'राज्य' की अपेक्षा श्रेष्ठतर माना गया है। इसी ग्रन्थ में सिंहासन (आसन्दी) पर बैठने की क्रिया को 'सम्राटों' का एक वैशिष्ट्य निर्दिष्ट किया गया है। अन्यत्र 'स्वाराज्य' (अनियंत्रित उपनिवेश) को 'राज्य' के विपरीत कहा गया है। राजसूय संस्कार के सन्दर्भ में ऐतरेयब्राह्मण शब्दों की सम्पूर्ण तालिका ही प्रस्तुत करता है। यथा—राज्य, साम्राज्य, भौज्य, स्वाराज्य, वैराज्य, पारमेष्ठ्य और महाराज्य •। 'आधिपत्य' (सर्वोच्च शक्ति) पञ्चविंशब्राह्मण (१५।३,३५) और छान्दोग्य उपनिषद् (५।२,६) में मिलता है। किन्तु ऐसी मान्यता के लिए कोई आधार नहीं कि ये शब्द अनिवार्यतः अधिकार अथवा शक्ति के विविध रूपों को व्यक्त करते हैं। अन्य राजाओं के अधिपति हुए बिना भी किसी राजा को महाराज अथवा सम्राज् कहा जा सकता है, क्योंकि यदि वह एक महत्त्वपूर्ण राजा है, अथवा उसके पार्षदों के द्वारा प्रशंसात्मक आशय में ही, उसके लिए इन शब्दों का प्रयोग हो सकता है, जैसा "विदेह" के जनक के लिए किया भी गया है। अशोक अथवा गुप्तवंश की भाँति किसी

---

२१. मान्धाता चक्रवर्ती सप्तद्वीपां महीं बुभुजे ॥
यावत्सूर्य उदेत्यस्तं यावच्च प्रतितिष्ठति ।
सर्व तद्यौवनाश्वस्य मान्धातुः क्षेत्रमुच्यते ॥ —४।२।६३ और ६५

२२. सर्वपृथ्वीपतिं पूरुं सोऽभिषिच्य वनं ययौ ॥ —४।१०।३२

२३. तेनेयमशेषद्वीपवती पृथिवी सम्यक्परिपालिता ।
दशयज्ञसहस्राण्यसावयजत् । —४।११।१३–४

२४. तु० क० १।१७

महान् राजसत्ता का वैदिक काल में अस्तित्व होना नितान्त असम्भव प्रतीत होता है[२५]।

ऋग्वेद के अनुसार राजत्व ही शासनसूत्र का एकमात्र आधार है। राजत्वविषयक वैदिक मन्तव्यता का प्रसंग ऐतरेयब्राह्मण में भी दृष्टिगोचर होता है। 'यहाँ कहा गया है कि पूर्व में देवताओं का कोई राजा नहीं था। असुरों के साथ संघर्ष में जब देवगण लगातार पराजित होने लगे तब देवताओं ने इसका कारण यह समझा कि असुरों के दल में एक राजा है जिसके नेतृत्व के कारण ये बार बार विजयी होते हैं। पश्चात् देवतागण इस पद्धति को उचित समझ कर एक राजा को निर्वाचित करने के पक्ष में सहमत हुए।' यदि इस विवरण को ऐतिहासिक तथ्य मान लिया जाय तो यह भारत में आर्य जातियों के प्रवेश को संकेतित करता है और इस पद्धति को द्रविड जातियों का अनुकरण ही कहना होगा। अस्तु, अपने पुराण में ऐसा प्रतिपादन उपलब्ध नहीं होता है[२६]।

शास्त्रीय प्रमाणों के आधार पर डा० अलतेकर का कहना है कि वैदिक युग में वर्णव्यवस्था का रूप विशेष कठोर नहीं था और दृढता के साथ हम नहीं कह सकते कि वैदिक राजा किसी विशिष्ट वर्ण या जाति का व्यक्ति होता था। पीछे चल कर जब वर्णव्यवस्था के रूप का पूर्ण विकास हो गया तब सामान्य रूप से क्षत्रिय वर्ण का ही व्यक्ति राज्याधिकारी होने लगा। पश्चात् कालक्रम से क्षत्रियेतर अर्थात् ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र तथा हूण आदि अनार्य जातियाँ भी राजपरम्परा में सम्मिलित होने लगीं और क्षत्रियेतर के साथ भी, जो वस्तुतः राज्यशासन करती थीं, "राजन्" शब्द का योग होने लगा[२७]।

राजनीति

स्तुति के क्रम में इन्द्र ने लक्ष्मी को दण्डनीति की प्रतिमूर्ति के रूप में स्वीकार किया है। टीकाकार श्रीधर ने 'दण्डनीति' का शब्दार्थ किया है—सामादि उपायप्रतिपादिका 'राजनीतिः'[२८]।

---

२५. वै० इ० २।२४७

२६. क० हि० वा० १६१

२७. तच्च राज्यमविशेषेण चत्वारोऽपि वर्णा कुर्वाणा दृश्यन्ते। तस्मात् सर्वे राजानः। —ग० इ० ४८-९

२८. तु० क० १।९।१२१

अन्य प्रसग में आन्वीक्षिकी आदि चार मुख्य विद्याओं में राजनीति को एक शास्त्रीय मान्यता दी गई है[२९]।

पौराणिक प्रसंग से अवगत होता है कि राजनीति शास्त्र की बड़ी उपयोगिता थी और यह शिक्षा का एक मुख्य अंग था। पाठयक्रम में राजनीति शास्त्र का पठन-पाठन अनिवार्य था। प्रह्लाद को बाल्यकाल में ही शिक्षक से राजनीति शास्त्र का अध्ययन करना पड़ा था। जब शिक्षक ने प्रह्लाद को नीतिशास्त्र में निपुण देख लिया तभी उसके पिता से कहा—'अब यह सुशिक्षित हो गया है[३०]।

अब हमने तुम्हारे पुत्र को नीति शास्त्र में पूर्णतया निपुण कर दिया है, भार्गव शुक्राचार्य ने जो कुछ कहा है उसे प्रह्लाद तत्त्वतः जानता है[३१]।

उपाय— पुराण में राजनीति के चार उपाय प्रतिपादित हुए हैं और वे हैं साम, दान, दण्ड और भेद। कहा गया है कि कृष्ण भी अपने विपक्षियों के साथ संघर्ष के अवसर पर इन उपायों का अवलम्बन करते थे। वे कहीं साम, कहीं दान, कहीं भेद नीति का व्यवहार करते थे तथा कहीं दण्ड नीति का प्रयोग करते थे[३२]। अन्य एक प्रसंग पर इन साम आदि राजनीति के चार उपायों की निन्दा की गई है। प्रह्लाद ने अपने पिता से कहा था कि ये नीतियां अच्छी नहीं हैं। केवल मित्रादि को साधने के लिए ये उपाय बतलाये गये हैं[३३]। एक स्थल पर इन चार उपायों में से प्रथम साम को सर्वोत्तम रूप में संकेतित किया गया है[३४]।

मनु ने इन में से साम और दण्ड इन्हीं दो, उपायों को राष्ट्र के सार्वत्रिक कल्याण के लिए पण्डितों के द्वारा प्रशंसित बतलाया है[३५]। इस प्रसंग में मनु

---

२९. आन्वीक्षिकी त्रयी वार्त्ता दण्डनीतिस्तथा परा। —५।१०।२७

३०. गृहीतनीतिशास्त्रं तं ··· ················।
मेने तदैव तत्पित्रे कथयामास शिक्षितम्॥ —१।१९।२७

३१. तु० क० १।१९।२६–२८

३२. साम चोपप्रदानं च तथा भेदं च दर्शयन्।
करोति दण्डपातं च ··················॥ —५।२२।१७

३३. वही १।१९।३४–५

३४. सामपूर्वं च दैतेयास्तत्र साहाय्यकर्मणि।
सामान्यफलभोक्तारो यूयं वाच्या भविष्यथ॥ —१।९।७९

३५. सामादीनामुपायानां चतुर्णामपि पण्डिताः।
सामदण्डौ प्रशंसन्ति नित्यं राष्ट्राभिवृद्धये॥ —७।१०९

का आदेश है कि राजा को शत्रु-संघर्ष के अवसर पर प्रेम, आदरप्रदर्शन तथा हितवचनात्मक साम के द्वारा; हस्ती, अश्व, रथ तथा सुवर्णादि के दान के द्वारा और शत्रु के प्रजावर्ग एवं अनुयायी राज्यार्थियों के भेदन के द्वारा—इन समस्त तीन उपायों के द्वारा अथवा इन में से किसी एक ही के द्वारा शत्रुओं को जीतने का प्रयत्न करना चाहिये, किन्तु युद्ध का आश्रय कभी न लेना चाहिये[३६]। मनु ने पात्र और अपात्र में दण्ड प्रयोग की विधेयता और अविधेयता के विषय में कहा है कि जो राजा दण्डनीय अर्थात् अपराधी को दण्ड नहीं देता किन्तु अदण्डनीय अर्थात् निरपराध को दण्ड देता है, उसको संसार में अपयश मिलता है और मृत्यु के उपरान्त नरकवास करना पड़ता है[३७]। इन चार में से केवल दण्ड नीति का प्रसंग वैदिक साहित्य में भी मिलता है। पारस्करगृह्यसूत्र (३. १५) और शतपथब्राह्मण (५. ४, ४, ७) के अनुसार दण्ड के आशय में लौकिक शक्ति के प्रतीक के रूप में राजाओं के द्वारा "दण्ड" का व्यवहार होता था। आधुनिक शब्दावली में राजा ही दण्डविधान का उद्गम होता था; और पश्चात्कालीन समय तक भी विधान का यह पक्ष स्पष्टतः राजा के हाथ में केन्द्रित था। पञ्चविंशब्राह्मण में अब्राह्मणवादी व्रात्यों की एक चारित्रिक विशेषता के रूप में अनपराधियों को भी दण्ड देने का उल्लेख है[३८]। शतपथ-ब्राह्मण के अनुसार राजा सब को दण्ड दे सकता है किन्तु ब्राह्मण को नहीं और वह स्वयं निरापद रह कर एक अयोग्य पुरोहित के अतिरिक्त किसी अन्य ब्राह्मण को त्रस्त भी नहीं कर सकता था। तैत्तिरीयसंहिता के अनुसार ब्राह्मण और अब्राह्मण के मध्यगत किसी वैधानिक विवाद में मध्यस्थ को ब्राह्मण के पक्ष में ही अपना निर्णय देना चाहिये[३९]।

त्रिवर्ग—त्रिवर्ग में धर्म, अर्थ और काम—इन तीन पारिभाषिक शब्दों का समावेश है। इन में धर्म उत्कृष्टतम है, अर्थ उत्कृष्टतर और काम उत्कृष्ट है। राजा सगर और और्व के सदाचारसम्बन्धी वार्तालाप के प्रसंग में कहा

---

३६. साम्ना दानेन भेदेन समस्तैरथवा पृथक्।
विजेतुं प्रयतेतारीन्न युद्धेन कदाचन ॥

—तु० की० कुल्लूकटीका ७।१९८

३७. अदण्ड्यान्दण्डयन् राजा दण्ड्यांश्चैवाप्यदण्डयन्।
अयशो महदाप्नोति नरकं चैव गच्छति ॥ —८।१२८

३८. वै० इ० १।३७७

३९. वही २।९१

गया है कि बुद्धिमान् पुरुष स्वस्थ चित्त से ब्राह्ममुहूर्त में जग कर अपने धर्म और धर्माविरोधी अर्थ का चिन्तन करे। तथा जिस में धर्म और अर्थ की क्षति न हो ऐसे काम का भी चिन्तन करे। इस प्रकार दृष्ट और अदृष्ट की निवृत्ति के लिए धर्म, अर्थ और काम—इस त्रिवर्ग के प्रति समान भाव रखना चाहिये। यदि अर्थ और काम ये दोनों धर्म के विरुद्ध हों तो ये भी त्याज्य हैं। धर्म को भी त्याज्य बतलाया गया है, किन्तु उस अवस्था में जब वह उत्तरकाल में दुःखमय अथवा समाजविरुद्ध हो[४०]। अपने पुराण के गृहस्थसम्बन्धी सदाचार के प्रसंग में त्रिवर्ग का विवरण आया है, किन्तु राजा के प्रजापालन-कार्य में इसकी अनिवार्य उपयोगिता प्रतीत होती है।

दायविभाजन—इस अध्याय के 'राज्य की उत्पत्ति और सीमा' के प्रसंग के अध्ययन से ध्वनित होता है कि राज्याभिषेचन के कार्य में प्रजा के द्वारा राजा के निर्वाचन की अपेक्षा नहीं थी। साधारणतः प्रचलित नियम यह था कि पैतृक परम्परा के क्रम से उत्तराधिकार के आधार पर राजा अपने पुत्र को अपने आसन पर अभिषिक्त कर देता था। स्मृति के अनुसार पैतृक सम्पत्ति का अधिकारी एकमात्र ज्येष्ठ पुत्र ही होता है और कनिष्ठ पुत्र पिता के समान अपने ज्येष्ठ भ्राता के अनुजीवी माने गये हैं[४१]।

पुराण के चतुर्थ अंश में परिवर्णित राजाओं की वंशावली से एतत्सम्बन्धी उदाहरण उपलब्ध किये जा सकते हैं। पौराणिक प्रसंगों से यह भी ज्ञात होता है कि यदि किसी विशिष्ट राजा के एकाधिक पुत्र होते थे तो उसके ज्येष्ठ पुत्र के ही वंशक्रम का उल्लेख हुआ है, किन्तु कनिष्ठ पुत्रों की कोई चर्चा नहीं है। यथा—कुवलयाश्व के अवशिष्ट तीन (दृढाश्व, चन्द्राश्व और कपिलाश्व) पुत्रों में ज्येष्ठ दृढाश्व के ही वंशक्रम का उल्लेख है[४२]।

पुनः महाराज मान्धाता के तीन (पुरुकुत्स, अम्बरीष और मुचकुन्द) पुत्रों में ज्येष्ठ पुरुकुत्स की ही वंशावली का विवरण मिलता है[४३]।

इसके विपरीत ज्येष्ठ पुत्र के अभिषेचनसम्बन्धी स्मार्त नियम के उल्लंघन के भी उदाहरण दृष्टिगोचर होते हैं : राजा ययाति ने ज्येष्ठ पुत्र के उत्तराधिकार

---

४०. तु० क० ३।११।५–७

४१. ज्येष्ठ एव तु गृह्णीयात्पित्र्यं धनमशेषतः।
शेषास्तमुपजीवेयुर्यथैव पितरं तथा॥ —म० स्मृ० ९।१०५

४२. तु० क० ४।२।४३ से

४३. वही ४।३।१६ से

की उपेक्षा कर अपने आज्ञाकारी कनिष्ठ पुत्र पूरु को अभिषिक्त किया और वे स्वयं वन में चले गये[४४]।

अन्य प्रसंग में सहस्रार्जुन के पाँच (शूर, शूरसेन, वृषसेन, मधु और जयध्वज) पुत्रों में कनिष्ठ केवल जयध्वज की वंशावली की चर्चा है[४५]।

ऐसे ही परावृत् के पाँच पुत्रों में तृतीय ज्यामघ की वंशावली का वर्णन है[४६] किन्तु शेष की कोई चर्चा नहीं।

ऐसे भी अनेक प्रसंग आये हैं कि ज्येष्ठत्व का कोई विचार न कर पिता ने अपने पुत्रों में समानरूप से अंश विभाजन कर दिया है। स्वायम्भुव मनु के ज्येष्ठ पुत्र महाराज प्रियव्रत ने सम्पूर्ण पृथिवी के विभाजित सात द्वीपों में अपने सात पुत्रों को अभिषिक्त कर दिया था[४७]।

प्रियव्रत के पुत्र अग्नीध्र ने जम्बूद्वीप के विभाजित नौ वर्षों में अपने नौ पुत्रों को अभिषिक्त कर दिया था। शतजित् के विष्वग्ज्योति प्रभृति सौ पुत्रों ने भारतवर्ष को नौ भागों में विभाजित कर उन में राजत्व किया था[४८]।

ज्येष्ठ पुत्र पूरु को सम्पूर्ण भूमण्डल के राज्य पर अभिषिक्त करने के पश्चात् ययाति ने अपने चार अग्रज पुत्रों को माण्डलिक पद पर नियुक्त कर दिया था[४९]।

राजा बलि के पाँच पुत्र थे और पाँच राज्यों में उन्हें अभिषिक्त किया गया था। बलिपुत्रों के नामों पर ही उनके पाँचों जनपद अभिहित हुए—अङ्ग, वङ्ग, कलिङ्ग, सुह्म और पौण्ड्र[५०]।

याज्ञवल्क्य का ऐसा आदेश है कि यदि पिता अपनी इच्छा के अनुसार पुत्रों के लिए सम्पत्ति का विभाग करना चाहे तो वह ज्येष्ठ

---

४४. पूरोस्सकाशादादाय जरां दत्त्वा च यौवनम्।
राज्येऽभिषिच्य पूरुं च प्रययौ तपसे वनम्॥ —४।१०।३०

४५. तु० क० ४।११।२१–२२ से

४६. वही ४।११

४७. प्रिय-व्रतो ददौ तेषां सप्तानां मुनिसप्तम।
सप्तद्वीपानि मैत्रेय विभज्य सुमहात्मनाम्। —२।१।११

४८. तु० क० २।१।१५।२२ और ४०–४१

४९. वही ४।१०।३१–३२

५०. वही ४।१८।१२–१४

को श्रेष्ठ अंश दे सकता है अथवा सब पुत्रों में सम भाग से अपनी सम्पत्ति का अंश वितरण कर सकता है[५०]।

ऋग्वेद के युग में राज्याभिषेचन पैतृक परम्परा के अनुसार ही विहित माना जाता था। वेद में इसके उदाहरण प्रायः उपलब्ध होते हैं। पश्चात्कालीन संहिताओं से पैतृक परम्परागत राजत्वविधान का स्पष्टीकरण हो जाता है। सृञ्जय के राजत्व के विषय में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि उसकी दस पीढ़ियों ने लगातार शासन किया था। यह भी स्वीकार किया गया है कि वैदिक साहित्यों में ऐसे उदाहरणों का भी अभाव नहीं है कि यदा-कदा निर्वाचन के द्वारा भी राजा अभिषिक्त किये जाते थे। जायसवाल का मत है कि राज्याभिषेचन और शास्त्रीय विधिविधानों में हिन्दू राजनिर्वाचन-विषयक मान्यता की कभी उपेक्षा नहीं की गयी, वरञ्च इस पद्धति को सदा प्रचलित रखा गया। प्रजाओं के द्वारा राजनिर्वाचनसम्बन्धी प्रसङ्ग जातक साहित्यों में उल्लिखित नहीं हुआ है। जातक साहित्यानुसार पैतृक परम्परा के अधिकार से ही साधारणतः राज्याभिषेक होता था। महाभारत आदि महाकाव्यों में राजनिर्वाचन के सम्बन्ध में कुछ विशिष्ट उदाहरण मिलते हैं किन्तु यहाँ भी पैतृक परम्परा के ही अनेकों उदाहरण पाये जाते हैं[५१]।

विधेय राजकार्य—क्षत्रिय के लिये यह विधेय माना गया है कि वह शस्त्रधारण करे और पृथिवी की रक्षा करे। क्योंकि शस्त्रधारण और पृथिवी की रक्षा ही क्षत्रिय की उत्तम आजीविका है, इनमें भी पृथिवी का पालन उत्कृष्टतर है। पृथिवी-पालन से राजा लोग कृतकृत्य हो जाते हैं, क्योंकि पृथिवी पर होने वाले यज्ञादि कर्मों का अंश राजा को मिलता है। जो राजा अपने वर्णधर्म को स्थिर रखता है वह दुष्टों को दण्ड देने और साधुजनों का पालन करने से अपने अभीष्ट लोकों को प्राप्त कर लेता है[५२]।

प्रजा का अनुरंजन करना भी विधेय राजकार्यों में से एकतम माना गया है। वेन ने जिस प्रजा को अपरक्त (अप्रसन्न) किया था उसी को पृथु ने अनुरंजित (प्रसन्न) किया। अतः अनुरंजन करने से उनका नाम राजा हुआ[५३]।

---

५०. विभागं चेत्पिता कुर्यादिच्छया विभजेत्सुतान्।
ज्येष्ठं वा श्रेष्ठभागेन सर्वे वा स्युः समांशिनः॥—या० स्मृ० २।११४

५१. क० हि० वा० १६७

५२. तु० क० ३।८।२७-२९

५३. पित्रापरञ्जितास्तस्य प्रजास्तेनानुरञ्जिताः।
अनुरागात्ततस्तस्य नाम राजेत्यजायत॥—१।१३।४८

अराजकता के कारण ओषधियों के नष्ट हो जाने से भूख से व्याकुल हुई प्रजाओं ने पृथिवीनाथ पृथु से निवेदन किया था—"विधाता ने आप को हमारा जीवनदायक प्रजापति बनाया है, अतः क्षुधारूप महारोग से पीडित हम प्रजाजनों को जीवनरूप ओषधि दीजिये।" प्रजाजनों के ऐसे निवेदन से क्रोधित होकर राजा ओषधियों का अपहरण करने वाली गोरूपधारिणी पृथिवी को मारने के लिए उद्यत हो गये और बोले "अरी वसुधे, तुझे मारकर मैं अपने योगबल से ही अपनी प्रजा को धारण करूँगा[५४]।" ऐसा कह कर पृथिवी से प्रजा के हित के लिए समस्त धान्यों को दुहा था उसी अन्न के आधार से अब भी प्रजा जीवित रहती है[५५]। प्राचीनबर्हि नामक प्रजापति ने अपनी प्रजा की सर्वथा वृद्धि की थी[५६]। एक प्रसंग में कहा गया है कि शशाद (विकुक्षि) नामक राजा ने पिता के मरने के अनन्तर इस पृथिवी का धर्मानुसार शासन किया था[५७]। महाराज सहस्रार्जुन के सम्बन्ध में विवरण है कि यज्ञ, दान, तप, विनय और विद्या में उसकी समता कोई भी राजा नहीं कर सकता[५८]। पुराण में कलियुग के उन भावी राजाओं को निन्दित माना गया है जो प्रजा की रक्षा नहीं करेंगे[५९]। एक प्रसंग पर खाण्डिक्य ने केशिध्वज से कहा था कि क्षत्रियों का धर्म प्रजाओं का पालन तथा राज्य के विरोधियों का धर्म युद्ध से वध करना है[६०]।

ज्ञात होता है कि महाराज पृथु के पूर्व मनुष्येतर स्थावर जंगम आदि अशेष प्राणिजगत् के लिए पृथक्-पृथक् राजाओं की व्यवस्था नहीं थी। इस प्रकार के विधान में मानव जगत् के राजा के रूप में सर्वप्रथम वेनपुत्र पृथु ही दृष्टिपथ में अवतीर्ण होते हैं, क्योंकि महर्षियों ने जब पृथु को राज्यपद पर अभिषिक्त किया तब लोकपितामह ने भी क्रमशः नक्षत्र, वन, पशु आदि के

---

५४. आत्मयोगबलेनेमा धारयिष्याम्यहं प्रजाः। —१।१३।७६

५५. वही १।१३

५६. प्राचीनबर्हिर्भगवान्महानासीत्प्रजापतिः।
हविर्धानान्महाभाग येन संवर्धिताः प्रजाः।—१।१४।३

५७. पितर्युपरते चासावखिलामेतां पृथ्वीं धर्मतश्शशास। —४।२।१९

५८. न नूनं कार्तवीर्यस्य गतिं यास्यन्ति पार्थिवाः।
यज्ञैर्दानैस्तपोभिर्वा प्रश्रयेण श्रुतेन च॥—४।११।१६

५९. तु० क० ६।१।३४

६०. क्षत्रियाणामयं धर्मो यत्प्रजापरिपालनम्।
वधश्च धर्मयुद्धेन स्वराज्यपरिपन्थिनाम्॥ —६।७।३

राज्यपदों पर तदुपयुक्त विभिन्न राजाओं को नियुक्त किया था[६१]। स्वायम्भुव मनु के पुत्र सार्वभौम चक्रवर्ती महाराज प्रियव्रत के साम्राज्य की अवधि में भी इस प्रकार की व्यवस्था का संकेत नहीं मिलता है। यह भी संकेत है कि प्रजा-रक्षण के अतिरिक्त धर्माचरण[६२] भी विधेय राजकार्यों में से एक था। यज्ञ, दान, तप, विनय और विद्या आदि सद्गुणों को धर्म का मुख्य अंग माना गया है।

ऋग्वेद में प्रजाओं का पालन करना ही राजाओं का परम कर्त्तव्य माना गया है। शतपथब्राह्मण के अनुसार राजा को विधान और धर्म का धारणकर्ता कहा गया है। विधान को धारण करने ही के कारण राजा 'राष्ट्रभृत्' नाम से अभिहित होता है। शतपथब्राह्मण के मत से गौतम प्रभृति प्रारंभिक धर्म-शास्त्रीय सिद्धान्तानुसार धर्म एवं चातुर्वर्ण्य का रक्षण ही राजा का विधेय कार्य है। इस सम्बन्ध में कौटिल्य का भी यही मत है[६३]। मैकडौनेल एवं कीथ के मतानुसार अपनी योधोपम सेवाओं के प्रतिदान के रूप में राजा अपनी प्रजा के द्वारा आज्ञापालन, जो कभी कभी बलात्कार से भी होता था, और विशेषत; राज्यसञ्चालन के लिए योगदान का अधिकारी होता था। राजा को नियमित रूप से 'प्रजाभक्षक' कहा गया है, किन्तु इस वाक्पद को इस अर्थ में ग्रहण नहीं करना चाहिये कि राजा अपनी प्रजा को अनिवार्यतः त्रस्त ही करता था। इस की उत्पत्ति उस प्रथा में निहित है जिसके द्वारा राजा और उस के पार्षद जनता के करों के द्वारा पोषित होते थे। इस प्रथा के अन्य समानान्तर उदाहरण मिलते हैं। राजा के द्वारा अपने पोषण के राजकीय अधिकार को किसी अन्य क्षत्रिय का उत्तरदायित्व बना सकना भी संभव था और इस प्रकार प्रजा के द्वारा पोषित समाज में एक अन्य उच्च वर्ग का भी विकास हो गया। सामान्यतया क्षत्रिय और ब्राह्मण को कर नहीं देना पड़ता था। वैदिक साहित्यों में राजा के द्वारा विजित सम्पत्ति के सर्वथा मुक्त होने के अत्यन्त निश्चित विचार मिलते हैं। फिर भी राजा की शक्ति प्रजा में ही निहित होती थी[६४]।

---

६१. वही १।२२

६२. यस्मिन्धर्मो विराजेत तं राजानं प्रचक्षते।

—म० भा० शान्ति० ९०।३१८

६३. क० हि० वा० १६५

६४. वै० इ० २।२३७–८

राज कर

यह संकेत तो अवश्य मिलता है कि पौराणिक युग में प्रजा को राजा के लिए कर (Tax) देना पड़ता था, किन्तु निश्चित रूप से यह कहना कठिन है कि यह विधान प्रजा के लिए सर्वथा अनिवार्य था अथवा देश, काल और पात्र के अनुसार इस प्रथा की निवार्यता भी थी। करप्रथा की अनिवार्यता अथवा निवार्यता के सम्बन्ध में पुराण में स्पष्टीकरण नहीं हुआ है। किन्तु यह संकेत अवश्य उपलब्ध होता है कि कर की मात्रा परिमित अथवा नाममात्र की थी। कलियुगी राजाओं और कलिधर्मों की हेयता के विषय में कथन है कि अतिलोलुप राजाओं के करभार को सहन न कर सकने के कारण प्रजा गिरिकन्दराओं का आश्रय ग्रहण करेगी तथा मधु, शाक, मूल, फल, पत्र और पुष्प आदि खाकर दिन काटेगी[६५]। एक स्थल पर कलियुग की नीचता के प्रदर्शन में पराशर का कथन है कि कलि के आने पर राजालोग प्रजाओं की रक्षा नहीं करेंगे, वरञ्च 'कर' लेने के व्याज से प्रजाओं के धन छीन लेंगे। प्रजाजन दुर्भिक्ष और कर की पीडा से अत्यन्त खिन्न और दुःखित होकर ऐसे देशों में चले जायँगे जहाँ गेहूँ और जौ की अधिकता होगी[६६]।

वैदिक वाङ्मय में भी राजकर के विषय में एक प्रसंग आया है। ऋग्वेद में एक गान है जिस के अन्तिम पद के अनुसार वह प्रजा से कर लेने का एक मात्र अधिकारी और उनका राजा निश्चित होता है[६७]। "कर लेने का एकमात्र अधिकारी" पद से यह सूचित होता है कि उस समय तक यह निश्चित हो चुका था कि राजा को प्रजा से कर लेने का नियमित रूप से अधिकार है। प्रजा से कर लेने का राजा के अतिरिक्त और किसी का अधिकार नहीं होता था। राजा से एक उच्च आसन ग्रहण करने की प्रार्थना की जाती थी। इस सम्बन्ध में स्थान देने का एक मुख्य विषय यह है कि वह आसन राष्ट्र के शरीर का सर्वोच्च स्थान कहा गया है। इस से सिद्ध होता है कि राष्ट्र के शरीरधारी होने का विचार उसी समय उत्पन्न हो चुका था, जिस समय वैदिक एकराजता का आरंभ हुआ था। शतपथब्राह्मण (५।४।२।३) के अनुसार राजा सब से अपना कर ले सकता है किन्तु ब्राह्मणों से कर लेने का वह अधिकारी नहीं है। ऐतरेय ब्राह्मण (७।२९) का प्रतिपादन शतपथ से

---

६५. तु० क० ४।२४।९४-५

६६. वही ६।१।३४ और ३८

६७. ध्रुवं ध्रुवेण हविषाभि सोमं मृशामसि।
अथो त इन्द्रः केवलीर्विशो बलिहृतस्करत् ॥ —१०।१७३।६

भिन्न है। इसके मत से ब्राह्मण पूर्ण रूप से राजा के अधीन है और यही सिद्धान्त जातक साहित्यों को भी मान्य है[६८]। इस परिस्थिति में यह निश्चय करना एक कठिन कार्य है कि वास्तव में ब्राह्मण राजकर से मुक्त थे अथवा नहीं पर इतना तो अवश्य है कि वेदज्ञ ब्राह्मण से कर लेने का राजा को अधिकार नहीं था। अपने धर्मशास्त्र में वशिष्ठ का प्रतिपादन है कि यदि राजा धर्म के अनुसार शासन करता हो तो उसे प्रजा से धन का षष्ठ अंश राज-कर के रूप में ग्रहण करना चाहिये, ब्राह्मण को छोड़ कर, क्योंकि वह (प्रजा) अपने सत्कर्मों अथवा पुण्यों का षष्ठ अंश (राजा को) देती है। ब्राह्मण वेदों की वृद्धि करता है, ब्राह्मण आपत्ति से (राजा का) उद्धार करता है इस हेतु से ब्राह्मण पर करविधान नहीं होना चाहिये। वस्तुतः सोम उस का राजा होता है[६९]। महाभारत में कहा गया है कि जो ब्राह्मण वैदिक पुरोहित नहीं हैं उन के लिए राजकर दातव्य है[७०]। धर्मशास्त्र में भी यही कथन है कि अन्तिम काल में भी राजा को वैदिक पुरोहित से राजकर लेना कदापि उचित नहीं है[७१]। इस प्रसंग से अनुमित होता है कि राजा समस्त वर्ण जातियों से कर लेने का वैधानिक रूप से अधिकारी है किन्तु वेदज्ञ ब्राह्मणों तथा पौरोहित्यवर्गीय ब्राह्मणों से कर लेने का अधिकारी नहीं।

यज्ञानुष्ठान—इसके पूर्व "समाज व्यवस्था" नामक अध्याय में यज्ञानुष्ठाता यजमान के रूप में अनेक राजाओं के नाम आये हैं और उनके यज्ञानुष्ठान का सामान्य विवेचन भी हो चुका है, किन्तु उनमें से अधिकांश राजाओं के द्वारा अनुष्ठित विशिष्ट यज्ञों का पुराण में नामनिर्देश नहीं मिलता है। यथा—किसी ने पाँच सौ वर्षों में समाप्यमान यज्ञानुष्ठान किया तो किसी ने सहस्र वर्षों में समाप्यमान। किसी ने पृथिवी में अभूतपूर्व यज्ञानुष्ठान सम्पन्न किया तो किसी ने दश सहस्र यज्ञ किये। पराशर के 'रक्षोघ्न', पृथु के 'पैतामह',

---

६८. हि० रा० त० २।५३

६९. राजा तु धर्मेणानुशासत्षष्ठं धनस्य हरेत्।
अन्यत्र ब्राह्मणात्।
इष्टापूर्तस्य तु षष्ठमंशं भजतीति ह।
ब्राह्मणो वेदमाढ्यं करोति ब्राह्मण आपद उद्धरति तस्माद्ब्राह्मणो नाद्यः सोमोऽस्य राजा भवती ह। —वही २।५४

७०. अश्रोत्रिया सर्व एव सर्वे चानाहिताग्नयः।
तान्सर्वान्धार्मिको राजा बलिं विष्टिं च कारयेत्॥ —शान्ति० ७६।५

७१. म्रियमाणोऽप्याददीत न राजा श्रोत्रियात्करम्। —म० स्मृ० ७।१३३

सोमदत्त, सगर तथा उशना के 'अश्वमेध' और सोम के 'राजसूय'—यज्ञों का नामनिर्देश अवश्य किया गया है।

अश्वमेध—अश्वमेध यज्ञ के सम्बन्ध में कीथ का मत है कि राज्यविजय के पश्चात् अपनी राजधानी में पहुँच कर राजा लोग इस यज्ञ का अनुष्ठान करते थे। जातक साहित्यों में अश्वमेध अनुष्ठान के उदाहरण नहीं उपलब्ध होते हैं। कौटिल्य ने केवल एक उपमा के रूप में इस यज्ञ का वर्णन किया है। महाभारत में अश्वमेध के अनेक उदाहरण दृष्टिगोचर होते हैं। इसके अनुष्ठान के सम्बन्ध में शिलालेख का साक्ष्य भी मिलता है[७२]।

राजसूय—अथर्व वेद और तैत्तिरीय संहिता में "राजकीय प्रतिष्ठापन" संस्कार के लिए 'राजसूय' का प्रयोग हुआ है। कीथ का मत है कि शुनःशेप की घटना के वर्णन के आधार पर यह मानना कि पुरुष-वध भी कभी राजसूय संस्कार का एक अंग था, जैसा कि ओल्डेनबर्ग आदि विद्वानों ने माना है, अत्यन्त सन्देहास्पद है। पुरोहितीय विस्तारण के अतिरिक्त इस संस्कार में लौकिक समारोह के चिह्न भी वर्तमान हैं। उदाहरणार्थ राजा अपनी मर्यादा के औपचारिक परिधान और सार्वभौमिक सत्ता के प्रतीक रूप में धनुष और बाण धारण करता है। उसका औपचारिक अभिषेक होता है और वह अपने किसी सम्बन्धी की गायों पर कृत्रिम आक्रमण अथवा किसी राजन्य के साथ कृत्रिम युद्ध करता है। अक्षक्रीडा का भी आयोजन होता है जिसमें उसे विजनी बनाया जाता है। अपने सार्वभौमिक शासन को व्यक्त करने के लिए वह प्रतीकात्मक रूप से आकाश की दिशाओं पर चढ़ता है और सिंहचर्म पर खड़ा होकर सिंह की शक्ति तथा विशिष्टता प्राप्त करता है[७३]।

सभा—जहाँ तक हमारे ज्ञान की गति है, सभा शब्द का उल्लेख पुराण के एक ही स्थल पर हुआ है। केशव ने वायु के द्वारा इन्द्र को संवाद भेजा कि वह अपना गर्व छोड़ कर सुधर्मा नाम की सभा उग्रसेन को दे दे, क्योंकि सुधर्मा नामक रत्नविनिर्मित सभा राजा के ही योग्य है। उसमें यादवों का ही विराजमान होना उपयुक्त है[७४]।

---

७२. क० हि वा० १७१

७३. श० ब्रा०, ऐ० ब्रा० अथवा वै० इ० २।२४५-६

७४. गच्छेदं ब्रूहि वायो त्वमलं गर्वेण वासव।
दीयतामुग्रसेनाय सुधर्मा भवता सभा॥
कृष्णो ब्रवीति राजाहंमेतद्रत्नमनुत्तमम्।
सुधर्माख्यसभायुक्तमस्यां यदुभिरासितुम्॥ —५।२१।१४-१५

इस प्रसंग से अवगत होता है कि अमूल्य रत्नविनिर्मित वह सुधर्मा सभा सदस्य-मण्डली के उपवेशन के लिए एक विशाल आसन था, जो देवराज इन्द्र के अधिकार में था।

सभा शब्द का ऋग्वेद में बहुधा उल्लेख हुआ है। सभा शब्द से वहाँ वैदिक भारतीयों की सभा तथा 'सभाभवन' का तात्पर्य है, किन्तु इसकी ठीक-ठीक प्रकृति निश्चित नहीं। जब सभा कोई सार्वजनिक कार्य सम्पन्न नहीं कर रही थी तब संभवतः सभाभवन का स्पष्टतः द्यूत-कक्ष के रूप में भी प्रयोग किया जाता था। एक द्यूतकार को निश्चित रूप से इस लिए 'सभा-स्थाणु' नाम से अभिहित किया गया है कि वह वहां सदैव उपस्थित रहता था। लुडविग के अनुसार सभा समस्त प्रजाजनों की नहीं, किन्तु ब्राह्मणों और मघवनों (सम्पन्न दाताओं) की होती थी[७५]। इन विवरणों के साथ अपनी पौराणिक सभा का स्पष्टतः कोई सामञ्जस्य प्रतीत नहीं होता है।

गण—अपने पुराण में गण शब्द का उल्लेख यदा कदाचित् ही हुआ है और सम्भवतः वह समूह अथवा संघ के पर्यायवाचक के रूप में हुआ है। यथा—तृतीय मन्वन्तर में सुधाम, सत्य, जप, प्रतर्दन और वशवर्ती—ये पाँच बारह-बारह देवताओं के गण थे। चतुर्थ तामस मन्वन्तर में सुपार, हरि, सत्य और सुधि—ये चार देवताओं के वर्ग थे और इनमें से प्रत्येक वर्ग में सत्ताईस-सत्ताईस देवगण थे। पञ्चम मन्वन्तर में चौदह-चौदह देवताओं के अमिताभ, भूतरय, वैकुण्ठ और सुमेधा नामक गण थे। षष्ठ मन्वन्तर में आप्य, प्रसूत, भव्य, पृथुक और लेख—ये पाँच प्रकार के महानुभाव देवगण थे[७६]।

पाणिनि व्याकरण के अनुसार गण शब्द संघ का पर्यायवाची है[७७]। प्रारंभिक बौद्ध साहित्य में प्रजातन्त्र के प्रतिपादक के रूप में गण शब्द दृष्टिगोचर होता है। पालि के मज्झिमनिकाय में संघ और गण साथ ही साथ आये हैं तथा उनसे बौद्धकालीन प्रजातन्त्रों का अभिप्राय निकलता है[७८]। किन्तु विष्णुपुराण में प्रयुक्त गण शब्द का राजनीतिकता के साथ कोई अभिप्राय प्रतीत नहीं होता है। इन पौराणिक गण शब्दों का प्रयोग केवल समूह अथवा समुदाय के वाचक के समान अवगत होता है।

---

७५. वै० इ० २।४७०-१

७६. तु० क० ३।१।१४, १६, २१ और २७

७७. ३।३।८६

७८. तु० क० १।४।५३५

जनपद—जहां तक हम समझते हैं, जनपद शब्द का प्रयोग अपने पुराण में दो-एक बार से अधिक नहीं हुआ है और यह पौराणिक जनपद शब्द देश अथवा राज्य का पर्याय ही प्रतीत होता है। कलयुगी राजाओं के प्रसङ्ग में कहा गया है कि नैषध, नैमिषक और कालकोशक आदि जनपदों को मणिधान्यक वंशीय राजा भोगेंगे। त्रैराज्य और मुषिक नामक जनपदों पर कनक नामक राजा का राज्य होगा[७९]।

ऐतरेयब्राह्मण (८. १४) और शतपथब्राह्मण (१३. ४, २, १७) में जनपद शब्द 'राजा' के विपरीत सामान्य जनता के द्योतक रूप में आया है। तैत्तिरीय ब्राह्मण (२. ३, ९, ९), बृहदारण्यकोपनिषद् (२. १, २०) और छान्दोग्योपनिषद् (५. ११, ५; ८. १, ५) में जनपद शब्द भूमि अथवा प्रदेश के द्योतक रूप में अवतीर्ण हुआ है। पुनः शतपथब्राह्मण (१४. ५, १, २०) में 'प्रजाजन' विशेषणात्मक शब्द 'जानपद' के द्वारा भी व्यक्त होता है[८०]। हमारे विष्णुपुराण में प्रयुक्त 'जनपद' शब्द उपर्युक्त तैत्तिरीय ब्राह्मण, बृहदारण्यक और छान्दोग्य उपनिषदों के समान भूमि अथवा देश के ही पर्यायवाचक प्रतीत होते हैं।

राष्ट्रियभावना— राष्ट्रियता की जो निर्मल धारा अपने पुराण में प्रवाहित हुई है वह अतुलनीय ही अवगत होती है। भारतवर्षीय प्रजाजनों के धर्माचरण, कर्मयोग आदि निष्काम सद्व्यापारों के कारण जो ऐहलौकिक एवं पारलौकिक अभ्युदय एवं निःश्रेयस उपलभ्य हैं, इस से स्वर्गीय देवगण भी अपने को भारतीय जनता की अपेक्षा हीन समझते हैं। भारतभूमि के महत्त्व वर्णन में देवगणों का प्रतिपादन है कि यह देश कर्मभूमि है किन्तु अन्यान्य देश भोगभूमियाँ है। यहीं पर अनुष्ठित सुकर्म अथवा कुकर्म के सुख अथवा दुःख रूप फलों के उपभोग के लिए अन्य लोकों में प्रजाजनों को जन्म ग्रहण करना पड़ता है। जीव को सहस्रों जन्मों के अनन्तर महान् पुण्योदय के होने पर ही कभी इस भारतवर्ष में मनुष्यजन्म प्राप्त होता है। देवगण भी निरन्तर यही गान करते हैं कि जिन्हों ने स्वर्ग और अपवर्ग के मार्गभूत भारतवर्ष में जन्म ग्रहण किया है तथा जो इस कर्मभूमि में जन्मग्रहण कर अपने फलाकांक्षा से रहित कर्मों को परमात्मा में अर्पण करने से निर्मल होकर उस अनन्त में ही लीन हो जाते हैं वे पुरुष हम देवताओं की अपेक्षा भी अधिक धन्य हैं[८१]।

---

७९ तु० क० ४।२४।६६-६७

८०. वै० इ० १।२०६

८१. अत्र जन्मसहस्राणां सहस्रैरपि सत्तम।

संस्कृत कवियों ने राष्ट्रनिहित अपनी गौरव भावना को बड़ी ओजस्वी तथा प्राणवान् भाषा में व्यक्त किया है। स्मृतिकार ने हमारे राष्ट्रिय चरित्र के आदर्श एतद्देशप्रसूत अग्रजन्मा ब्राह्मण के चरित्र से विश्वमात्र के मनुष्यों को शिक्षा लेने का परामर्श दिया है[८२]। अपने राष्ट्रिय चरित्र की आदर्शता के अभिमानी स्मृतिकार की दृष्टि में भारतवर्ष विश्व का गुरु है। इसी प्रकार महाकवि कालिदास की दृष्टि में हिमालय गिरि के प्रति जो राष्ट्रिय भावना अवतीर्ण हुई है उससे आदर्श उदात्तता प्रकट होती है। कवि ने उसे देवताओं का आत्मा, नगाधिराज और पृथिवी का मानदण्ड—इन तीन महाप्राण विशेषणों के द्वारा विशेषित कर अपने उच्छ्रित जातीय तथा राष्ट्रिय स्वाभिमान को व्यक्त किया है[८३]।

निष्कर्ष—उपरि वर्णित राजनीतिक विवरणों से विदित होता है कि पौराणिक युग में एकमात्र राजतन्त्र शासन का ही आधिपत्य था। प्रजातंत्र वा गणतंत्र राज्य का सर्वत्र और सर्वथा अभाव था, किन्तु प्रजाजनों की सुखसुविधा की सर्वत्र आदर्श व्यवस्था थी। प्रजाशासन में स्वार्थभावना का राजा में सर्वथा अभाव था। धर्माचार का पालन करना राजाओं के लिए अनिवार्य व्रत था। राजाओं के ही धर्माचरण एवं पुण्य-प्रताप से भारतवर्ष स्वर्ग से भी श्रेष्ठ था। राजाचरण से प्रभावित जनसमुदाय भी धर्मनिष्ठ था, क्योंकि राजा के व्यापार के अनुसार ही प्रजा की भी प्रवृत्ति होती है[८४]। प्रजाओं से राज़ कर लेने की प्रयोजनीयता तो थी, किन्तु स्वल्प वा नाममात्र। धर्महीन, स्वार्थी

कदाचिल्लभतेजन्तुर्मानुष्यं पुण्यसञ्चयात् ॥
गायन्ति देवा किल गीतकानि, धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे।
स्वर्गापवर्गास्पदमार्गभूते, भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात् ॥
कर्माण्यसंकल्पिततत्फलानि, संन्यस्य विष्णौ परमात्मभूते।
अवाप्य तां कर्ममहीमनन्ते, तस्मिँल्लयं ये त्वमलाः प्रयान्ति ॥
—१।३।२३–५

८२. एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥ —म० स्मृ० २

८३. अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा, हिमालयो नाम नगाधिराजः।
पूर्वापरौ तोयनिधी वगाह्य, स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः ॥
—कु० सं० १।१

८४. राज्ञि धर्मिणि धर्मिष्ठाः पापे पापाः समे समाः।
राजानमनुवर्त्तन्ते यथा राजा तथा प्रजाः ॥ —भोजप्रबन्ध, ४४

एवं नास्तिक राजाओं की हत्या कर डालना भी अविधेय नहीं समझा जाता था। राजा वेन के प्रसंग में कहा गया है कि जब वह धर्महीनता के कारण परमेश्वर से भी अपने को महान् और श्रेष्ठ मानने लगा तथा उसने राज्य भर में घोषणा कर दी कि कोई भी दान, यज्ञानुष्ठान और हवन आदि धार्मिक कृत्य न करे। महर्षियों के समझाने पर भी जब उस आततायी राजा वेन ने अपना अधर्माचरण न छोड़ा तब मुनिगणों ने भगवान् के निन्दक उस राजा को मन्त्र के द्वारा पवित्रीकृत कुशों से मार डाला[८५]।

इस से यह निष्कर्ष निकलता है कि राजा धर्माचरण के साथ निरन्तर प्रजापालन में दत्तचित्त रहते थे। राष्ट्र में अधार्मिक एवं स्वार्थी राजा की प्रयोजनीयता नहीं रहती थी। दुराचारी और नास्तिक राजा को राज्यच्युत अथवा उसकी हत्या के कार्य में प्रजावर्ग एकमत हो जाता था। पौराणिक राजतन्त्र राज्य गणतन्त्र राज्य की अपेक्षा किसी भी मात्रा में हीनतर नहीं था। प्रजाजनों की सुख-समृद्धि के लिए राजा निःस्वार्थ भाव से सचेष्ट रहता था इसी कारण से प्रजा भी राजा को देवतुल्य ही मानती थी।

---

८५. इत्युक्त्वा मन्त्रपूतैस्तैः कुशैर्मुनिगणा नृपम्।
निजघ्नुर्निहतं पूर्वं भगवन्निन्दनादिना॥ —१।१३।२९

पञ्चम अंश

शिक्षा साहित्य

[उद्देश्य और लक्ष्य, वयः क्रम, शिक्षा की अवधि, प्रारम्भिक शिक्षा, शिक्षणकेन्द्र, शिक्षणपद्धति, संस्था और छात्र संख्या, पाठोपकरण, गुरु की सेवा-शुश्रूषा, शिक्षण शुल्क, शारीरिक दण्ड, सहशिक्षा, क्षत्रिय और वैश्य, शूद्र और वैदिक शिक्षा, गुरु और शिष्य-संघर्ष, पाठ्य साहित्य]

[प्रयुक्त साहित्य : (१) विष्णुपुराणम् (२) प्राचीन भारतीय शिक्षण-पद्धति (३) याज्ञवल्क्यस्मृतिः (४) काशिका (५) Geographical Dictionary of Ancient and Medieval India (६) महाभारतम् (७) मालविकाग्निमित्रम् (८) उत्तररामचरितम् (९) व्याकरणशिक्षा (१०) मनुस्मृतिः (११) गोपथब्राह्मणम् (१२) मालतीमाधवम् और (१३) जातक]

उद्देश्य और लक्ष्य—

पुराण में प्रतिपादित वर्णाश्रमधर्मसम्बन्धी तथा विधेय पठन-पाठन, यजन-याजन और दान-प्रतिग्रह, तपश्चरण और ध्यान-धारणा आदि समस्त धार्मिक कृत्यों का चरम उद्देश्य वा लक्ष्य विष्णुरूप परमात्मतत्त्व की सान्निध्यप्राप्ति ही है। कहा गया है कि ऋक्, यजुस्, सामन् और अथर्ववेद; इतिहास, उपवेद, वेदान्तवाक्य, वेदाङ्ग, धर्मशास्त्र, पुराणादिशास्त्र, आख्यान, अनुवाक (कल्पसूत्र) तथा काव्यचर्चा और सङ्गीतसम्बन्धी रागरागिणी आदि सम्पूर्ण आर्यवाङ्मय शब्दमूर्तिधारी परमात्मा विष्णु का ही शरीर हैं[1]। भगवान् ज्ञानस्वरूप हैं अत एव वे सर्वमय हैं, परिच्छिन्न पदार्थाकार नहीं हैं। पर्वत समुद्र और पृथिवी आदि भेदों को एकमात्र विज्ञान काही विलास जानना चाहिये[2]। एक अन्य प्रसंग पर कथन है कि मनुष्यों के द्वारा ऋक्, यजुस्, और सामवेदोक्त प्रवृत्ति-मार्ग से उन यज्ञपति पुरुषोत्तम यज्ञपुरुष का ही पूजन किया जाता है तथा निवृत्तिमार्ग में स्थित योगिजन भी उन्हीं ज्ञानात्मा ज्ञानस्वरूप मुक्तिफलदायक भगवान् विष्णु का ही ज्ञानयोग के द्वारा यजन करते हैं। ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत—इन त्रिविध स्वरों से जो कुछ कहा जाता है तथा जो वाणी का विषय नहीं है वह समस्त अव्ययात्मा विष्णु का ही है[3]।

---

१. १।२२।८३-८५

२. ज्ञानस्वरूपो भगवान्यतोऽसावशेषमूर्तिर्न तु वस्तुभूतः ।
ततो हि शैलाब्धिधरादिभेदाञ्जानीहि विज्ञानविजृम्भितानि ॥
—२।१२।३९

३. ऋग्यजुस्सामभिर्मार्गैः प्रवृत्तैरिज्यते ह्यसौ ।
यज्ञेश्वरो यज्ञपुमान्पुरुषैः पुरुषोत्तमः ॥
ज्ञानात्मा ज्ञानयोगेन ज्ञानमूर्तिः स चेज्यते ।
निवृत्ते योगिभिर्मार्गे विष्णुर्मुक्तिफलप्रदः ॥
ह्रस्वदीर्घप्लुतैर्यत्तु किंचिद्वस्त्वभिधीयते ।
यच्च वाचामविषयं तत्सर्वं विष्णुरव्ययः ॥ —६।४।४२-४४

इससे निष्पक्ष और स्पष्टतः सिद्ध होता है कि शिक्षा भगवत्प्राप्ति के लिए एक अनिवार्य साधन एवं प्रशस्त मार्ग है। शिक्षा के अभाव में भगवत्प्राप्ति सुगमतया सम्भव नहीं। भक्ति और कर्म आदि योग भी शिक्षा विकास के ही परिणाम हैं शिक्षा चाहे एकान्त वनस्थित गुरुकुल में मिली हो, नगर में अथवा अपने पितृगृह में, पर है वह साधन शिक्षा ही।

डॉ० अलतेकर का कहना है कि प्राचीन भारत में शिक्षा अन्तर्ज्योति और शक्ति का स्रोत मानी जाती थी जो शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक और आत्मिक शक्तियों के संतुलित विकास से हमारे स्वभाव में परिवर्त्तन करती तथा उसे श्रेष्ठ बनाती है। इस प्रकार शिक्षा हमें इस योग्य बनाती है कि हम समाज में एक विनीत और उपयोगी नागरिक के रूप में रह सकें। यह अप्रत्यक्ष रूप में हमें इह लोक और परलोक दोनों में आत्मिक विकास में सहायता देती है। प्राचीन भारत में धर्म का जीवन में बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान था। पुरोहित ही प्रायः आचार्य भी हुआ करते थे। अतः कोई आश्चर्य की बात नहीं कि उदीयमान सन्तति के मानस पर ईश्वरभक्ति और धार्मिकता की छाप लगाना शिक्षा का सर्वप्रथम उद्देश्य माना गया हो। साहित्यिक और व्यावसायिक—प्रारंभिक तथा उच्च दोनों—शिक्षाओं के प्रारम्भ में जिन संस्कारों की व्यवस्था की गयी थी, अध्ययन काल में जिन व्रतों का पालन ब्रह्मचारी को आवश्यक था, दैनिक सन्ध्या-पूजन, धार्मिक उत्सव जो प्रायः प्रत्येक मास में आचार्य के घर वा पाठशाला में हुआ करते थे—इस सब का लक्ष्य एक ही था, युवा ब्रह्मचारी में ईश्वरभक्ति और धार्मिकता की भावना भरना। जिस वातावरण में ब्रह्मचारी रहते थे वह ऐसा था जो ब्रह्मचारी के मानसपटल पर पारलौकिक जगत् की वास्तविकता की छाप लगा देता था और उसे विश्वास दिला देता था कि यद्यपि हमारा पार्थिव शरीर प्रकृति के विभिन्न तत्त्वों से निर्मित हुआ है पर हमारे अन्तर्यामी आत्मतत्त्व हैं जो आध्यात्मिक जगत् की वस्तु है। अतः उसी जगत् के नियमों से हमारे आचरण, चरित्र और आदर्शों का निर्माण होना चाहिए[४]।

वयःक्रम—राजा सगर के जिज्ञासा करने पर आश्रम धर्म के सम्बन्ध में और्व ने कहा है कि बालक को उपनयनसंस्कार के सम्पन्न हो जाने पर वेदाध्ययन में तत्पर होकर ब्रह्मचर्य व्रत का अवलम्बन कर सावधानतापूर्वक गुरुगृह में निवास करना चाहिए[५]। कृष्ण और बलराम उपनयन संस्कार के

---

४. प्रा० शि० पं० ५–७

५. बालः कृतोपनयनो वेदाहरणतत्परः।

अनन्तर विद्योपार्जन के लिए काशी में उत्पन्न हुए अवन्तिपुरवासी सान्दीपनि मुनि के निकट गये थे[६]।

इस से यह सिद्ध होता है कि आठ वर्ष तीन महीने की वयस में ब्राह्मण वटु, दशवर्ष तीन महीने की वयस में क्षत्रिय वटु और ग्यारह वर्ष तीन महीने की वयस में वैश्य कुमार विद्योपार्जन के लिए गुरुकुल में चले जाते थे। क्योंकि गुरुकुल में जाने के पूर्व बालकों को उपनीत हो जाना वैधानिक और आवश्यक था और स्मृतिकारों ने उपर्युक्त वयःक्रम को ही उपनयन के लिए वर्णानुसार विहित कहा है[७]। उप पूर्वक प्रापणार्थक णी धातु के आगे भाव अर्थ में ल्युट् प्रत्यय के योग से उपनयन शब्द निष्पन्न होता है। अतः उपनयन का शाब्दिक अर्थ होता है—छात्र को शिक्षा के लिए गुरु के पास ले जाना। एक विचारक का कहना है कि मूल रूप में यह संस्कार उस समय होता था जब विद्यार्थी वैदिक शिक्षा का प्रारम्भ करता था। उस काल में विद्यार्थी प्रायः गुरु के साथ ही रहते थे। तब यह संस्कार आवश्यक नहीं था। आपस्तम्ब धर्मसूत्र के आधार पर विचारक का कथन है कि ४०० ई० पू० तक ऐसे अनेक परिवार थे जिन में एक दो पीढ़ी तक यह संस्कार न होता था। यदि कोई विद्यार्थी चरित्र वा अयोग्यता के कारण वैदिक शिक्षा के योग्य न समझा जाता तो वह उपनयन संस्कार से वंचित रहता था[८]।

ज्ञात होता है कि प्राचीन भारतीयों की दृढ़ धारणा थी कि जीवन में विलम्ब से शिक्षा प्रारंभ करने से कोई लाभ नहीं होता। जो बालक सोलह वर्ष की अवस्था में शिक्षा प्रारंभ करता है वह अपने आचार्य का यश धवल नहीं कर सकता[९]। बाल्यकाल में मन संस्कारग्राही, स्मृति प्रखर और बुद्धि ग्रहणशील होती है। इसी काल में सदभ्यास का बीज वपन करना श्रेयस्कर होता है। प्राचीन भारतीयों ने आग्रहपूर्वक कहा है कि शिक्षा का

गुरुगेहे वसेद् भूप ब्रह्मचारी समाहितः॥ —३।९।१

६. ··· ··· ··· यदूत्तमौ॥

ततस्सान्दीपनिं काश्यमवन्तिपुरवासिनम्।
विद्यार्थं जग्मतुर्बालौ कृतोपनयनक्रमौ॥ —५।२१।१८-९

७. गर्भाष्टमेऽष्टमे वाब्दे ब्राह्मणस्योपनायनम्।
राज्ञामेकादशे सैके विशामेके यथाकुलम्॥ —या० स्मृ० १।१४

८. प्रा० शि० प० २०२-२०३

९. नातिषोडशवर्षमुपनयीत प्रसृष्टवृषणो ह्येष वृषलीभूतो भवति।
—जै० गृ० सू० १।१२ अथवा प्रा० शि० प० २०

प्रारंभ बाल्यावस्था में ही हो जाना उचित है[१०]। यही विधेय भी प्रतीत होता है।

शिक्षा की अवधि—किस वयस तक ब्रह्मचारी गुरुकुल में रह कर विद्याध्ययन करे—इस का स्पष्टीकरण अपने पुराण में नहीं हुआ है। पुराण में इतना ही कहा गया है कि अपना अभिमत वेदपाठ समाप्त कर चुकने पर शिष्य गुरु की आज्ञा से गृहस्थाश्रम में प्रवेश करे[११]। पाणिनि के एक सूत्र के उदाहरण में तो बतलाया गया है कि जीवन भर अध्ययन करना चाहिये[१२]। हम देखते हैं कि आधुनिक काल में भी जब अल्पमूल्य पुस्तकों और पुस्तकालयों का उपयोग सुलभ हो गया है तब भी विद्यालय से निकलने के कुछ ही वर्षों के अनन्तर विद्यार्थी अधिकांश अधीत ज्ञान को भूल जाते हैं। प्राचीन काल में जब पुस्तकें बहुमूल्य एवं दुर्लभ थीं, इसका और अधिक भय था। अतः हमारे शिक्षाशास्त्रियों का आग्रह है कि प्रत्येक स्नातक को विद्यालयों में पठित ग्रन्थों के किसी-न किसी अंश की आवृत्ति नियमित रूप से प्रतिदिन करनी चाहिये। समावर्त्तन-काल में आचार्य स्वाध्याय से प्रमाद न करने का उपदेश करता था[१३]। स्मृतिकार ने कहा है कि मित्र और ब्राह्मण की हत्या से जो पाप होता है, वही पाप एक बार पढ़े हुए पाठ को विस्मृत कर देने से होता है[१४]। डॉ० अलतेकर का मत है कि ज्ञानपरक विस्मृतिपटल को दूर करने के लिए वर्षाकाल में प्रत्येक स्नातक को स्वाध्याय के लिए अधिक समय देना आवश्यक था। किन्तु श्वेतकेतु के समान कुछ शिक्षाशास्त्री इस से सन्तुष्ट नहीं थे। उनका आग्रह था कि वर्षाकाल में स्नातक अपने अपने गुरुकुलों में २-३ मास फिर चले जावें और वहाँ विस्मृत विद्या को फिर अपनावें तथा नये ज्ञान को प्राप्त करें। किन्तु अन्य शास्त्रकारों का मत था कि यदि पूर्व पाठ सर्वथा विस्मृत हो गये हों तभी गुरुकुल में कुछ काल तक रहना आवश्यक है[१५]।

प्रारम्भिक शिक्षा—पौराणिक प्रमाण के आधार पर यह कहना सहज नहीं कि उस समय तक किसी लिपि का आविष्कार हो चुका था, क्योंकि

---

१०. प्रा० शि० प० २०

११. गृहीतग्राह्यवेदश्च ततोऽनुज्ञामवाप्य च।
गार्हस्थ्यमाविशेत्प्राज्ञः ··· ··· —३।९।७

१२. यावज्जीवमधीते। —काशिका ३।४।३०

१३. स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्। —तै० उ० १।११।१

१४. या० स्मृ० ३।२२८

१५. प्रा० शि० प० २०–२१

वर्णपरिचयविषयक निम्नस्तरीय पाठ्यशिक्षण का एक भी प्रमाण उपलब्ध नहीं है। प्राथमिक शैशव शिक्षा का पाठ्यविषय उच्चस्तरीय ही था। देखते हैं कि शैशवावस्था के बालकों को भी योग और राजनीति जैसे गंभीर और दुरूह विषय पढ़ाये जाते थे। औत्तानपादि शिशु ध्रुव को सप्तर्षियों ने प्रथम ही प्रत्याहार और धारणा की शिक्षा सफलतापूर्वक दी थी[१६] और शैशव अवस्थापन्न प्रह्लाद को गुरु ने सम्पूर्ण राजनीति शास्त्र की शिक्षा दे दी थी[१७]। यदि यह अनुमान किया जाय कि ध्रुव को सप्तर्षियों के यौगिक शिक्षा देने के और प्रह्लाद को गुरु के राजनीतिक शिक्षा देने के पूर्व ही अक्षरज्ञान करा दिया गया था तो यह निराधार ही होगा, क्योंकि उस समय ध्रुव निरवबोध शिशु था—वह माता की गोद में बैठने का अभ्यासी था और प्रह्लाद को "अर्भक" अभिहित किया गया था। अमरकोष (२. ५. ३८) में 'अर्भक" को शिशु का पर्याय माना गया है। दोनों के प्रसंगों से यही संकेत मिलता है कि यौगिक और राजनीतिक शिक्षा के पूर्व इन्हें शिक्षा सम्बन्धी किसी प्रकार का ज्ञान नहीं था।

प्रारम्भिक शिक्षा के सम्बन्ध में भारतीय संस्कृति के प्रामाणिक विद्वान् श्री एम्. अनन्थशयनम् अय्यङ्गर का प्राचीन वाङ्मय के आधार पर कहना है कि विद्यारंभ काल में पैतृक सम्प्रदायानुसार बालक से सर्वप्रथम तण्डुल-राशि पर 'ॐ' पूर्वक 'नमः शिवाय' वा 'नमो नारायणाय' अथवा 'नमः सिद्धये' लिखाया जाता था। यह प्रथम अक्षर 'ॐ' वेदों का साङ्केतिकरूप वा प्रतीक है तथा अक्षयज्ञान और साहित्य का मूल स्रोत। इस प्रणव—'ओम्' में तीन अक्षरों का योग है। यथा—अ + उ + म् = ओम्। इस में 'अ' परमेश्वर का वाचक है, 'म' वैयक्तिक जीवात्मा का तथा मध्यस्थ 'उ' शक्ति या लक्ष्मी का अथवा माता का। अतः यह 'उ' जीवात्मा और परमात्मा का संयोजक है[१८]। अपने पुराण में भी 'ॐ' को अविनाशी ब्रह्म माना गया है। इसी प्रणवरूप 'ॐ' ब्रह्म में त्रिलोकी—भूर्लोक, भुवर्लोक और स्वर्लोक—का अस्तित्व प्रतिपादित किया गया है[१९]।

डॉ० अलतेकर का मत है कि हमारे ग्रन्थों में यदा कदा ही प्रारम्भिक पाठशालाओं और उनके आचार्यों का वर्णन आया है। प्रायः इन पाठशालाओं को 'लिपिशाला' तथा अध्यापकों को 'दारकाचार्य' कहते थे। ४०० ई० तक

---

१६. तु० क० १।११।५३–५५

१७. ममोपदिष्टं सकलं गुरुणा नात्र संशयः।
गृहीतन्तु मया किन्तु न सदेतन्मतम्मतम्मम ॥ —१।१९।३४

१८. क० ले० ६१

१९. तु० क० ३।३।२२–२३

१० वि० भा०

उच्च शिक्षा के लिए भी सार्वजनिक पाठशालाएँ न थीं। अतः कोई आश्चर्य की बात नहीं कि सुदीर्घ काल तक प्रारम्भिक शिक्षा के लिए भी पाठशालाएँ न्यून ही थीं। इस प्रकार अध्यापक अपने घर पर ही निजी पाठशालाओं में शिक्षा देते थे। पुरोहित ही बहुत काल तक प्रारम्भिक शिक्षा देता था। पांचवीं शताब्दी में अनेक विद्यालयों और पाठशालाओं के जन्म से उच्च शिक्षा को बड़ा प्रोत्साहन मिला। इससे अप्रत्यक्ष रूप में प्रारम्भिक शिक्षा को भी प्रोत्साहन मिला होगा क्योंकि इन विद्यालयों के साधारण स्नातक प्रारम्भिक शिक्षा को अपनी जीविका का आधार बना सकते थे। १० वीं शताब्दी में कश्मीर के प्रारम्भिक शिक्षकों का वर्णन मिलता है। अन्य स्थानों में भी ऐसे बहुत से शिक्षक रहे होंगे। कभी कभी कुछ धनी व्यक्ति अपने बालकों को पढ़ाने के लिए अध्यापकों की नियुक्ति करते थे। अन्य ग्रामीण बालक भी साथ साथ पढ़ते थे। यदि ग्राम में ऐसा कोई धनिक न रहता तो ग्रामीण अपने सामर्थ्यानुसार आर्थिक सहायता देकर अध्यापक रखते थे[२०]। अपने पुराण में लिपिशाला वा दारकाचार्य के विषय में कोई उल्लेख नहीं हुआ है। हां, प्रह्लाद के प्रसंग में पुरोहित के पढ़ाने के विषय में विवरण अवश्य मिलता है, किन्तु ग्रामीण स्वतंत्र रूप से अध्यापकों की नियुक्ति करते थे—इस प्रसंग में विष्णुपुराण प्रायः मूक है।

शिक्षणकेन्द्र—उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर कहा जा सकता है कि हमारे पौराणिक विद्यालयों की स्थिति नदीतट पर वनों में और नगरों में भी थी। इस सम्बन्ध में दोनों प्रकार के उदाहरण मिलते हैं। जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और संहृति के दार्शनिक तत्त्वज्ञान की शिक्षा दक्ष आदि मुनियों ने राजा पुरुकुत्स को, पुरुकुत्स ने सारस्वत को और सारस्वत ने मुझ को नर्मदा नदी के तट पर दी थी[२१]। सप्तर्षियों ने ध्रुव को यौगिक शिक्षा नगर से बाहर उपवन में दी थी। हिरण्यकशिपु के पुत्र बालक प्रह्लाद को गुरु के घर पर शिक्षा के लिए भेजा जाता था[२२]। प्रह्लाद के गुरुकुल के विषय में यह स्पष्टीकरण नहीं होता कि उसकी अवस्थिति नगर में थी, नदी तट पर थी या वन में थी। किन्तु यह अनुमान किया जा सकता है कि प्रह्लाद का गुरुगृह

---

२०. प्रा० शि० प० १३५–६

२१. तैश्चोक्तं पुरुकुत्साय भूभुजे नर्मदातटे।
सारस्वताय तेनापि मह्यं सारस्वतेन च॥ —१।२।९

२२. तस्य पुत्रो महाभागः प्रह्लादो नाम नामतः।
पपाठ बालपाठ्यानि गुरुगेहङ्गतोऽर्भकः॥ —१।१७।१०

नगर में ही अवस्थित रहा होगा, क्यों कि उसके पिता दैत्यराज हिरण्यकशिपु की शक्ति अलौकिक थी और स्वयं उसके प्रासाद अमूल्य स्फटिकों और अभ्रशिलाओं से निर्मित किये गये थे। कृष्ण और वलराम के गुरुकुल की अवस्थिति के विषय में इसी अध्याय के वयःक्रम के प्रसंग में कहा जा चुका है कि उन का गुरुगृह अवन्तिपुर में था।

अवन्तिपुर की अवस्थिति के सम्बन्ध में यह निर्धारण करना कठिन है कि यह किसी जनपद का पर्याय है वा किसी नगर विशेष का। यदि जनपद का पर्याय है तव तो इसकी अवस्थिति किसी निर्जन वन में भी होना संभव है। पूर्वमेघदूत (श्लो० ३०) के टीकाकार मल्लिनाथ ने अवन्ति को जनपद का पर्याय माना है। दीघनिकाय (३६ गोविन्दसुत्त) के अनुसार भी यह जनपद का पर्यायी है, क्योंकि बौद्धपरम्परा में माहिष्मती को अवन्ति की राजधानी होने की मान्यता दी गई है। कथासरित्सागर (१९) के अनुसार प्राचीन काल में मालव जनपद को ही अवन्ति नाम से अभिहित किया जाता था तथा रीज डेविड्स (बुद्धिस्ट इण्डिया २८) के मत से सातवीं-आठवीं शताब्दी तक अवन्ति की प्रसिद्धि मालव के नाम से थी[२३]।

महाभारत में भी अवन्ति शब्द के वहुवचन के रूप "अवन्तिषु" का प्रयोग हुआ है अतः 'अवन्ति' को जनपद का पर्याय मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये। पुनः उसी स्थल पर 'सान्दीपनिपुरे' शब्द का प्रयोग मिलता है और तव परिणाम निकलता है कि यह गुरुकुल अवन्ति की राजधानी में ही होगा[२४]। अपने पुराण में भी 'अवन्ति' शब्द मात्र का प्रयोग नहीं है, अपि तु "अवन्ति-पुर" शब्द का प्रयोग है। अतः इस अवन्तिपुर को जनपद न मान कर नगर अर्थात् अवन्ति जनपदों की राजधानी मान लेना युक्तियुक्त प्रतीत होता है। निष्कर्ष यह है कि कृष्ण और वलराम का विद्यापीठ नगर में ही अव-स्थित था।

गुरुकुल नगर से दूर वनों में ही अवस्थित होते थे—इस लोकधारणा को एक विचारक आंशिक रूप में यथार्थ मान कर कहते हैं कि निस्सन्देह अधिकांश दार्शनिक आचार्य निर्जन वनों में ही निवास, चिन्तन और अध्यापन करते थे। वाल्मीकि, कण्व, सान्दीपनि आदि के आश्रम वनों में ही थे, यद्यपि वहां वेद, धर्म और दर्शन के अतिरिक्त निरुक्त, व्याकरण, ज्योतिष और नागरिक शास्त्र जैसे विषयों का भी अध्यापन होता था। महाभारत और जातकों में हम

२३. ज्यॉ० डि० १३
२४. म० भा० ३८।२९ के पश्चात् दाक्षिणात्य पाठ, पृ० ८०२

आचार्यों को काशी जैसे नगरों के जीवन का परित्याग कर हिमालय में निवास के लिए जाते हुए पाते हैं। किन्तु अधिकांश गुरुकुल ग्रामों या नगरों में ही स्थित थे। यह स्वाभाविक भी था क्योंकि आचार्य प्रायः गृहस्थ होते थे। किन्तु गुरुकुलों के निर्माण में यह ध्यान अवश्य रखा जाता था कि ये किसी उपवन या एकान्त स्थान के पवित्र वातावरण में हों। नालन्दा वा विक्रमशिला जैसे बौद्ध विश्वविद्यालयों की बात अलग थी। ये ऑक्सफोर्ड, कैम्ब्रिज वा काशीविश्वविद्यालय के समान स्वतः नगर थे जहाँ सहस्रों विद्यार्थियों के आवास और भोजन की व्यवस्था रहती थी। छठी शताब्दी में युरोप में अविवाहित पादरी अपने परिवारों में विद्यार्थियों को योग्य पिताओं के समान रख कर शिक्षा देते थे जिससे भविष्य में ये उनके योग्य उत्तराधिकारी सिद्ध हो सकें। युरोप की इस प्रथा में भारतीय गुरुकुल प्रणाली से साम्य दृष्टिगत होता है।[२५]

शिक्षणपद्धति—शिक्षा का विकास शिक्षक और शिष्य—दोनों की प्रतिभा का परिणाम है। कभी शिक्षक की विलक्षण शिक्षणकला शिष्य के शिक्षाविकास में अद्भुत चमत्कृति ला देती है और कभी शिष्य की पूर्व जन्मार्जित संस्कृति से सम्भूत अलौकिक प्रतिभा के कारण अधीत वा अधीयमान विद्या यथासमय चमत्कृत हो उठती है। यह निर्णय करना कठिन है कि शिक्षक और शिष्य—दोनों में किसका श्रेय अधिकतर एवं मान्यतर है। पुराण में ऐसे प्रमाणों का प्राचुर्य है किन्तु ऐसे छात्रों और अध्यापकों की संख्या के असंख्येय होने के कारण कतिपय मुख्य शिष्य-शिक्षकों के ही प्रतिभा सम्बन्धी प्रसंगों को उपस्थित करना अपेक्षणीय प्रतीत होता है। छात्र मैत्रेय के प्रति स्वयं पराशर मुनि का प्रतिपादन है कि चिर अतीत काल की पठित किन्तु विस्मृत पुराणसंहिता विद्या मैत्रेय के प्रश्न से स्मृत हो उठी थी और तत्क्षण ही उन्हें पढ़ाने को उद्यत हो गये।[२६] ध्रुव को सप्तर्षियों ने कुछ क्षणों में ही पारलौकिक ज्ञान का सफलतापूर्वक उपदेश दिया था।[२७] प्रह्लाद को गुरु ने कतिपय दिनों में ही सम्पूर्ण राजनीति शास्त्र का सम्यक् अभ्यास करा

---

२५. प्रा० शि० प० २५–२६

२६. इति पूर्वं वसिष्ठेन पुलस्त्येन च धीमता।
यदुक्तं तत्स्मृतिं याति त्वत्प्रश्नादखिलं मम॥
सोऽहं वदाम्यशेषं ते मैत्रेय परिपृच्छते।
पुराणसंहितां सम्यक् तां निबोध यथातथम्॥ —१।१।२९–३०

२७. तु० क० १।११।४३–५७

दिया था।[२८] ऋभु ने अप्रत्यक्ष रूप से निदाघ को परमार्थ विद्या का उपदेश दिया था।[२९] हिरण्यनाभ के पांच सौ शिष्य थे, जिन्हें उन्होंने साम वेद में निष्णात कर दिया था।[३०] कृष्ण और बलराम को आचार्य सान्दीपनि ने केवल चौसठ दिनों में सांगोपांग धनुर्वेद, सांग चतुर्वेद, सम्पूर्ण शास्त्र और सर्वविध अस्त्र विद्या आदि अशेष ज्ञानक्षेत्र में निपुण कर दिया था।[३१]

इन विवरणों के आधार पर यह निश्चित कर लेना सुगम नहीं कि पौराणिक युग में अध्यापनशैली में विलक्षणता थी वा छात्रों की मेधाशक्ति में ? दोनों पक्षों के पुष्टीकरण में प्रमाण उपलब्ध होते हैं: शिक्षक के पक्ष में कालिदास का मत है कि आचार्य को केवल विद्वान् ही नहीं अपितु सफल शिक्षक भी होना अपेक्षित है। जिस आचार्य में पाण्डित्य के साथ सफल अध्यापकत्व का समावेश है वही शिक्षकों का शिरोमणि बन सकता है।[३२] क्योंकि अपने अन्तेवासी छात्रों के जीवन पर पवित्रता, चारित्रिक बल, पाण्डित्य और सदाचरण की अमिट छाप डालना ही शिक्षक का प्रधान गुण है। द्वितीय छात्र के पक्ष में भवभूति का मत है कि आचार्य प्राज्ञ और जड—अपने दोनों प्रकार के शिष्यों को समान रूप से विद्या वितरित करता है, वह न तो किसी के ज्ञान में शक्ति निक्षेप करता है और न किसी की शक्ति को उपसंहृत कर लेता है। किन्तु इन दोनों के ज्ञान में आकाश-पाताल का अन्तर हो जाता है। एक पण्डितों की सभा में देदीप्यमान होता है, किन्तु दूसरे विद्यार्थी की नाम मात्र की प्रगति कठिनता से होती है।[33] भवभूति का मत कृष्ण और बलराम

---

२८ अहन्यहन्यथाचार्यो नीतिं राज्यफलप्रदाम् ।
ग्राहयामास तं बालं राज्ञामुशनसा कृताम् ॥
गृहीतनीतिशास्त्रं तं विनीतं च यदा गुरुः ।
मेने तदैव तत्पित्रे कथयामास शिक्षितम् ॥ —१।१९।२६-२७

२९. तु० क० २।१५।३४ और २।१६।१८

३०. उदीच्यास्सामगाः शिष्यास्तस्य पंचशतं स्मृताः ॥ —३।६।४

३१. तु० क० ५।२१-२४

३२. शिष्टा क्रिया कस्यचिदात्मसंस्था, संक्रान्तिरन्यस्य विशेषरूपा ।
यस्योभयं साधु स शिक्षकाणांधुरि प्रतिष्ठापयितव्य एव ।
—मा० मि० १।१६

३३. वितरति गुरुः प्राज्ञे विद्यां यथैव तथा जडे
न च खलु तयोर्ज्ञाने शक्तिं करोत्यपहन्ति वा ।
भवति च पुनर्भूयान्भेदः फलं प्रति तद्यथा
प्रभवति मणिर्बिम्बोद्ग्राहे न चैव मृदां चयः ॥ —उ० च० २।४

के अध्ययन प्रसंग में स्पष्टतः चरितार्थ हो जाता है, क्योंकि ये दोनों पूर्व से ही समस्त विज्ञान के ज्ञाता थे तथा सर्वज्ञान सम्पन्न भी। केवल गुरुशिष्य सम्बन्ध को प्रकट करना ही इनका अभिप्राय था।[३४] इसी हेतु से अल्प समय में और अनायास समस्त विद्याएँ इन्हें प्राप्त हो गई थीं। उस गुरुकुल में और भी तो छात्र इनके सहाध्यायी रहे होंगे और उन्हें भी सान्दीपनि मुनि उसी पद्धति से पढ़ाते होंगे किन्तु इनके समान समस्त विद्याओं में पारंगत होते अन्य किसी का प्रसंग पुराण में नहीं उपलब्ध होता है। अलतेकर का कथन है कि भवभूति का यह मत प्लेटो के मत से साम्य रखता है। प्लेटो का कहना था कि शिक्षा अन्धों को आँखें नहीं देती, केवल आँखों को प्रकाश की ओर मोड़ देती है![३५]

एक विचारक का मत है कि अत्यन्त प्राचीन काल से ही इस प्रश्न पर मतभेद और वादविवाद होता रहा है कि मनुष्य की उन्नति प्रकृतिदत्त गुण और शक्तियों से अधिक होती है या मानवदत्त शिक्षा-दीक्षा से। क्या जन्म से पूर्व ही मनुष्य के मानसिक, नैतिक और बौद्धिक विकास की सीमा निसर्गदत्त गुण एवं शक्तियों से निश्चित हो जाती है या शिक्षा से उसमें परिवर्त्तन हो सकता है? यदि हाँ, तो किस सीमा तक? यह तो ज्ञात ही है कि पश्चिम के शिक्षाशास्त्रियों ने इस प्रश्न के विभिन्न उत्तर दिये हैं। उदाहरणार्थ प्लेटो का मत था कि मनुष्य का मस्तिष्क तागे के लच्छे के समान होता है जिसे इस संसार में केवल सुलझाना होता है। ज्ञान मनुष्य में निसर्ग के द्वारा निहित होता है, इसे केवल इसका स्मरणमात्र दिलाना होता है। डार्विन, गाल्टन और रिबोंट आदि विद्वान् वंश-परम्परा को हमारी प्रकृति के निर्माण में अधिक महत्त्व देते हैं। शॉपेनहावर के अनुसार मानव चरित्र जन्मजात तथा अपरिवर्तनशील होता है। इसके विपरीत हर्बर्ट और लॉक् का मत है कि हमारे विकास की सीमा प्रकृति से नहीं अपितु शिक्षा से निर्धारित होती है। इस संसार में जन्म के समय जैसा हमारा शरीर निर्वस्त्र रहता है वैसी बुद्धि निःसस्कार। बुद्धि की तेजस्विता तथा व्यक्ति की कार्यक्षमता सर्वथा उसकी शिक्षा एवं परिस्थिति पर निर्भर रहती है।[३६]

इस विचारक के सिद्धान्त में पौराणिक ध्रुव, प्रह्लाद, कृष्ण और बलराम

३४. विदिताखिलविज्ञानौ सर्वज्ञानमयावपि।
शिष्याचार्यक्रमं वीरौ ख्यापयन्तौ यदूत्तमौ॥ — ५।२१।१८

३५. प्रा० शि० प० ३०

३६. वही २८

आदि छात्रों की प्रतिभासम्बन्धी विलक्षणता के साथ सर्वथा साम्य है, क्योंकि इनकी प्रतिभा भी निसर्गदत्त सी ही लगती है।

संस्था और छात्रसंख्या—विष्णुपुराण में अध्यापकों और छात्रों के संख्यानिर्धारण का कोई विहित संकेत नहीं मिलता। प्रत्येक अध्यापक के पास कितने छात्रों का रहना वैधानिक था इसका कोई प्रमाण नहीं दिया गया है। एक अध्यापक के पास एक छात्र भी होता था और अनेक भी तथा अनेक अध्यापक मिलकर भी एक ही छात्र को शिक्षा देते थे। संस्था की छात्र एवं अध्यापकसंख्या के सम्बन्ध में आनुपातिक रूप से विधि-निषेधात्मक नियम-प्रतिबन्ध नहीं थे। एक अध्यापक के पास एक से पांच सौ तक छात्रों के शिक्षा पाने का उल्लेख हुआ है। ग्रन्थारम्भ में मैत्रेय ने अपने साङ्ग वेद और धर्मशास्त्र के अध्यापक एक मात्र पराशर को निर्देशित किया है[३७]। एक ही हिरण्यनाभ के ५००+५०० = १००० दस सौ सामवेदाध्यायी छात्रों के होने का प्रमाण मिलता है[३८]। यादव कुमारों के धनुर्विद्या के गृहशिक्षक आचार्यों की संख्या तीन करोड़ अट्ठासी लाख घोषित की गई है[३९]।

संस्था की छात्रसख्या के सम्बन्ध में प्राचीन मत के विचारक एक विद्वान् का कथन है कि छात्रों की संख्या के अनुपात से ही उपाध्याय की आय में न्यूनाधिकता होती थी। धर्मशास्त्रों में अधिक शिष्यों की कामना की पूर्ति के लिए एक विशिष्ट संस्कार का विधान था। किन्तु फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि एक अध्यापक से पढ़ने वाले विद्यार्थियों की संख्या अधिक न थी। जातकों में वर्णन मिलते हैं कि तक्षशिला के प्रख्यातकीर्ति आचार्यों के पांच सौ शिष्य थे किन्तु बौद्ध सम्प्रदाय में बुद्ध के शिष्यों की जो संख्या परम्परागत चली आयी है, उसका अनुकरण कर यह संख्या दी गयी है, वह वस्तुस्थिति निदर्शक नहीं है। समस्त उपलब्ध प्रमाणों से तो यही सिद्ध होता है कि एक अध्यापक के अन्तर्गत प्रायः १५ विद्यार्थी पढ़ते थे। नालन्दा में विद्यार्थियों की संख्या ९००० से अधिक नहीं थी किन्तु १००० भिक्षु वहां अध्यापन करते थे। ११ वीं शताब्दी में एन्नायिरम् के एक वैदिक विद्यापीठ में ऐनुअल रिपोर्टस आफ साउथ इण्डियन इपिग्राफी (१९१८, पृ० १४५) के अनुसार प्रति अध्यापक

---

३७. त्वत्तो हि वेदाध्ययनमधीतमखिलं गुरो।
धर्मशास्त्राणि सर्वाणि तथाङ्गानि यथाक्रमम्॥ —१।१।२

३८. उदीच्यास्सामगाः शिष्यास्तस्य पंचशतं स्मृताः॥ —३।६।४

३९. तिस्रः कोटयस्सहस्राणामष्टाशीतिशतानि च।
कुमाराणां गृहाचार्याश्चापयोगेषु ये रताः॥ —४।१५।४५

२० विद्यार्थी ही थे। काशी में बनियर (पृ० १४५) के अनुसार १७ वीं शताब्दी में यह संख्या १२ से १५ के मध्य थी। कभी कभी तो ४ ही विद्यार्थी एक अध्यापक के अन्तर्गत अध्ययन करते थे। बंगीय नदिया की पाठशालाओं में नदिया गजेटियर (१८२) के अनुसार १९ वीं शताब्दी में प्रति अध्यापक के यहां १० से २० विद्यार्थी तक पढ़ते थे। अतः जातकों का यह कथन अतिवाद ही है कि तक्षशिला के आचार्य ५०० शिष्यों को पढ़ाते थे। सामान्यतया एक कक्षा में २० से अधिक विद्यार्थी कभी न पढ़ते थे[४०]।

उपर्युक्त उद्धरण के आधार पर यह कथन कठिन है कि पुराण में जो एक आचार्य से १००० विद्यार्थियों के पठन का प्रसंग है वह स्वाभाविक है वा अतिवाद मात्र।

पाठोपकरण—शिक्षा के साधन के विषय में विष्णुपुराण में कोई विशेष विवरण उपलब्ध नहीं है। प्रत्येक स्थल पर प्रायः इतना ही उल्लेख पाया जाता है कि अमुक आचार्य वा आचार्यों ने अमुक छात्र वा छात्रों को अमुक विषय वा विषयों का उपदेश दिया। पौराणिक युग में लिखित वा मुद्रित ग्रन्थ, लेखनी वा लेखन पत्र इत्यादि उपकरण अस्तित्व में थे—इसका स्पष्टास्पष्ट रूप से संकेत नहीं उपलब्ध है। किसी लिपि के विषय में भी विष्णुपुराण में सर्वथा मौनावलम्बन ही है। इस से अनुमित होता है कि उस काल तक उपर्युक्त साधनों में से एक का भी आविष्कार नहीं हो पाया था। शिक्षण की प्रथा केवल मौखिक थी। विद्याओं का रक्षण शिष्योपशिष्य वा वंशक्रम की परम्परा से श्रुति और स्मृति के द्वारा होता था। इसके स्पष्टीकरण में एक ही प्रसंग का उल्लेख पर्याप्त होगा। शिष्यपरम्परा के प्रसंग के उद्धरण में पराशर का प्रतिपादन है कि कमलोद्भव ब्रह्मा से आरम्भ कर शिनि पर्यन्त २३ पीढ़ियों तक विष्णुपुराण के पठनपाठन का वर्णन है[४१]। इस से स्पष्ट रूप में प्रतीत होता है कि शिष्यपरम्परा एवं श्रवण और स्मरण के क्रम से ही विद्याओं के रक्षण की व्यवस्था थी। अन्य किसी भी उपकरण का संकेत नहीं मिलता है।

एक विशिष्ट विद्वान का कथन है कि आदिकाल में लेखन कला अज्ञात थी। लिपिज्ञान के अनन्तर भी बहुत समय तक वैदिक साहित्य के संरक्षण और भावी सन्तति को समर्पण के लिए लिपिविज्ञान की सहायता न ली जाती थी। शताब्दियों पर्यन्त वेद ही अध्ययन के मुख्य विषय थे। यह भी आवश्यक

---

४०. प्रा० शि० प० ६५

४१. ६।८।४३—५०

समझा गया कि आगमों और निगमों को शुद्ध शुद्ध कण्ठस्थ कर लिया जाय। वेदों के पाठ में लेशमात्र स्वर वा उच्चारणदोष भी न होने पाये। अवैदिक साहित्य के संरक्षण और अध्यापन में लिपि-कला की सहायता ली जाती थी किन्तु लेखनपत्र और मुद्रणकला के आविष्कार के अभाव में पुस्तकें केवल धनिक को ही उपलभ्य थीं। भोजपत्रों पर लिखी जाने के कारण वे दुर्लभ और बहुमूल्य भी थीं। अतः साधारण ब्रह्मचारी के पास अपनी पाठ्यपुस्तक न थी। यहाँ तक कि पाठ्यपुस्तक की सहायता से पठनशील छात्र को अधम समझा जाता था[४२]।

पठनविधि में व्याकरण शास्त्रीय प्रतिपादन है कि गीतस्वर में, शीघ्रता से, शिरःकम्पन के साथ, लिखित पुस्तक से, अर्थज्ञान के विना, और अल्प कण्ठ से—इन छह रीतियों से पठनशील व्यक्ति अधम है[४३]।

प्राचीन भारत में सुदीर्घ काल तक विना पुस्तकों की सहायता के मौखिक रीति से सहायता दी जाती थी। वैदिक विद्यालयों में अभी वर्तमान काल तक शिक्षा की यही प्रथा प्रचलित है। आचार्य वैदिक अक्षरों के केवल दो अक्षर एक साथ पढ़ता जिसे एकान्त में उसी नाद एवं स्वर में ब्रह्मचारी पढ़ता था। यदि ब्रह्मचारी को अध्ययन में कोई कठिनता होती तो उसे मंत्र और भी स्पष्ट कर दिया जाता था। पूरे मंत्र की समाप्ति हो जाने पर दूसरे ब्रह्मचारी को पढ़ाया जाता था। सभी विद्यार्थियों पर पृथक्-पृथक् ध्यान दिया जाता था और शिक्षा की प्रथा व्यक्तिगत थी। आचार्य और ब्रह्मचारी के मध्य पुस्तकें न आती थीं[४४]।

गुरु की सेवा-शुश्रूषा—विष्णुपुराण के ब्रह्मचर्यादि आश्रमों के अध्याय में गुरुसेवा को अनिवार्य एवं अवकल्पिक रूप से वैधानिक तथा विधेय माना गया है। गुरुकुल में वेदाध्ययन के प्रसंग पर और्व ने सगर से कहा है कि गुरु-गृह में अन्तेवासी छात्र को शौच और आचारव्रत का पालन करते हुए गुरु की सेवा-शुश्रूषा करनी चाहिये तथा व्रतादि का आचरण करते हुए स्थिर बुद्धि से वेदाध्ययन करना चाहिये[४५]। एतत्सम्बन्धी कतिपय उदाहरण उल्लेखनीय प्रतीत

---

४२. प्रा० शि० प० १२०

४३. गीती शीघ्री शिरःकम्पी तथा लिखितपाठकः।
अनर्थज्ञोऽल्पकण्ठश्चषडेते पाठकाधमाः ॥ —व्या० शि० ३२

४४. प्रा० शि० प० १२१

४५. शौचाचारं व्रतं तत्र कार्यं शुश्रूषणं गुरोः।
व्रतानि चरता ग्राह्यो वेदश्च कृतबुद्धिना ॥ —३।९।२

होते हैं। पिता के द्वारा भर्त्सित प्रह्लाद को दैत्यगण जब फिर गुरु के घर ले गये तो वह अहर्निश गुरु की सेवा-शुश्रूषा करते हुए विद्याध्ययन करने लगा[४६]। एक प्रसंग में ऋभु ने निदाघ से कहा था कि पहले तुमने सेवा-शुश्रूषा कर मेरा अत्यन्त आदर किया; अतः तुम्हारे स्नेहवश मैं ऋभु नामक तुम्हारा गुरु ही तुम को उपदेश देने के लिये आया हूँ[४७]। पुनः एक प्रधान गुरुकुल के स्थल पर प्रतिपादन है कि वीर संकर्षण और कृष्ण सान्दीपनि का शिष्यत्व स्वीकार कर वेदाभ्यासपरायण हो यथायोग्य गुरु शुश्रूषादि में प्रवृत्त हुए[४८]।

स्मृति के युग में छात्रों के लिए यह परम कर्तव्य था कि वे अपने गुरु का राजा, माता-पिता तथा देवता के समान आदर करें[४९]। अपने अध्ययन की सिद्धि के लिए अविक्षिप्तचित्त होकर गुरु की सेवा में प्रवृत्त रहना भी छात्रों के लिए परम विधेय माना जाता था[५०]। प्राचीन काल में यह भी लोक विश्वास था कि गुरु की सेवा के अभाव में ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती[५१]। बौद्ध परम्परा और आपस्तम्ब धर्मसूत्र में भी गुरु के प्रति उच्च सम्मान का उपदेश किया गया है किन्तु साथ ही साथ यह भी व्यवस्था दी गई है कि यदि आचार्य में किसी प्रकार के दोष हों तो शिष्य उन (दोषों) की ओर एकान्त में गुरु का ध्यान आकर्षित करे[५२]। विद्यार्थी को विहार वा आचार्य के अनेक छोटे-मोटे गृहकार्य करने पड़ते थे। गृहकार्य में भोजन के लिए ईन्धन की व्यवस्था तथा पशुओं की रक्षा आदि व्यापार भी सम्मिलित थे। वैदिककाल के पश्चात् इसका और भी प्रचार हुआ[५३]।

---

४६. इत्युक्तोऽसौ तदा दैत्यैर्नीतो गुरुगृहं पुनः।
जग्राह विद्यामनिशं गुरुशुश्रूषणोद्यतः॥ १।१७।२८

४७ तवोपदेशदानाय पूर्वशुश्रूषणादृतः।
गुरुस्नेहादृभुर्नाम निदाघ समुपागतः॥ —२।१६।१७

४८ वेदाभ्यासकृतप्रीती सङ्कर्षणजनार्दनौ।
तस्य शिष्यत्वमभ्येत्य गुरुवृत्तिपरौ हि तौ॥ —५।२१।२०

४९ म० स्मृ० २।२००

५०. गुरुं चैवाप्युपासीत स्वाध्यायार्थं समाहितः। —या० स्मृ० १।२६

५१. गुरुशुश्रूषया ज्ञानं शान्तिं योगेन विन्दति।
—म० भा० उद्योग० ३६।५२

५२. प्रमादानाचार्यस्य बुद्धिपूर्वकं विनियत्यातिक्रमं रहसि बोधयेत्।
—प्रा० शि० प० ४५

५३. गो० ब्रा० १।२।१-८

शिक्षणशुल्क—शिक्षण कार्य के लिए विनिमय के रूप में शिक्षक वा शिक्षण-संस्था को मासिक वा वार्षिक शुल्क देना छात्रों का अनिवार्य कर्तव्य था ऐसा कोई उल्लेख पुराण में नहीं आया है। ब्रह्मचारी एवं अन्तेवासी विद्यार्थियों के विधेय कर्मप्रसंग में यह अवश्य कहा गया है कि अपना अभिमत वेद पाठ समाप्त कर चुकने के अनन्तर गुरु की अनुमति से उन्हें गुरुदक्षिणा देकर ब्रह्मचारी को गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना चाहिये[५४]। एक प्रसंग पर कहा गया है कि अशेष विद्याओं को समाप्त करने के पश्चात् कृष्ण और बलराम ने अपने गुरु से निवेदन किया—'कहिये, आप को हम क्या गुरुदक्षिणा दें ?'[५५]। महामति सान्दीपनि ने उनके अतीन्द्रिय कर्म देख कर प्रभास क्षेत्र के खारे समुद्र में डूब कर मरे हुए अपने पुत्र को मांगा[५६]। कृष्ण और बलराम ने यमयातना भोगते हुए उस बालक को पूर्ववत् शरीरयुक्त उसके पिता (सान्दीपनि मुनि) को दे दिया[५७]।

एक विचारक का मत है कि प्राचीन भारत में शिक्षणशुल्क के लिए मोल-तोल करना अत्यन्त निन्द्य समझा जाता था। कोई भी अध्यापक शुल्क देने में असमर्थ छात्र को पढ़ाना अस्वीकार नहीं कर सकता था। ऐसे अध्यापक को धार्मिक अवसरों पर ऋत्विक् के कार्य के योग्य न समझा जाता था। उसे विद्या का व्यवसायी कह कर अपमानित किया जाता था[५८]। प्राचीन भारतीयों का मत था कि अध्यापन प्रत्येक योग्य अध्यापक का निज कर्तव्य था। छात्र और अध्यापक के सम्बन्धों का आधार परस्पर प्रेम और आदर माना गया था—कोई व्यावसायिक भावना नहीं। इस बात के पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं कि प्राचीन भारत में इस सिद्धान्त का पालन भी होता था। निर्विवाद प्रमाणों से यह भी सिद्ध है कि बौद्ध विश्वविद्यालयों, मन्दिरों और मठों के अन्तर्गत सञ्चालित पाठशालाओं में विद्यार्थियों को निःशुल्क शिक्षा दी जाती थी। प्राचीन काल में यूनान में भी फीस लेने की निन्दा की जाती थी। सुकरात तथा

---

५४. गार्हस्थ्यमाविशेत्प्राज्ञो निष्पन्नगुरुनिष्कृतिः। —३।९।७

५५. ऊचतुर्व्रियतां या ते दातव्या गुरुदक्षिणा। —५।२१।२४

५६. सोऽप्यतीन्द्रियमालोक्य तयोः कर्म महामतिः।
अयाचत मृतं पुत्रं प्रभासे लवणार्णवे॥ —५।२१।२५

५७. तं बालं यातनासंस्थं यथापूर्वशरीरिणम्।
पित्रे प्रदत्तवान्कृष्णो बलश्च बलिनां वरः॥ —५।२१।३१

५८. यस्यागमः केवलजीविकायै तं ज्ञानपण्यं वणिजं वदन्ति।
—मा० मि० १।१७

प्लेटो छात्रों से अध्यापन के लिए कोई फीस नहीं लेते थे। सर्व प्रथम सोफिस्टों ने फ़ीस लेकर कोई भी विषय पढ़ाना प्रारंभ किया था। आरम्भ में जनता ने इस प्रथा की बड़ी निन्दा की, पर शीघ्र ही तृतीय शती ई० पू० में समस्त संस्थाओं ने इस प्रथा को संचालित कर दिया[५९]।

शारीरिक दण्ड—ब्रह्मचर्य आश्रम के प्रसंग में ब्रह्मचारियों के लिए शारीरिक दण्ड विषयक किसी भी वैधानिक नियम का उल्लेख नहीं है—शारीरिक दण्ड के विधि अथवा निषेधात्मक सिद्धान्त के प्रतिपादन में पुराण में एकान्त मौनावलम्बन है। व्यवहारतः केवल हिरण्यकशिपु के पुत्र प्रह्लाद को अध्ययन-काल में पिता के विरुद्ध आचरण के कारण गुरु, पुरोहित एवं अन्यान्य दैत्यों के द्वारा विविध और घातक दण्ड प्रदान के उदाहरण दृष्टिगोचर होते हैं[६०]। यद्यपि प्रह्लाद की प्रतिभा में किसी प्रकार की न्यूनता न थी और न पाठाभ्यास में अलसता। पाठस्मृति में उसकी चमत्कृति विलक्षण थी, किन्तु पिता के अभिमत उपदेश के न पालन करने के कारण ही प्रह्लाद को दण्डभागी बनना पड़ा था।

प्राचीन धर्मशास्त्रकारों के मत के आधार पर डॉ० अलतेकर का कहना है कि शारीरिक दण्ड की उपयोगिता के सम्बन्ध में शिक्षाशास्त्रियों में मतैक्य नहीं था। आपस्तम्ब का मत है कि हठी विद्यार्थियों को अपनी उपस्थिति से दूर हटा दे अथवा उन्हें उपवास कराये। ऐसा प्रतीत होता है कि ये शारीरिक दण्ड देने के पक्ष में न थे। मनु यद्यपि समझाने-बुझाने की नीति की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं[६१] किन्तु अन्त में पतली छड़ी वा रज्जु से दण्ड देने की अनुमति दे देते हैं। गौतम, मनु के मत का समर्थन तो करते हैं, पर यह भी कहते हैं कि यदि आचार्य कठोर दण्ड दे तो वह अपराधी माना जायगा। विष्णु का कहना है कि कभी-कभी अल्प शारीरिक दण्ड अपरिहार्य है। तक्षशिला में अध्ययनकर्ता काशी का एक राजकुमार आचार्य के बारम्बार उपदेश देने पर भी चोरी करना नहीं छोड़ता था। उसे दण्ड देते हुए एक आचार्य ने कहा है कि दण्ड देना सर्वथा रोका नहीं जा सकता। प्रतीत होता है कि यही मध्यम मार्ग प्राचीन भारत में प्रचलित था। नैतिक शैथिल्य के लिए शारीरिक दण्ड की अनुमति लॉक भी देता है। तक्षशिला के आचार्य के मत में उससे साम्य है[६२]।

---

५९. प्रा० शि० प० ६२
६०. तु० क० १।१७-१९
६१. तु० क० २।१५९-१६१
६२. प्रा० शि० प० २१-२२

सहशिक्षा—स्त्रीजाति नामक अध्याय के स्त्रीशिक्षा संज्ञक प्रसंग पर विविध विषयक उच्चशिक्षा से शिक्षित अनेक स्त्रियों का वर्णन हो चुका है किन्तु उनकी शिक्षणसंस्था का कोई स्पष्ट विवरण उपलब्ध नहीं होता है। इस कारण स्पष्टतः यह कहना भी कठिन है कि उस काल में सहशिक्षा की प्रथा प्रचलित थी अथवा स्त्रियाँ पुरुषों से अलग संस्थान में शिक्षा पाती थीं।

आधुनिक काल के पाठकों को यह जानने की उत्सुकता होगी कि क्या प्राचीन भारत में सहशिक्षा का प्रचार था? किन्तु इस प्रश्न पर हमारे ग्रन्थों से अत्यन्त न्यून मात्रा में प्रकाश पड़ता है। भवभूति का मालती माधव नाटक से अवगत होता है कि कामन्दकी की शिक्षा-दीक्षा भूरिवसु तथा देवराट के साथ-साथ एक ही पाठशाला में हुई थी[६३]। इस से सिद्ध होता है कि यदि भवभूति के समय में नहीं तो उनसे कुछ पूर्व शताब्दी में बालिकाएँ बालकों के साथ उच्च शिक्षा ग्रहण करती थीं। उत्तररामचरित में भी हम आत्रेयी को कुश और लव के साथ वाल्मीकि के आश्रम में शिक्षा ग्रहण करते हुए पाते हैं[६४]। पुराणों में वर्णित कहोद और सुजाता, रुरु और प्रमदवरा की कथाओं से भी ज्ञात होता है कि बालिकाओं का विवाह पूरी युवती हो जाने पर होता था और वे पाठशालाओं में बालकों के साथ-साथ पढ़ती थीं। परिणामस्वरूप यदा कदा गान्धर्व विवाह भी होते थे। प्रतीत होता है कि जब समाज में योग्य उपाध्यायाएँ उपलब्ध हो जाती थीं, तब लोग अपनी बालिकाओं को अध्ययनार्थं उन्हीं के संरक्षण में भेज देते थे, किन्तु यदि ऐसी उपाध्यायाएँ उपलब्ध नहीं होतीं तो बाध्यतः उन्हें आचार्यों के पास पुत्रियों को शिक्षा-दीक्षा के लिए भेजना पड़ता था। जिस काल में गान्धर्वविवाह असामान्य नहीं था सहशिक्षा से अभिभावकों को भड़कने की कोई बात न थी। प्रतिशत कितनी छात्राएँ सहशिक्षा ग्रहण करती थीं, इस प्रश्न का निश्चित रूप से उत्तर नहीं दिया जा सकता। किन्तु अनुमानतः यह संख्या अधिक न रही होगी।[६५]

क्षत्रिय और वैश्य—विष्णु पुराण में दान, यज्ञानुष्ठान, शस्त्रधारण और पृथिवीपालन के अतिरिक्त अध्ययन भी क्षत्रिय का एक मुख्य कर्म माना गया है।[६६] इस प्रकार लोकपितामह ब्रह्मा ने वैश्य के लिए पशुपालन, वाणिज्य,

---

६३. अयि किं न वेत्सि यदेकत्र नो विद्यापरिग्रहाय नानादिगन्तवासिनां साहचर्यमासीत्। —मा० मा० अङ्क १

६४. तु० क० अङ्क, २

६५. प्रा० शि० प० १५९-१६०

६६. अधीयीत च पार्थिवः॥ —३।८।२६

कृषि, यज्ञ और दान के अतिरिक्त अध्ययन को भी एक विहित कर्म के रूप में घोषित किया है।[६७] स्मृति में भी वैश्य और क्षत्रिय के लिए यज्ञ और दान के अतिरिक्त अध्ययन को मुख्य कर्म माना गया है।[६८] जातक साहित्य में भी कुछ ऐसे वर्णन मिलते हैं कि कुछ राजकुमार तीन वेदों और अट्ठारह शिल्पों में पारंगत होते थे।[६९] महाभारत में भी कहा गया है कि कौरव वेदों, वेदान्तों और सम्पूर्ण युद्धकलाओं में विशारद थे।[७०]

डॉ० अलतेकर का मत है कि इनके लेखक तत्कालीन वस्तुस्थिति के चित्रण के लिए उतने उत्सुक न थे जितने सभी ज्ञात विद्याओं के नाम गिनाने और अपने चरितनायकों को उनमें पारंगत बतलाने के लिए। आदि काल में राजकुमारों की शिक्षा में वेदाध्ययन सम्मिलित था किन्तु पीछे चल कर निकाल दिया गया था। अतः इनके वेदाध्ययन को धक्का लगना स्वाभाविक ही था। क्रमशः ये भी शूद्रों की श्रेणी में आ गये तथा १००० ई० के लगभग वेदाध्ययन का अधिकार इनसे छीन लिया गया था।[७१]

शूद्र और शिक्षा—शूद्र की कर्तव्यता में कहा गया है कि वह द्विजातियों की प्रयोजन सिद्धि के लिए कर्म करे अथवा वस्तुओं के क्रयविक्रय या शिल्प कर्मों से अपना जीविका-निर्वाह करे।[७२] स्मृति में प्रतिपादन है कि यदि द्विजों की सेवा शुश्रूषा से जीवन निर्वाह न हो सके तो वाणिज्यवृत्ति को धारण करे।[७३]

पौराणिक युग में शूद्र वेदाध्ययन के अधिकारी नहीं थे। शूद्रों को वेदाध्ययन के अधिकार से वंचित रखना आधुनिक काल में हमें निस्सन्देह अन्याय प्रतीत होता है किन्तु आदि काल में परिस्थितियाँ कुछ ऐसी थीं कि यह अनिवार्य था और यह अन्याय प्रतीत नहीं होता होगा।

---

६७. तस्याप्यध्ययनम्। —३।८।३१

६८. इज्याध्ययनदानानि वैश्यस्य क्षत्रियस्य च। —या० स्मृ० १।११८

६९. सोलहवस्सपदेसिको हुत्वा तक्खसिलायं सिप्पं उग्गहणित्वा तिण्णं वेदानं पारं गत्वा अठ्ठारसानं विज्जट्ठानं निप्फत्ति पापुनाति।
—दुम्मेध जातक, ५०

७०. प्रा० शि० प० ३३

७१. वही ३३–३४

७२. द्विजातिसंश्रितं कर्म तादर्थ्यं तेन पोषणम्।
क्रयविक्रयजैर्वापि धनैः कारूद्भवेन वा॥ —३।८।३२

७३. शूद्रस्य द्विजशुश्रूषा तयाऽजीवन्वणिग्भवेत्। —या० स्मृ० १।१२०

गुरु और शिष्यसंघर्ष—पुराण में अपने गुरु के प्रति अतिशय उदात्त भावना रखने और सर्वाधिक सम्मान प्रदर्शन करने का आदेश है। ब्रह्मचर्य के प्रसंग में कथन है कि छात्र को गुरु के विरुद्ध कोई आचरण न करना चाहिए किन्तु पौराणिक परिशीलन से गुरु और शिष्य के मध्य पारस्परिक संघर्ष के भी प्रमाण उपलब्ध होते हैं। वैशम्पायन के शिष्य याज्ञवल्क्य ने एक बार अहंकारवश ब्राह्मणों को निस्तेज कह कर अपमानित किया था। इस कारण क्रोधित हो कर वैशम्पायन ने याज्ञवल्क्य से कहा—"अरे विप्रावमानी, तू ने जो कुछ मुझ से पढ़ा है उसे त्याग दे। मुझे तुझ-जैसे आज्ञाभंगकारी और अहंकारी शिष्य से कोई प्रयोजन नहीं है"। इस पर याज्ञवल्क्य ने भी आवेश में आ कर उन से पढ़ा हुआ मूर्तिमान यजुर्वेद उगल कर दे दिया और वे स्वेच्छानुसार चल दिये[७४]। एक बार राजा निमि ने अपने अनुष्ठीयमान यज्ञ के लिए वसिष्ठ को होता के रूप में वरण किया था, किन्तु वसिष्ठ पहले इन्द्र के यज्ञानुष्ठान में चले गये। इन्द्र की यज्ञसमाप्ति के अनन्तर निमि के यज्ञसम्पादन के लिए आने पर वसिष्ठ ने देखा कि यज्ञ में उनका कर्म गौतम कर रहे हैं। वसिष्ठ ने क्रोधित हो कर सोये हुए राजा को शाप दिया कि वह देहहीन हो जाय। इस पर राजा निमि ने कहा कि इस दुष्ट गुरु ने मुझ सोये हुए को शाप दिया है इस कारण इस (गुरु) का भी देह नष्ट हो जाय। इस प्रकार शिष्य और गुरु दोनों एक दूसरे से अभिशप्त हो कर देहहीन हो गये थे[७५]। तृतीय प्रसंग में द्विजराज सोम उदाहरणीय होते हैं। राजसूय यज्ञानुष्ठाता सोम उत्कृष्ट आधिपत्य का अधिकार पा कर मदोन्मत्त हो देवगुरु बृहस्पति की पत्नी तारा को हरण कर लिया था[७६]।

यद्यपि पुराण में गुरु के लिए उदात्त सम्मान अर्पित करने का आदेश है। कहा गया है कि ब्रह्मचारी को दोनों सन्ध्याओं में गुरु का अभिवादन करना चाहिये और कभी गुरु के विरुद्ध कोई आचरण न करना चाहिये[७७]। मनुस्मृति में भी गुरु, गुरुपत्नी तथा गुरुपुत्र के लिए उच्चतम आदर प्रदर्शन का विधान किया गया है[७८]। पुराण में ऐसे कतिपय उदाहरण दृष्टिगत अवश्य होते हैं किन्तु आदर्श से तुलना करने पर गुरु-शिष्य-संघर्ष के ये उदाहरण अपवाद ही प्रतीत होते हैं।

---

७४. तु० क० ३।५।१-११
७५. तु० क० ४।५।१-११
७६. मदापलेपाच्च सकलदेवगुरोर्बृहस्पतेस्तारां नाम पत्नीं जहार। —४।६।१०
७७. तु० क० ३।९।३-६
७८. तु० क० २।१९१-२१८

शिष्य के साथ शिक्षक के व्यवहार के सम्बन्ध में श्री अय्यंगर का कथन है कि गुरु को सद्व्यवहारी, आदर्श चरित्रवान् तथा विद्यानिष्णात होना चाहिये। आचार्य को प्रेम और सावधानता के साथ शिष्यों में ज्ञानवितरण के लिए निरन्तर प्रस्तुत रहना चाहिये। प्राचीन काल में गुरु अल्पसंख्यक शिष्यों को ही अन्तेवासी बनाते थे जिससे शिष्यों के वैयक्तिक एवं सार्वत्रिक विकास की ओर उन्हें अवहित रहने में सुविधा होती थी। गुरु-कामना होती है कि शिष्यों के द्वारा उनका यशोविस्तार हो। "गुरुं प्रकाशयेत् धीमान्"—स्वामी विवेकानन्द ने अपने गुरु श्री रामकृष्ण परमहंस के यश और महिमा का विश्व में प्रसार किया था। गुरु की यह कामना भी होती है कि उनके निकट विद्याध्ययन के लिए ब्रह्मचारी आते रहें। तैत्तिरीय उपनिषद (१।४।२) में प्रतिपादन है कि गुरु अपने दैनिक हवन के समय भगवान् से प्रार्थना करे कि उनके पास शिक्षार्थी ब्रह्मचारी विद्याध्ययन के लिए आवे जिनके द्वारा उनके वैदिक ज्ञान का प्रसार हो।[७९]

पाठ्य साहित्य—सृष्टि के आदि में ईश्वर से आविर्भूत वेद चार पादों से युक्त और लक्षमन्त्रात्मक था। अट्ठाईसवें द्वापर में व्यास ने एक ही चतुष्पाद वेद के (ऋक्, यजुस्, सामन् और अथर्वन् नामक) चार भेद किये थे। उनमें व्यास ने पैल को ऋग्वेद, वैशम्पायन को यजुर्वेद, जैमिनि को सामवेद तथा सुमन्तु को अथर्ववेद की शिक्षा दी थी। इनके अतिरिक्त महाबुद्धिमान् रोमहर्षण को इतिहास और पुराण का उपदेश दिया[८०]। वेदोत्पत्तिविषयक प्रतिपादन है कि सर्ग के आदि में ब्रह्मा के पूर्व मुख से ऋच्, दक्षिण मुख से यजुस्, पश्चिम मुख से सामन् और उत्तर मुख से अथर्वन् की सृष्टि हुई[८१]। ब्रह्मचर्याश्रम के प्रसंग पर सगर से और्व ने कहा था कि उपनीत बालक को व्रतों का आचरण करते हुए वेदाध्ययन स्थिर बुद्धि से करना चाहिये[८२]। ग्रन्थ के आरंभ में मैत्रेय ने स्वयं स्वीकार किया है कि उन्होंने पराशर मुनि से वेद, वेदाङ्ग[८३] और समस्त धर्मशास्त्रों का क्रमशः अध्ययन किया था[८४]।

---

७९. क० ले० ६३
८०. तु० क० ३।४।१-२ और ८-१०
८१. वही १।५।५४-५७
८२. वही पा० टी० ४२
८३. छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते॥
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्।
तस्मात्साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते॥ —व्या० शि० ४१-४२
८४. तु० क० पा० टी० ३४

इस विवरण से अवगत होता है कि उस काल में द्विजों के लिए वैदिक साहित्य की शिक्षा अनिवार्य थी अतः परिणाम यह निकलता है कि वेद और वेदाङ्ग प्रारंभिक अथवा माध्यमिक वर्गों में ही पढ़ा दिये जाते थे, क्योंकि ब्राह्मणवटु सात वर्ष तीन महीने, क्षत्रियकुमार दस वर्ष तीन महीने और वैश्य बालक ग्यारह वर्ष तीन महीने की वयस में ही उपनीत होकर वेदाध्ययन के लिए गुरुकुल में विधानतः चले जाते थे।

पुराण में छः वेदाङ्ग, चार वेद, मीमांसा, न्याय, पुराण और धर्मशास्त्र तथा आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्व और अर्थशास्त्र—ये ही अठारह विद्याएं संख्यात हुई हैं[८५]। अन्य प्रसंग में पराशर ने ऋक्, यजुस्, सामन् और अथर्व-वेद, इतिहास (महाभारतादि), उपवेद (आयुर्वेदादि), वेदान्तवाद, वेदाङ्ग, मन्वादि धर्मशास्त्र, आख्यान, अनुवाद (कल्पसूत्र), काव्यालाप और रागरागिणी-मय संगीत आदि साहित्यों का उल्लेख हुआ है[८६]। वेदत्रयी, कृषि और दण्ड-नीति की भी चर्चा है[८७]। पुराणसंहिता के सारभूत अठारह महापुराणों की विवृति तो हुई ही है[८८]। इस प्रकार विष्णुपुराण में सम्पूर्ण भारतीय वाङ्मय के साहित्यों का वर्णन उपलब्ध हुआ है।

एक विचारक का कहना है कि प्रायः दस वर्ष की अवस्था में उपनयन के साथ वैदिक शिक्षा का प्रारम्भ होता था जो लगभग बारह वर्ष में समाप्त होती थी। निरुक्त, न्याय, दर्शन, छन्द और धर्मशास्त्र आदि वेदेतर शास्त्रों का अध्ययन कितनी अवधि में समाप्त होता था, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। इन विषयों के विद्यार्थियों को दैनिक धार्मिक कृत्यों के लिए आवश्यक कतिपय वैदिक मंत्रों के अतिरिक्त व्याकरण का भी अध्ययन करना पड़ता था जिस से अपने विषयों के दुरूह ग्रन्थों का अर्थ वे सम्यक् रूप में समझ सकें। ईसा की सातवीं शताब्दी में व्याकरण के पूर्ण ज्ञान के लिए दस वर्ष का समय अपेक्षित समझा जाता था। किन्तु साहित्य तथा धर्मशास्त्र के विद्यार्थी पाँच वा छः वर्ष में व्याकरण का अध्ययन समाप्त कर अपने विषय

---

८५. अंगानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः।
पुराणं धर्मशास्त्रं च विद्या ह्येताश्चतुर्दश॥
आयुर्वेदो धनुर्वेदो गान्धर्वश्चैव ते त्रयः।
अर्थशास्त्रं चतुर्थं तु विद्या ह्यष्टादशैव ताः॥ —३।६।२८-२९

८६. तु० क० १।२२।८३-८५

८७. त्रयी वार्ता दण्डनीति। —२।४।८४

८८. तु० क० ३।६।२१-२४

के अध्ययन में दस वर्ष लगाते रहे होंगे। इस प्रकार सुशिक्षित कहलाने के लिए प्राचीन भारत में आठ या नौ वर्ष की आयु में उपनयन होने के अनन्तर विद्यार्थियों को पन्द्रह या सोलह वर्ष तक अध्ययन करना पड़ता था और प्रायः चौबीस वर्ष की आयु में अपने विषय का पूर्ण पण्डित हो जाता था। विवाह कर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के लिए यह आयु आदर्श मानी जाती थी। ध्यान देने का विषय है कि मध्यकाल में यूरोप में लैटिन के अध्ययन में भी प्रायः पन्द्रह वर्ष लगते थे[७९]।

पुराणकालीन अध्यापकों एवं छात्रों की सामान्य संख्या के ज्ञान के लिए निम्नांकित अंशानुक्रमिक अनुक्रमणी उपयोगी होगी :

क्र०सं०	अध्यापक	छात्र	छा० सं०	
		प्रथम अंश		
१.	पराशर	मैत्रेय	१	१।२
२.	वसिष्ठ	पराशर	१	१।२९
३.	पुलस्त्य	पराशर	१	१।२९
४.	सप्तर्षि	ध्रुव	१	११।४३-५५
५.	अनामक	प्रह्लाद	१	१७।१०
६.	पुरोहित	प्रह्लाद	१	१७।५०
		द्वितीय अंश		
७.	सौवीरराज	कपिल	१	१३।५३
८.	सौवीर राज	जड भरत	१	१३।६२ से १४ तक
९.	ऋभु	निदाघ	१	१५।१९ से १६।१६ तक
		तृतीय अंश		
१०.	व्यास	पैल, वैशम्पायन, जैमिनि, सुमन्तु और रोमहर्षण	५	४।८-१०
११.	पैल	इन्द्रप्रमिति और वाष्कल	२	४।१६
१२.	वाष्कल	बोध्य, अग्निमाढक, याज्ञवल्क्य और पराशर	४	४।१८

७९. तु० क० प्रा० शि० पृ० ७०–७१

क्र०सं०	अध्यापक	छात्र	छा० सं०	
१३.	इन्द्रप्रमिति	माण्डुकेय	१	४।१९
१४.	माण्डुकेय	शाकल्य वेदमित्र	१	४।२०
१५.	शाकल्य वेदमित्र	मुद्गल, गोमुख, वात्स्य, शालीय और शरीर तथा शाकपूर्ण	६	४।२२-२३
१६.	शाकपूर्ण	क्रौञ्च, वैतालिक और वलाक	३	४।२४
१७.	वाष्कल	कालायनि, गार्ग्य और कथाजव	३	४।२६
१८.	वैशम्पायन	अनामधेय याज्ञवल्क्य आदि	२७	५।१-२
१९.	याज्ञवल्क्य	तित्तिर आदि		५।१२
२०.	सूर्य (अश्वरूप)	याज्ञवल्क्य	१	५।२७
२१.	याज्ञवल्क्य	वाजिसंज्ञक ब्राह्मण		५।२८
२२.	जैमिनि	सुमन्तु और सुकर्मा	२	६।२
२३.	सुमन्तु	हिरण्यनाभ, कौशल्य और पौष्पिञ्जि		६।४
२४.	हिरण्यनाभ	उदीच्य सामग	५००	६।४
२५.	हिरण्यनाभ	प्राच्य सामग	५००	६।५
२६.	पौष्पिञ्जि	लोकाक्षि, नौधमि, कक्षीवान् और लांगलि	४	६।६
२७.	हिरण्यनाभ	कृति	१	६।७
२८.	कृति	अनामधेय		६।७
२९.	सुमन्तु	कबन्ध	१	६।९
३०.	कबन्ध	देवदर्श और पथ्य	२	६।९
३१.	देवदर्श	मेध, ब्रह्मबलि, शौल्कायनि और पिप्पलाद	४	६।१०
३२.	पथ्य	जाबालि, कुमुदादि और सौनक	अनेक	६।११
३३.	शौनक	बभ्रु और सैन्धव	२	६।१२
३४.	सैन्धव	मुञ्जिकेश		६।१३
३५.	मुञ्जिकेश	नक्षत्रकल्प, वेदकल्प, संहिताकल्प, आंगिरसकल्प और शान्तिकल्प	५	६।१४
३६.	व्यास	रोमहर्षण	१	६।१६
३७.	सूत	सुमति, अग्निवर्चा, मित्रायु, शांसपायन, अकृतव्रण और सावर्णि	६	६।१७

क्र०सं०	अध्यापक	छात्र	छा० सं०	
३८.	भीष्म	नकुल	१	७।८
३९.	कलिङ्ग	भीष्म	१	७।१४-३४
४०.	जातिस्मर	कलिङ्ग	१	७।३५
४१.	यमराज	यमदूत	१	७।१४-३४
४२.	और्व	सगर	१	८।६ सेर
४३.	सनत्कुमार	पुरूरवा	१	१४।११ से

चतुर्थ अंश

क्र०सं०	अध्यापक	छात्र	छा० सं०	
४४.	और्व	सगर	१	३।३७
४५.	जैमिनि	याज्ञवल्क्य	१	४।१०७
४६.	याज्ञवल्क्य	हिरण्यनाभ	१	४।१०७
४७.	गृहाचार्य (तीन करोड अट्ठासी लाख)	यादव कुमार	असंख्य	१४।४५
४८.	हिरण्यनाभ	कृत		१९।५१
४९.	याज्ञवल्क्य	शतानीक (भविष्य)		२१।४
५०.	कृप	शतानीक (भविष्य)		२१।४
५१.	शौनक	शतानीक (भविष्य)	१	२१।४
५२.	असित	जनक	१	२४।१२७

पंचम अंश

क्र०सं०	अध्यापक	छात्र	छा० सं०	
५३.	सान्दीपनि	संकर्षण और जनार्दन	२	२१।२०-२४

षष्ठ अंश

क्र०सं०	अध्यापक	छात्र	छा० सं०	
५४.	व्यास	मुनिगण	अनेक	२।१५-३७
५५.	केशिध्वज	खाण्डिक्य जनक	१	६।५
५६.	कमलोद्भव ब्रह्मा	ऋभु	१	८।४३
५७.	ऋभु	प्रियव्रत	१	,, ,,
५८.	प्रियव्रत	भागुरि	१	,, ,,
५९.	भागुरि	स्तम्भमित्र	१	,, ४४
६०.	स्तम्भमित्र	दधीचि	१	,, ,,
६१.	दधीचि	सारस्वत	१	,, ,,
६२.	सारस्वत	भृगु	१	,, ,,

क्र०सं०	अध्यापक	छात्र	छा० सं०	
६३.	भृगु	पुरुकुत्स	१	८४५
६४.	पुरुकुत्स	नर्मदा	१	,, ,,
६५.	पूरणनाग	वासुकि	१	,, ४६
६६.	वासुकि	वत्स	१	,, ,,
६७.	वत्स	अश्वतर	१	,, ,,
६८.	अश्वतर	कम्वल	१	,, ४७
६९.	कम्वल	एलापुत्र	१	,, ,,
७०.	एलापुत्र	वेदशिरा	१	,, ,,
७१.	वेदशिरा	प्रमति	१	,, ४८
७२.	प्रमति	जातुकर्ण	१	,, ,,
७३.	जातुकर्ण	अन्यान्य	अनेक	,, ४९
७४.	सारस्वत एवं पुलस्त्य	पराशर	१	,, ,,
७५.	पराशर	मैत्रेय	१	,, ५०
७६.	मैत्रेय	शिनीक	१	,, ,,

षष्ठ अंश

संग्राम-नीति

[प्रस्ताव, क्षत्रिय और युद्ध, युद्ध के प्रकार, रथयुद्ध, पदाति युद्ध, मल्लयुद्ध, स्त्री और युद्ध, परिचायक ध्वजादि, सैनिक वेशभूषा और कृति, व्यूह-रचना, सैनिक शिक्षा, शस्त्रास्त्रप्रयोग, निष्कर्ष]

[प्रयुक्त साहित्य : (१) विष्णुपुराणम् (२) मनुस्मृतिः (३) वैदिक-इण्डेक्स (४) महाभारतम् (५) वाल्मीकि रामायणम् (६) ऋग्वेदः (७) अमरकोषः (८) Pre Buddhist India (९) Cultural History from Vāyu Purāṇa और (१०) संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभः]

प्रस्ताव – पौराणिक अध्ययन से अवगत होता है कि युद्धनीति विश्व के अशेष प्राणियों का सहजात धर्म है, क्योंकि सृष्टि के आरम्भ में ही प्रजापति नें परस्पर विरोधी दो तत्त्वों—तमोगुण और सत्त्वगुण—को क्रमिक रूप से अर्थात् एक के अनन्तर अन्य को उत्पन्न किया था। इस प्रसंग में पराशर मुनि का कथन है कि सृष्टिरचना की कामना से प्रजापति के युक्तचित्त होने पर तमोगुण की वृद्धि हुई। अतः सर्वप्रथम उनके जघनभाग से असुर उत्पन्न हुए, जो रात्रि के प्रतीक हैं। इसके पश्चात् तुरन्त उनके मुख से सत्त्वप्रधान देवगण उत्पन्न हुए, जो दिन के प्रतीक हैं[1]। यह तो स्वाभाविक है कि तमस् सत्त्व का विरोधी होगा और सत्त्व तमस् का। ये दोनों परस्पर में एक दूसरे के अनुकूलाचारी नहीं हो सकते। इन दो तत्त्वों में विरोध का होना स्वाभाविक धर्म है। एतत्सम्बन्धी कतिपय उदाहरणों का उल्लेख औचित्यपूर्ण प्रतीत होता है। तारा नामक गुरुपत्नी के सोम के द्वारा हरण हो जाने पर तारकामय नामक एक भयंकर देवासुर संग्राम हुआ था[2]। प्रियतमा सत्यभामा की मनोरथसिद्धि के लिए कृष्ण और शचीपति में घोर संग्राम हुआ था[3]। वाणासुर की पुत्री उषा के साथ अपने पौत्र अनिरुद्ध के विवाह के अवसर पर साक्षात् कृष्ण ने वाणासुर, शङ्कर और कार्तिकेय के साथ अत्यन्त भयोत्पादक संग्राम किया था[4]। ध्वनित होता है कि प्राणियों को स्वार्थसिद्धि और समाजिक व्यवस्थापन के लिए संग्राम को एक अनिवार्य और अन्तिम साधन माना गया था।

क्षत्रिय और युद्ध—चातुर्वर्ण्यधर्म के वर्णन के क्रम में सगर के प्रति और्व का प्रतिपादन है कि शस्त्रधारण करना एवं पृथिवी का रक्षण करना क्षत्रिय जाति की आजीविका है[5]। इसका तात्पर्य है कि समाजव्यवस्था को

---

१. तु० क० १।५।५।३१–३४

२. तु० क० ४।६।१०–१९

३. तु० क० ५।३०

४. तु० क० ५।३३

५. शस्त्राजीवो महीरक्षा प्रवरा तस्य जीविका। — ३।८।२७

सुचारु रूप से संचालित करने में क्षत्रिय का ही प्रधान तथा विधेय अधिकार है, क्योंकि यज्ञानुष्ठानादि विहित कर्मों से समाज के संचालन में विघ्नकर्ता दुष्टों का दमन शस्त्रास्त्रधारण के द्वारा क्षत्रिय ही कर सकता है। दुष्टों को दण्ड देने और साधुओं की रक्षा में ही राजा और प्रजा दोनों का आत्मकल्याण निहित रहता है। दुष्टों को दण्ड देने और सज्जनों के त्राण के द्वारा राजा अपने अभिमत लोक को प्राप्त करता है[६]। ऐसा प्रतिपादन है कि युद्ध से कभी न हटने वाले क्षत्रियों को इन्द्रलोक की प्राप्ति होती है[७]। स्मृतिकार का भी यही मत है[८]। कलि की दीनता के वर्णन में कहा गया है कि कलियुग के आने पर राजा प्रजा की रक्षा नहीं करेंगे[९]। इससे स्पष्ट होता है कि राजा अर्थात् क्षत्रिय को प्रजारक्षक होना अनिवार्य धर्म है और रक्षा के साधन में शस्त्रास्त्रों के द्वारा युद्ध की ही उपयोगिता वैध प्रतीत होती है।

वैदिक युग में छोटे राज्यों में क्षत्रियों का प्रधान कर्म युद्ध के लिए तत्पर रहना होता था। अतः धनुर्धारण करना उनका उसी प्रकार एक विशेष गुण माना जाता था जिस प्रकार अंकुश धारण करना एक कृषक का, क्योंकि वेदों में धनुष ही प्रधान अस्त्र माना गया है[१०]। ऋग्वेद में वैदिक युद्धों के अनेक सन्दर्भ हैं। यह स्पष्ट है कि क्षत्रिय अपने युद्धोयम कर्तव्यों का पालन करने के लिए उतने ही तत्पर रहते थे जितने ब्राह्मण अपने यज्ञसम्बन्धी अथवा अन्य कर्तव्यों के लिए। साथ ही साथ आक्रामक युद्ध के अतिरिक्त सुरक्षा भी राजा का प्रधान कर्तव्य होता था। उसे स्पष्टतः 'जाति का रक्षक' अथवा 'ब्राह्मणों का रक्षक' बताया गया है। राजा के पुरोहितों से यह आशा की जाती थी कि वह अपने अभिचारों के प्रयोग से राजा के आयुधों का सफल बनाये। इसमें सन्देह नहीं कि राजा स्वयं उपस्थित हो कर युद्ध करता था : इसलिए

---

६. दुष्टानां शासनाद्राजा शिष्टानां परिपालनात् ।
प्राप्नोत्यभिमतांल्लोकान्वर्णसंस्थां करोति यः ॥ —३।८।२९

७. स्थानमैन्द्रं क्षत्रियाणां संग्रामेष्वनिवर्तिनाम् ॥ —१।६।३४

८. संग्रामेष्वनिवर्तित्वं प्रजानां परिपालनम् ।
आहवेषु मिथोऽन्योन्यं जिघांसन्तो महीक्षितः ।
युध्यमानाः परं शक्त्या स्वर्गं यान्त्यपराङ्मुखाः ॥
—म० स्मृ० ७।८८-८९

९. अरक्षितारो हर्तारश्शुल्कव्याजेन पार्थिवाः ।
हारिणो जनवित्तानां सम्प्राप्ते तु कलौ युगे ॥ —६।१।३४

१०. वै० इ० १।२२७-२२८

कौषीतकि उपनिषद् (३०१) के अनुसार प्रतर्दन की युद्ध में मृत्यु हुई थी और राजसूय में राजा का 'पुरां भेत्ता' के रूप में आवाहन किया जाता था[११]।

अभिचार के प्रयोग का उदाहरण अपने पुराण में भी दृष्टिगोचर होता है : इन्द्र की प्रार्थना पर बृहस्पति ने रजिपुत्रों की बुद्धि को मोहित करने के लिए अभिचार का प्रयोग किया था और उस अभिचार-कर्म से अभिभूत होकर रजिपुत्र ब्राह्मण विरोधी, धर्मत्यागी और वेदविमुख हो गये थे। तब धर्मचार-हीन हो जाने से इन्द्र ने उन्हें मार डाला था।[१२] युद्ध में शत्रु के संहार के लिए कृत्या का भी प्रयोग किया जाता था। भगवान् कृष्ण के द्वारा पौण्ड्रक वासुदेव एवं काशीनरेश के निहत हो जाने पर काशीनरेश के पुत्र ने शङ्कर को सन्तुष्ट कर कृत्या को उत्पन्न कराया था। उसका कराल मुख ज्वालामालाओं से परिपूर्ण था तथा उसके केश अग्निशिखा के समान दीप्तिमान् और ताम्रवर्ण थे। वह क्रोधपूर्वक "कृष्ण कृष्ण" कहती हुई द्वारका पुरी में आयी और चक्रपाणि कृष्ण ने अग्निज्वाला के समान जटाधारिणी उस महाभयंकर कृत्या को अपने चक्र से जला डाला था।[१३]

युद्ध के प्रकार—

विष्णुपुराण में रथयुद्ध, पदातियुद्ध एवं मल्लयुद्ध प्रभृति विविध प्रकार के युद्धों के उदाहरण दृष्टिगत होते हैं। रथयुद्ध के कतिपय उदाहरणों का उल्लेख करना औचित्यपूर्ण प्रतीत होता है :

रथयुद्ध—ज्यामघ ने रथयुद्ध से अपने समस्त शत्रुओं को पराजित कर दिया था।[१४] गरुडारोही कृष्ण के साथ युद्ध करने के लिए रुक्मी की सेना रथ पर चढ़कर संग्रामभूमि में आयी थी।[१५] कृष्ण, प्रद्युम्न और बलभद्र के साथ युद्ध करने के लिए बाणासुर नन्दीश्वर के द्वारा संचालित महान् अश्वों से सन्नद्ध रथ पर चढ़ कर आया था।[१६] पौण्ड्रकवंशीय वासुदेव कृष्ण के साथ

---

११. वै० इ० २।२३६–२३७

१२. तु० क० ४।९।१९–२१

१३. तु० क० ५।३४।३२–४१

१४. स त्वेकदा प्रभूतरथतुरगगजसम्मर्दातिदारुणे महाहवे युद्धयमानः सकल-मेवारिचक्रमनयत् ॥ —४।१२।१५

१५. स्यन्दनसंकुलम्। —५।२६।१०

१६. नन्दिना संगृहीताश्वमधिरूढो महारथम्।
बाणस्तत्राययौ योद्धुं कृष्णकार्ष्णिबलैस्सह ॥ —५।३३।२८

संग्राम के लिए रथारोही होकर आया था।[१७] इन योद्धाओं के रथों में सन्नद्ध अश्वों की संख्या के विषय में कोई स्पष्ट सूचना उपलब्ध नहीं है। किन्तु एक स्थल पर बलदेव और वासुदेव के रथ में शैव्य, सुग्रीव, मेघपुष्प और बलाहक नामक चार अश्वों के सन्नद्ध होने का प्रमाण मिलता है।[१८] आकाशचारी नव ग्रहों में सूर्य, शुक्र और शनैश्वर के अतिरिक्त प्रत्येक ग्रह के रथ में लग्न अश्वों की संख्या का स्पष्ट उल्लेख है। सोम के रथ में दस अश्व हैं तथा भौम, बुध, बृहस्पति, राहु और केतु—इनमें से प्रत्येक के रथ में सन्नद्ध आठ-आठ अश्वों का उल्लेख हुआ है।[१९]

कीथ के मत से एक रथ में सन्नद्ध अश्वों की संख्या सामान्यतः दो ही होती थी, किन्तु कभी-कभी तीन वा चार अश्वों तक का प्रयोग होता था। ऐसी दशा में निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि इन दोनों के अतिरिक्त अश्व पूर्व सन्नद्ध अश्वों के आगे लगाये जाते थे अथवा दोनों पार्श्वों में। संभवतः दोनों ही पद्धतियाँ प्रचलित थीं। कभी कभी तो पाँच अश्वों तक का प्रयोग होता था। रथों में सामान्यतया अश्वों का ही व्यवहार होता था, किन्तु 'गर्दभ' अथवा 'अश्वतरी' का भी उल्लेख मिलता है।[२०] युद्ध करने का साधारण नियम यह था कि हाथी हाथी से, रथ रथी से, अश्व अश्व से तथा पदाति पदाति से युद्ध करते थे।[२१]

पुराण में इन्द्र के वाहन ऐरावत हस्ती के साथ कृष्ण के वाहन गरुड़ के युद्ध का प्रमाण मिलता है[२२]। माहेश्वर ज्वर और वैष्णव ज्वर के पारस्परिक प्रतियोगितापूर्ण युद्ध का भी विवरण उपलब्ध होता है: कहा गया है कि शार्ङ्गधन्वा कृष्ण के साथ युद्ध करते हुए माहेश्वर नामक त्रिपाक और त्रिशिरा ज्वर को वैष्णव नामक ज्वर ने निराकृत कर दिया[२३]।

---

१७. तं ददर्श हरिर्दूरादुदारस्यन्दने स्थितम्। —५।३४।१६

१८. शैव्यसुग्रीवमेघपुष्पबलाहकाश्वचतुष्टयरथस्थितौ ... ॥ —४।१३।९२

१९. तु० क० २।१२।१–२१

२०. तु० क० वै० इ० २।२२५–६

२१. गजो गजेन समरे रथिनं च रथी ययौ।
अश्वोऽश्वं समभिप्रायात्पादातिश्च पदातिनम्॥
—म० भा० भीष्म० ४५।८२

२२. ऐरावतेन गरुडो युयुधे तत्र संकुले। —५।३०।६६

२३. तु० क० ५।३३।१४–१६

पदाति-युद्ध—

अपने पुराण में पदाति-युद्ध के कतिपय ही प्रसंग मिलते हैं। गोकुल से रथ पर आये हुए कृष्ण और बलराम नें अक्रूर के परामर्श से पदाति ही मथुरा में प्रवेश किया था[२४]। रुक्मी की सेना कृष्ण से युद्ध करने के लिए हस्ती, अश्व और रथ के अतिरिक्त पदाति भी थी[२५]। संभवतः कृष्ण भी इस संग्राम के अवसर पर पदाति ही थे, क्योंकि इस स्थल पर गरुडादि वाहन की कोई चर्चा नहीं हुई है। प्रद्युम्न ने शम्बर के साथ संभवतः पदाति ही युद्ध किया था और सम्पूर्ण सेनासहित शम्बर को मार डाला था[२६]। संभव है शम्बर की सेना में गज, अश्व और रथ हों किन्तु इस विषय में स्पष्ट उल्लेख नहीं है। कृष्ण-पुत्र साम्ब के विवाह के अवसर पर विरोधी कौरवों से बलराम ने पदाति ही होकर लोहा लिया था[२७]।

पत्ति भी पदाति का पर्यायवाची है। अथर्ववेद में पत्ति को रथिन् के विपरीत युद्धकर्त्ता पदाति सैनिकों का द्योतक माना गया है। ऐसा उल्लेख है कि पदाति सैनिकों को रथिन् पराजित कर देते थे। वाजसनेयि संहिता (१६-१९) के शतरुद्रिय सूक्त में 'रुद्र' की एक उपाधि "पत्तीनां पतिः" है[२८]। इस वैदिक सन्दर्भ के अनुसार रथयुद्ध की अपेक्षा पदातियुद्ध की उपयोगिता न्यून सिद्ध होती है, किन्तु महाकाव्य में पदातियुद्ध की अतिशय उपयोगिता प्रदर्शित की गयी है : पदाति सेना के सम्बन्ध में महाभारतकार ने लिखा है कि जिस सेना में पदाति-दल की अधिकता हो, वह दृढ़ होती हैं। पद सेना सभी स्थलों पर युद्ध करने में समर्थ होतीं है[२९]। जो भूमि अत्यन्त दुर्गम, अधिक घासतृण-युक्त, बाँस और बेंतों से भरी हुई तथा पर्वत एवं उपवनों से आवृत हो, वह पदगामी सेनाओं के लिए योग्य होती है[३०]। वाल्मीकि रामायण में वर्णन है है कि एकाकी राम ने दृढ़ चरणों पर खड़े होकर खर और दूषण की उन्नीस सहस्रसंख्यक सेना से लोहा लिया था। खर ने सालवृक्ष उखाड़ कर राम

---

२४. पद्भ्यां यातं महावीरौ रथेनैको विशाम्यहम्। —५।१९।१०

२५ तु० क० पा० टी० १५

२६. तु० क० ५।२७

२७. तु० क० ५।३५

२८. वै० इ० १।५५७

२९. पदातिबहुला सेना दृढा भवति...। —शान्ति० १००।२४

३०. बहुदुर्गा महाकक्षा वेणुवेत्र समाकुला०।
पदातीनां क्षमा भूमिः पर्वतोपवनानि च॥ —वही १००।२३

पर फेंका था। राम ने तीक्ष्ण वाण से उसे मध्य में ही काट गिराया था। ऐन्द्रास्त्र से विद्ध होकर उसका शरीर अग्नि से दग्ध होता हुआ पृथ्वी पर गिर पड़ा। तुमुल युद्ध में दूषण ने गदा चलायी। मध्य ही में राम ने उसे वाणों से काट डाला। राक्षस ने परिघ चलाना चाहा। राघवेन्द्र ने परिघ चलाने के पूर्व ही उसकी भुजाओं को वाण से छिन्न-भिन्न कर दिया[३१]। अपने पुराण में भी भाई और भार्या के साथ राम के वन में जाने का तथा खर दूषण आदि राक्षसों के वध करने का विवरण है[३२] किन्तु यह स्पष्टीकरण नहीं है कि वे पराति गये थे अथवा रथारोही।

मल्ल-युद्ध—बाहुयुद्ध, द्वन्द्वयुद्ध और मल्लयुद्ध—ये तीनों शब्द परस्पर में एक दूसरे के पर्याय हैं। अतिप्राचीन काल से इस कला का अभ्यास भारतवर्ष मे होता आ रहा है। आज भी विश्व के मल्लयोद्धाओं में भारतीय मल्लों का महत्वपूर्ण स्थान है। राजाओं के यहां मल्लों की नियुक्ति होती थी। पुराण में रोमांचकारी मल्लयुद्ध का वर्णन मिलता है। ऐसे भी मल्ल होते थे जो हाथियों को पछाड़ने में संकोच नहीं करते थे। विविध प्रकार के बाहुयुद्धों का विवरण विष्णुपुराण में उपलब्ध होता है: बाल्यकाल में ही बलराम ने गर्दभाकृति धेनुकासुर नामक एक घोर असुर से मल्लयुद्ध किया था। बलराम ने उसे आकाश में घुमाकर तालवृक्ष पर पटक मारा था[३३]। एक पर्वताकार प्रलम्ब नामक दैत्य को मल्लयुद्ध के द्वारा निहत किया था[३४]। कृष्ण जिस समय गोपियों के साथ रासक्रीडा में आसक्त थे, अरिष्ट नामक एक मदोन्मत्त असुर जनसमूह को भयभीत करता हुआ व्रज में आया। उसकी कान्ति सजल जलधर के समान थी, सींग अत्यन्त तीक्ष्ण थे, नेत्र सूर्य के समान देदीप्यमान थे और अपने खुरों की चोट से वह भूतल को विदीर्ण कर रहा था। उसे देखकर गोप और गोपाङ्गनाएँ भयभीत हो गये थे। अरिष्ट आगे की ओर सींग कर कृष्ण की कुक्षि में दृष्टि लगाकर उनकी ओर दौड़ा। महाबली कृष्ण ने वृषभासुर को अपनी ओर आता देखकर अवहेलना से लीलापूर्वक इस प्रकार पकड़ कर मार डाला जिस प्रकार ग्राह किसी क्षुद्र जीव को उसकी ग्रीवा को उन्होंने गीले वस्त्र के समान मरोड डाला और मुख से रक्त वमन करता हुआ वह मर गया था[३५]।

---

३१. तु० क० अरण्य २४–३०

३२. तु० क० ४।४।९५–६

३३. वही ५।८

३४. वही ५।९

३५. वही ५।१४

रंगभूमि के मध्य भाग में उचितानुचित व्यवहार के निर्णय के लिए युद्धपरीक्षक नियुक्त किये जाते थे[36]। युद्धपरीक्षक के सम्बन्ध में स्मृतिकार का कथन है कि वे योद्धाओं को यह कहकर प्रोत्साहित करें कि विजयी होने पर धर्मलाभ होगा और रण के सम्मुख मरने पर स्वर्ग प्राप्ति होगी किन्तु रण से पलायन करने पर नरकगामी होना पड़ेगा इत्यादि[37]। विजयी पक्ष की ओर से योद्धाओं के प्रोत्साहन के लिए शंख, तूर्य और मृदंग आदि विविध वाद्यों को बजाने की प्रथा थी। जिस समय वज्र के समान कठोरशरीर चाणूर के साथ सुकुमार-शरीर कृष्ण को मल्लयुद्ध में भिड़ते हुए देखकर दर्शक स्त्रियां मल्लयुद्ध के परीक्षकों को अन्यायी घोषित कर रही थीं, क्योंकि वे एक वालक और वलिष्ट मल्लों के युद्ध की अपेक्षा कर रहे थे[38]। चाणूर और कृष्ण के द्वन्द्वयुद्ध के समय चाणूर के वल का क्षय और कृष्ण के वल का उदय देख कंस ने कुपित होकर तूर्य आदि वाजे बंद करा दिये थे किन्तु आकाश में तूर्य आदि अनेक दिव्य वाजे वजने लगे थे[39]। जिस समय कृष्ण और चाणूर में वाहुयुद्ध चल रहा था उसी समय मुष्टिक और वलभद्र का भी रोमांचकारी द्वन्द्वयुद्ध चल रहा था। कृष्ण ने मल्ल चाणूर को अनेकों वार घुमाकर आकाश में ही निर्जीव हो जाने पर पृथ्वी पर पटक दिया और वल-देव ने मुष्टिक के मस्तक पर मुष्टिप्रहार से एवं वक्षःस्थल में जानुप्रहार से पृथिवी पर पटककर पीस डाला। कंस के कुवलयापीड नामक एक अतिवलवान् हाथी के साथ भी कृष्णवलभद्र के मल्लयुद्ध का प्रसंग है। युद्ध में कृष्ण और वलराम ने उस ऐरावत के समान महाबली हाथी की सूंड़ अपने हाथ से पकड़ कर उसे घुमाया और उसके दांत उखाड़ कर उनसे महावतों को निहत कर अंत में केवल बलभद्र ने अपने बायें चरण से लीलापूर्वक उसे मार डाला था[40]।

स्त्री और युद्ध—अनुमित होता है कि स्त्रियों के साथ पुरुषों का युद्ध अवि-धेय माना जाता था क्योंकि बाणासुर के युद्धप्रसंग पर कहा गया है कि जिस समय मधुसूदन बाणासुर को मारने के लिए अपना चक्र छोड़ना चाहते थे उसी

---

३६. वही ५।२०।२६

३७. प्रहर्षयेद्बलं व्यूह्य तांश्च सम्यक्परीक्षयेत् ।
चेष्टाश्चैव विजानीयादरीन्योधयतामपि ॥ —म० स्मृ० ७।१९४

३८. नियुक्तप्राश्निकानां तु महानेष व्यतिक्रमः ।
यद्बालबलिनोर्युद्धं मध्यस्थैस्समुपेक्ष्यते ॥ —५।२०।६२

३९. तु० क० ५।२०।७१–२; ३०।२ और ५६

४०. वही ५।२०

समय दैत्यों की विद्या कोटरी हरि के समक्ष नग्नावस्था में उपस्थित हुई। उसे देखते हरि ने अपने नेत्र मूँद लिए थे[४१]।

परिचायक ध्वजादि—समाज, सैन्य, राष्ट्र तथा धर्म पर ध्वजा-पताका आदि परिचायक चिह्नों का इतना व्यापक प्रभाव था कि योद्धाओं और महापुरुषों की ख्याति इन्हीं के कारण होती थी। पुराण में ऐसे ध्वजादिधारी पुरुषों का प्रसंग मिलता है। यथा:—

(१) सीरध्वज निमिपुत्र—राजा जनक से इक्कीसवीं पीढ़ी में उत्पन्न व्यक्ति थे। सीर शब्द हल शब्द का पर्याय है। अतः सीरध्वज का शब्दार्थ हुआ वह पुरुष जिसकी ध्वजा में सीर का चिह्न हो। सीरध्वज ने पुत्रकामना से पुत्रेष्टि अनुष्ठान के लिए अपने 'सीर' से यज्ञीय भूमि को जोत रहा था। उसी समय 'सीर' के अग्रभाग से सीता नाम की कन्या उत्पन्न हुई थी[४२]।

(२) मयूरध्वज वाणासुर का विशेषण वा पर्याय है, क्योंकि उसकी ध्वजा में मयूर का चित्र रहता था। एक वार अहंकारी तथा युद्धकामी वाणासुर से शङ्कर ने कहा था कि जिस समय मयूर चिह्नवाली ध्वजा टूट जायगी उसी समय तुम्हारे सम्मुख मांसभोजी यक्ष पिशाचादि को आनन्ददायी युद्ध उपस्थित होगा[४३]।

(३) गरुडध्वज शब्द कृष्ण का वोधक है। पौण्ड्रकवंशीय एक कृत्रिम वासुदेव ने अपनी ध्वजा में गरुड का चिह्न वना लिया था यह देख वासुदेव गरुडध्वज गंभीर भाव से हँसने लगे[४४] थे।

(४) वृषभध्वज शब्द भगवान् शंकर का वोधक है[४५]।

(५) वरुण का परिचायक जलस्रावी छत्र,

(६) मन्दराचल का परिचायक मणिपर्वत नामक शिखर,

---

४१. मुञ्चतो वाणनाशाय ततश्चक्रं मधुद्विषः।
नग्ना दैतेयविद्याभूत्कोटरी पुरतो हरेः॥
तामग्रतो हरिर्दृष्ट्वा मीलिताक्षः······। —५।३३।३६ ७

४२. तु० क० ४।५।२२–२८

४३ मयूरध्वजभङ्गस्ते यदा वाण भविष्यति।
पिशिताशिजनानन्दं प्राप्स्यसे त्वं महारणम्॥ —५।३३ ३

४४. तु० क० ५।३४।१७–१८ और प्रयाग अशोकस्तम्भ पर उत्कीर्ण फ़्लीट का गुप्त शिलालेख (खं०, प्लेट १, पं० २४)

४५. तु० क० ५।३४।३५

(७) अदिति के परिचायक अमृतस्रावी कुण्डल और

(८) इन्द्र का परिचायक ऐरावत था[४६]।

ऋग्वेद के युग में ध्वजा-पताका का प्रयोग इतना व्यापक हो चुका था कि यह रूपक और विशेषण के रूप में व्यवहृत होने लगा था। अग्नि के लिए धूमकेतु शब्द प्रचलित हो चुका था[४७]।

महाकाव्य युग में ध्वजा-पताकाओं का पूरा विवरण दृष्टिगत होता है—भिन्न-भिन्न आकार, रंग तथा योजना की ध्वजाएँ व्यवहृत होती थीं :—

(क) धनुर्धर अर्जुन की ध्वजा पर वानर (हनुमान्) का चित्र खचित था और सिंह का पुच्छ भी उसमें चित्रित रहता था।

(ख) द्रोणपुत्र अश्वत्थामा की ध्वजा में सिंह की पूंछ का चिह्न था।

(ग) कर्ण के ध्वज पर सुवर्णमयी माला से विभूषित पताका वायु से आन्दोलित हो रथ की बैठक पर नृत्य-सा करती थी।

(घ) कौरव-पुरोहित कृपाचार्य के ध्वज पर एक गोवृष की सुन्दर छवि अंकित रहती थी।

(ङ) वृषसेन का मणिरत्नविभूषित सुवर्णमय ध्वज मयूरचिह्न से अंकित था।

(च) मद्रराज शल्य की ध्वजा के अग्रभाग में अग्निशिखा के समान उज्ज्वल सुवर्णमय एक सीता (भूमि पर हल से खींची हुई रेखा) थी।

(छ) सिन्धुराज जयद्रथ की ध्वजा के अग्रभाग में वराह का चित्र था।

(ज) भूरिश्रवा के रथ में यूप का चिह्न था।

(झ) कुरुपति दुर्योधन की ध्वजा पर रत्ननिर्मित हस्ती रहता था।

(ञ) शल के ध्वज पर एक गजराज की मूर्ति बनी रहती थी।

(ट) आचार्य द्रोण की ध्वजा पर सौवर्ण वेदी विराजती थी और

(ठ) घटोत्कच की पताका पर गृध्र[४८]।

(ड) निषदराज के जलपोत पर स्वस्तिकध्वजा विराजमान होती थी[४९]।

---

४६. तु० क० ५।२९।१०–११

४७. स नो महाँ अनिमानो धूमकेतुः पुरुश्चन्द्रः धिये वाजाय हिन्वतु।
—ऋ० वे० १।२७।११

४८. म० भा० द्रोण० १०५

४९. अन्याः स्वस्तिकविज्ञेया महाघण्टाधराधराः।
शोभमानाः पताकाभिर्युक्तवाहाः सुसंहताः॥
—वा० रा० अयोध्या० ८९।११

सैनिक वेशभूषा और कृति—अपने पुराण में सैनिक वेश-भूषा के विषय में क्रमबद्ध और स्पष्ट वर्णन उपलब्ध नहीं, किन्तु अस्पष्ट रूप से इस सम्बन्ध में यत्र-तत्र कुछ विवृतियाँ मिल जाती हैं।

(क) देवगणों से प्रार्थित होकर इन्द्रपद के लोभ से रजि ने असुरों के विरुद्ध देवपक्ष से युद्ध किया था। देवसेना की सहायता करते हुए रजि ने अनेक महान् अस्त्रों से दैत्यों की सम्पूर्ण सेना नष्ट कर दी और शत्रुपक्ष को जीत चुकने पर देवराज इन्द्र ने रजि के दोनों चरणों को अपने मस्तक पर रख कर उन्हें पिता के रूप में स्वीकृत किया था[५०]।

(ख) सगर ने हैहय और तालजंघ आदि क्षत्रियों को नष्ट करने के अनन्तर अपने शत्रुओं के वेष परिवर्तित करा दिये थे : यवनों के शिर मुण्डित करवा दिये, शकों को अर्ध मुण्डित करवा दिया, पारदों के लंबे-लंबे केश रखवा दिये, पह्लवों के मूँछ-दाढ़ी रखवा दीं तथा इनके समान अन्यान्य क्षत्रियों को भी स्वाध्याय और वषट्कारादि से वहिष्कृत कर दिया[५१]।

(ग) कृतवीर्य के पुत्र अर्जुन ने दत्तात्रेय की उपासना कर सहस्र भुजाएँ, युद्ध के द्वारा सम्पूर्ण पृथिवी मण्डल की विजय तथा शत्रुओं से अपराजय आदि अनेक वर पाये थे। सहस्रार्जुन ने उन्मत्त आक्रमणकारी रावण को पशु के समान बांधकर एक निर्जन वन में रख दिया था[५२]।

(घ) स्यमन्तक मणि के लिए कृष्ण ने एक गंभीर गुफा में प्रवेश कर ऋक्षराज जाम्बवान् के साथ इक्कीस दिनों तक लगातार युद्ध किया था। कृष्ण को एक विलक्षण पुरुष के रूप में देख कर धात्री वहाँ "त्राहि-त्राहि" कर चिल्लाने लगी थी। इक्कीस की अवधि में गुफा से निर्गत न होने पर कृष्ण को निहत समझ कर बन्धुओं ने समयोचित सम्पूर्ण और्ध्वदेहिक कर्म कर दिये थे[५३]।

(ङ) भयभीत शतधन्वा शतयोजनगामिनी एवं वेगवती घोड़ी पर चढ़ कर भाग चला था और बलदेव तथा कृष्ण ने शैब, सुग्रीव, मेघपुष्प और बलाहक नामक चार अश्वों से सन्नद्ध रथ पर चढ़ कर उसका पीछा किया था। कृष्ण ने भागते हुए शतधन्वा का शिर अपना चक्र निक्षेप कर काट डाला था[५४]।

---

५०. तु० क० ४।३।४०-४७
५१. वही० ४।९।८-११
५२. वही ४।११।१२-१९
५३. वही ४।१३।४३-४९
५४. वही ४।१३।९१-९८

(च) कभी-कभी दैत्य मनुष्य रूप भी धारण कर लेते थे। प्रलंब नामक दैत्य गोपवेष में अपने को छिपा कर गोप-बालकों को उठा ले जाने की इच्छा से उनके दल में घुस गया था और गोपबालकों के साथ हरिक्रीडन नामक खेल में सम्मिलित हो गया था। अपने कन्धे पर बलराम को चढ़ा कर चन्द्रसहित मेघमण्डल के समान वह अत्यन्त वेग से आकाश मण्डल को चल दिया। तब माला और आभूषण धारण किये, शिर पर मुकुट पहने, शकट चक्र के समान दारुणाक्ष और दग्ध पर्वत के समान वृहदाकार उस निर्भय राक्षस के द्वारा नीयमान बलभद्र कुछ विचलित-से हो गये थे। किन्तु कृष्ण के द्वारा अपनी शक्ति के स्मरण कराये जाने पर बलभद्र ने अपने मुष्टिप्रहार से उसे मार डाला था[५५]।

(छ) कृष्ण के कारण अपने यज्ञ के रुक जाने से इन्द्र ने अत्यन्त रोषपूर्वक संवर्तक नामक मेघों के दल से कहा था कि व्रज की गौओं को तुम मेरी आज्ञा से वर्षा और वायु के द्वारा पीडित कर दो। मैं भी पर्वत-शिखर के समान अत्यन्त ऊँचे अपने ऐरावत पर चढ़ कर वायु और जल छोड़ने के समय तुम्हारी सहायता करूँगा[५६]।

(ज) जिस समय कृष्ण रासक्रीडा में संलग्न थे उसी समय अरिष्ट नामक एक मदोन्मत्त असुरने व्रज में प्रवेश किया। उसकी आकृति सजल जलधर के समान श्याम थी, सींग अत्यन्त तीक्ष्ण, नेत्र सूर्यसम तेजस्वी थे और अपने खुरों की चोट से वह पृथ्वी को विदीर्ण कर रहा था। दाँत पीसता हुआ वह अपनी जिह्वा से ओठों को चाट रहा था। उसके स्कन्धबन्धन कठोर थे, ककुद और शरीर का प्रमाण अत्यन्त ऊंचा और दुर्लंघ्य था। उसकी ग्रीवा लम्बी और मुख वृक्ष के खोखले के समान गंभीर था। वृषभरूपधारी वह दैत्य गौओं को भयभीत कर रहा था। अपने निकट आने पर मधुसूदन ने उसे इस प्रकार पकड़ लिया जैसे ग्राह किसी क्षुद्रजीव को पकड़ लेता है। कृष्ण ने दैत्य का दर्प भंग कर अरिष्टासुर की ग्रीवा को गीले वस्त्र के समान मरोड़ कर उसे मार डाला था[५७]।

(झ) एक बार कृष्ण के वध की इच्छा से कंस के द्वारा प्रेरित केशी नामक दैत्य अश्वरूप धारण कर वृन्दावन में आया था। अश्वरूपी उस दैत्य के हिनहिनाने के शब्द से भयभीत होकर समस्त गोप और गोपियां गोविन्द

---

५५. वही ५।९

५६. वही ५।११।१-५

५७. वही ५।१४

की शरण में आये और कृष्ण ने शुभ्र मेघखंड के समान केशी के समस्त दन्त उखाड़ कर उसे मारा था[५८]।

(ञ) दुष्ट रजक को मार कर राम और कृष्ण ने उसके यहां नील और पीत वस्त्र धारण किये थे तत्पश्चात् कंस के माली ने इच्छानुसार सुन्दर सुन्दर पुष्प इन को अर्पित किये थे[५९]।

(ट) कुब्जा ने राम और कृष्ण को आदरपूर्वक उनके शरीर योग्य अनुलेपन दिया। तदनन्तर पत्ररचनादिविधि से अनुलिप्त तथा चित्र-विचित्र मालाओं से सुशोभित राम और कृष्ण क्रमशः नीलाम्बर और पीताम्बर धारण किये धनुश्शाला तक आये और अनायास कृष्ण ने यज्ञ धनुष को तोड़ डाला।

(ठ) ऐरावत के समान महाबली कुवलयापीड हाथी के दाँत उखाड़ कर उनसे समीपस्थ गजपालों को राम और कृष्ण ने मार डाला और तत्पश्चात् रोहिणीनन्दन ने रोषपूर्वक मस्तक पर पादप्रहार से कुवलयापीड को निहत कर दिया था।

(ड) कृष्ण और बलभद्र ने मल्लयुद्ध के द्वारा क्रमशः चाणूर और मुष्टि को आकाश में घुमाकर मुष्टिप्रहार से उसका वध कर दिया एवं अन्त में मधुसूदन ने मंच पर से कंस को खींच कर भूमि पर पटक कर मार डाला था[६०]।

(ढ) ऐसे उदाहरण मिलते हैं कि अलौकिक शक्ति सम्पन्न योद्धाओं के निकट उनके अस्त्र-शस्त्र इच्छा होते ही उपस्थित हो जाते थे। जब मगधेश्वर जरासन्ध ने तेईस अक्षौहिणी सेना के सहित मथुरा नगरी को चारों ओर से घेर लिया तब राम और जनार्दन थोड़ी सी सेना के साथ नगर से निकल कर जरासंध के प्रबल सैनिकों से युद्ध करने लगे। उस समय हरि के पास शार्ङ्ग धनुष, अक्षय बाणयुक्त दो तूणीर और कौमोदकी गदा आकाश से आ गये। बलभद्र के पास भी हल और सुनन्द नामक मूसल स्वयं आकाश से आगये[६१]।

(ण) कालयवन नामक योद्धा की सेना में गज, अश्व, रथ और पदाति सेनाओं की संख्या असंख्य थी। यादवों के साथ युद्ध करने के समय अपने सैनिकों के थक जाने पर उन्हें त्याग कर एवं अन्य नये वाहनों पर चढ़ कर वह मथुरापुरी को आक्रान्त कर रहा था अपनी पुरी की सुरक्षा के लिए कृष्ण ने

---

५८. वही ५।१६।१-१३
५९. वही ५।१९।१५-२३
६०. वही ५।२०।७-८७
६१. वही ५।२२।३-७

एक दुर्जय दुर्ग का निर्माण किया जिस पर बैठकर पुरुषों के अतिरिक्त स्त्रियाँ भी युद्ध कर सकती थीं[62]।

(त) जब इन्द्र ने निवेदन किया कि पृथिवीपुत्र नरकासुर ने अदिति के अमृतस्रावी दोनों दिव्य कुण्डल ले लिये हैं और अब वह ऐरावत गज को भी लेना चाहता है तब कृष्ण मुसकिरा कर आसन से उठे और गरुड पर अपनी पत्नी सत्यभामा के साथ चढ़कर युद्ध के लिये प्राग्ज्योतिषपुर को चले[63]।

(थ) बाणासुर की रक्षा के लिए त्रिशिरा और त्रिपाद माहेश्वर ज्वर कृष्ण से लड़ने आया था जिसके स्पर्श मात्र से बलदेव मूर्च्छित हो गये थे किन्तु कृष्ण प्रेरित वैष्णव ज्वर ने तुरन्त उन्हे नष्ट कर दिया। कृष्ण बाणासुर को मारने के लिए चक्र छोड़ना ही चाहते थे कि दैत्यों की विद्या कोटरी हरि के समक्ष नग्नावस्था में उपस्थित हो गयी[64]।

(द) पौण्ड्रक वंशीय वासुदेव नामक राजा ने अज्ञानमोहित पुरुषों के द्वारा स्तूयमान होकर अपने को कृष्ण ही मान लिया था। उसने अपने कण्ठ में वैजयन्ती माला, शरीर में पीताम्बर, गरुडरचित ध्वजा और वक्षःस्थल में श्रीवत्स चिह्न धारण कर लिया था। अपने हाथ में चक्र, गदा, शार्ङ्ग धनुष, और पद्म धारण कर वह उत्तम रथारूढ हो कर देवकीनन्दन कृष्ण से युद्ध करने आया था। उसने नाना प्रकार के रत्नों से सुसज्जित किरीट और कुण्डल भीं धारण किये थे[65]।

(ध) एक देवद्रोही द्विविद नामक दैत्य का प्रसंग आया है। वानररूपधारी द्विविद ने देवगणों से वैर ठाना था। वह यज्ञों को विध्वंस करने, साधुमर्यादा को मिटाने और देहधारी जीवों को नष्ट करने लगा। वह पहाड़ों की चट्टान उखाड़ कर समुद्र में छोड़ देता और कभी समुद्र में घुसकर उसे क्षुभित कर देता था। वह कामरूपी वानर महान् रूप धारण कर लोटने लगता तथा अपने लुण्ठन से सम्पूर्ण धान्यों को कुचल डालता था। एक दिन हलायुध रैवतोद्यान में मद्यपान कर रहे थे। इसी समय वह द्विविद वानर आया और हलधर के हल और मूसल लेकर उनकी अनुकृति करने लगा। यदुवीर बलभद्र ने अपनी मुष्टि के प्रहार से उसे मार दिया[66]।

---

६२. वही ५।२३।७-११
६३. वही ५।२९।११-१४
६४. वही ५।३३।१४-३६
६५. वही ५।३४।४-१८
६६. वही ५।३६।३-१९

(न) कृष्ण के पृथ्वी छोड़ कर चले जाने पर जब धनुर्धारी अर्जुन एकाकी यादव स्त्रियों को लिये जा रहे थे तब दस्यु गण लाठी और ढेले लेकर अर्जुन पर टूट पड़े। अर्जुन युद्ध में अक्षीण अपने गाण्डीव धनुष को चढ़ा न सके। अर्जुन के छोड़े बाण भी निष्फल होने लगे और उनके अग्निदत्त अक्षय बाण भी नष्ट होने लगे। अर्जुन के देखते देखते अहीर लोग स्त्रीरत्नों को खींच खींच कर ले गये और म्लेच्छ गण भी उनके समक्ष ही वृष्णि और अन्धक वंश की समस्त स्त्रियों को लेकर चले गये। सर्वदा जयशील अर्जुन 'हा! कैसा कष्ट है? कैसा कष्ट है?' कह कर व्याकुल हो रो रहे थे[६७]।

वैदिक साहित्य में सैनिक वेश-भूषा के सम्बन्ध में कोई क्रमबद्ध वर्णन दृष्टिगोचर नहीं होता किन्तु यत्र तत्र सैनिक उपकरण सम्बन्धी सामग्रियां विकीर्ण अवस्था में मिलती है। एक स्थल पर सैनिक अपने उद्गार प्रकट करते हुए कह रहे हैं—"हे इन्द्रावरुण, जहां हमारे मनुष्य ध्वजा फहराते हुए रण-स्थल में शत्रुओं से लोहा लेने के लिए भिड़ते हों, जहां दुष्कर कर्म होते हों और जिस रण में पृथिवी कांपने लगती हो और स्वर्गामी वीर भी भीत होते हों, वहाँ हमें आप प्रोत्साहित करें[६८]।

वैदिक युग में योद्धा की अन्त्येष्टि क्रिया सैनिक सम्मान के साथ होती थी। मृतक वीर जब चिता पर स्थापित किया जाता था, उस समय भी उसके हाथों में धनुष-बाण रहते थे। अग्निसंस्कर्ता वीर मृतक के हाथों में स्थित धनुष-बाण से शक्ति, तेजस्विता तथा सम्मान की प्रेरणा प्राप्त करते थे[६९]। अपने पुराण में धनुष-बाण से तो नहीं, किन्तु पुष्पमाला से विभूषित कर साधारणतः मृतक के दाह करने का विधान है[७०]।

व्यूहरचना—पुराण में न तो व्यूह शब्द का स्पष्ट प्रयोग हुआ है और न व्यूहरचना का ही विशिष्ट वर्णन दृष्टिगत होता है, किन्तु व्यूढ़ युद्ध का प्रसंग यदा कदा साक्षात्कृत अवश्य हो जाता है। शास्त्रीय मत से उस सैनिक रचना को व्यूह कहा जाता है जिसके आगे रथ हों, रथों के पीछे अश्व हों, उनके

---

६७. वही-५।३८।८-२९

६८. यत्र नरः समयन्ते कृतध्वजो यस्मिन् आजा भवति किं चन प्रियम्।
यत्रा भयन्ते भुवना स्वर्दृशस्तत्रा न इन्द्रावरुणाधिवोचतम्॥
—ऋ० वे० ७।८३।२

६९. धनुर्हस्तादाददानो मृतस्यास्मै क्षत्राय वर्चसे बलाय।
—ऋ० वे० १०।१८।९

७०. प्रेतदेहं शुभैः स्नानैः स्नापितं स्रग्विभूषितम्। —३।१३।८

पीछे पदाति हों और दोनों पार्श्वों में गज हों[७१]। इस लक्षण के अनुसारी कतिपय अस्पष्ट पौराणिक उदाहरण अवश्य उपलब्ध है।

(क) कालयवन ने यादवों को पराजित करने के लिए सहस्रों हाथी, घोड़े और रथों के सहित सहस्रों करोड़ म्लेच्छ सेना को साथ ले महान् उद्योग किया था[७२]।

(ख) रुक्मी ने कृष्ण को मारने के लिए हाथी, घोड़े, रथ और पदातियों से युक्त होकर उनका पीछा किया था[७३]।

(ग) मगधेश्वर जरासन्ध ने तेईस अक्षौहिणी सेना के सहित आकर मथुरापुरी को चारों ओर से घेर लिया था[७४]।

(घ) कृष्ण ने कालयवन की सेना से यादवों की सुरक्षा के लिए एक ऐसा दुर्जय दुर्ग निर्मित किया था जिसमें बैठ कर वृष्णिश्रेष्ठ यादवों के अतिरिक्त स्त्रियां भी युद्ध कर सकती थीं[७५]।

स्मृतिकार ने छः प्रकारों का व्यूह निर्धारित किया है। यथाः—(१) दण्ड-व्यूह, (२) शकटव्यूह, (३) वराहव्यूह, (४) मकरव्यूह, (५) सूचीव्यूह और (६) गरुडव्यूह[७६]। दुर्ग के भी छः प्रकार निर्दिष्ट किये गये हैं। यथाः—(१) धनुर्दुर्ग, (२) महीदुर्ग, (३) जलदुर्ग, (४) वार्क्षदुर्ग, (५) नृदुर्ग और (६) गिरिदुर्ग[७७]। किन्तु अपने पुराण में इन विविध व्यूहों और दुर्गों का विशिष्ट और साङ्गोपाङ्ग वर्णन नहीं है।

सैनिक शिक्षा—पौराणिक प्रमाण के आधार पर यह कहना अत्यन्त कठिन है कि उस युग में सैनिक शिक्षा सर्वसाधारण के लिए अनिवार्य थी। धनुर्विद्या को चौदह प्रधान विद्याशाखाओं में एकतम न मान कर अठारह

---

७१. मुखे रथा हयाः पृष्ठे तत्पृष्ठे च पदातयः।
पार्श्वयोश्च गजाः कार्या व्यूहोऽयं परिकीर्तितः॥
—अ० को० २।८।७९ पा० टी० १

७२. म्लेच्छकोटिसहस्राणां सहस्रैस्सोऽभिसंवृतः।
गजाश्वरथसम्पन्नैश्चकार परमोद्यमम्॥ —५।२३।७

७३. तु० क० पा० टी० २५

७४. उपेत्य मथुरां सोऽथ रुरोध मगधेश्वरः।
अक्षौहिणीभिस्सैन्यस्य त्रयोविंशतिभिर्वृतः॥ —५।२२।३

७५. तु० क० ५।२३।११

७६. म० स्मृ० ७।१८७

७७. वही ७।७०

शाखाओं में एक माना गया है[७८]। कतिपय विवरणों से अवगत होता है कि क्षत्रिय राजाओं के लिए सैनिक शिक्षा का पाठ्यक्रम अनिवार्यरूप से निर्धारित रहा होगा। वर्णधर्म के प्रसंग में शस्त्रधारण करना क्षत्रिय जाति के लिए आजीविका बतलाया गया है। यह भी कहा गया है कि दुष्टों को दण्ड देने से राजा पारलौकिक सिद्धि प्राप्त कर लेता है[७९]। शतधनु नामक एक परम धार्मिक राजा के धनुर्विद्या के शिक्षण का संकेतमात्र मिलता है[८०]। बाहु के पुत्र सगर ने उपनयन संस्कार के पश्चात् और्व के आश्रम में वेद और शास्त्रों के साथ भार्गव नामक आग्नेय अस्त्र की शिक्षा प्राप्त की थी[८१]। जनमेजय के पुत्र शतानीक के कृप के सान्निध्य में अस्त्रविज्ञान की शिक्षा पाने का भी विवरण है[८२]।

अनुमित होता है कि अवन्तिपुर में एक विद्यालय था जहां के पाठ्यक्रम में धनुर्विज्ञान शास्त्र अनिवार्य रूप से निर्धारित था। सैनिक शिक्षा शास्त्र के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक प्रशिक्षण की भी व्यवस्था थी। संकर्षण और जनार्दन—दोनों भाइयों ने वहां रहस्य तथा प्रयोग के सहित धनुर्वेद और सम्पूर्ण अस्त्र विज्ञान की शिक्षा प्राप्त की थी[८३]।

महाभारत में सम्पूर्ण धनुर्वेद के अतिरिक्त बलभद्र और कृष्ण के हस्ति तथा अश्वसंचालन के प्रशिक्षण का भी प्रमाण उपलब्ध होता है[८४]। स्मृतिकार के मत से कुरुक्षेत्र (पुरानी दिल्ली) मत्स्य (अलवर), पंचाल (रोहिलखंड) और शूरसेन (मथुराजनपद) के निवासी स्वभावतः सैनिक शिक्षण के लिए

---

७८. तु० क० ३।६।२८–२९

७९. तु० क० ३।८।२७ और २९

८०. चापाचार्यस्य तस्यासौ सखा राज्ञो महात्मनः —३।१८।५७

८१. अस्त्रं चाग्नेयं भार्गवाख्यमध्यापयामास। —४।३।३७

८२. कृपादस्त्राण्यवाप्य —४।२१।४

८३. तु० क० ५।२१।२१ और २४

८४. हस्तिशिक्षामश्वशिक्षां द्वादशाहेन चापतुः।
तावुभौ जग्मतुर्वीरौ गुरुं सान्दीपनिं पुनः।
धनुर्वेदचिकित्सार्थं धर्मज्ञौ धर्मचारिणौ।
ताविष्वस्त्रवराचार्यमभिगम्य प्रणम्य च।
पंचाशद्भिरहोरात्रैर्दशांगं सुप्रतिष्ठितम्।
सरहस्यं धनुर्वेदं सकलं तावपापतुः।
—सभा० ३८।२९ के पश्चात् दा० पा० पृ० ८०२

कुशल होते थे और उन्हें सैनिक महाविद्यालय में प्रवेश के अवसर पर प्राथमिकता दी जाती थी, किन्तु तदितर देशवासियों को शारीरिक योग्यता के अनुसार प्रवेश कराया जाता था[८५]।

शस्त्रास्त्रप्रयोग—सृष्टि के आदिकाल से विश्व के अशेष प्राणियों में आत्मरक्षणात्मक और आक्रमणात्मक प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। शरीर के एक अङ्ग से वे अपनी रक्षा करते हैं तो अन्य अंग से अपने प्रतिपक्षी पर प्रहार करते हैं। प्रत्येक प्राणी के अवयव इन्हीं दो उद्देश्यों—रक्षणात्मक और आक्रमणात्मक—से निर्मित हुए प्रतीत होते हैं। हाथ, नेत्र, पलक, कान, नाक और त्वचा परित्राणात्मक रूप में रचित हुए हैं और दन्त, नख, मुष्टि, शिर और पाद आक्रमणात्मक रूप में। मानव प्राणी ने अपनी विवेक-बुद्धि के विकास होने पर युद्ध करने के लिए एक नये उपाय—साधन का आविष्कार किया। लौहादि धातुओं के संयोग से उसने विविध शस्त्रास्त्रों का निर्माण किया।

शस्त्र और अस्त्रादि के पौराणिक विवेचन के पूर्व इनकी शाब्दिक व्युत्पत्ति का भी विवेचन करना औचित्यपूर्ण है। भ्वादि गणीय हिंसार्थक शसु धातु के आगे 'ष्ट्रन्' प्रत्यय के योग से शस्त्र शब्द निष्पन्न होता है और दिवादिगणीय क्षेपणार्थक असु धातु के आगे 'ष्ट्रन' प्रत्यय के योग से अस्त्र शब्द की निष्पत्ति होती है। अत एव शस्त्र उस आयुध की संज्ञा हो सकती है जिसका प्रयोग समीप से किया जाय और अस्त्र उस आयुध की संज्ञा है जिसे दूर से फेंक कर प्रयोग किया जाय। शस्त्र वर्ग में मुष्टि, खड्ग और परशु आदि आते हैं और अस्त्र वर्ग में धनुषवाण, लोष्ठ और कृत्या आदि ध्वंसकारी दिव्य आयुध। विष्णुपुराण में अनेक प्रकार से आयुधों का प्रयोग दृष्टिगत होता है। यथा—

(१) **अष्टापद** (द्यूत खेलने का पासा) इसी के प्रयोग से बलभद्र ने रुक्मी को मारा था (५।२८।२३)

(२) **असि**—ध्रुव ने अच्युत को असि धारण किये देख पृथिवी पर शिर रख कर प्रणाम किया था (१।१२।४५)। पौण्ड्रक वासुदेव ने असि आदि अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित होकर हरि से युद्ध किया था (५।३४।१९)। प्राग्बौद्ध युग में इसका बहुधा प्रयोग होता था[८६]।

---

८५. कुरुक्षेत्रांश्च मत्स्यांश्च पंचालाञ्शूरसेनजान्।
दीर्घाल्लघूंश्चैव नरानग्रानीकेषु योजयेत्॥ —म० स्मृ० ७।१९३

८६. प्रि० बु० इ० १७१

(३) उलूखल—बालकृष्ण ने उलूखल को खींचते हुए यमलार्जुन नामक दो वृक्षों को उखाड़ डाला था (५।६।१७)। यह शब्द "उडूखल" के लिए ऋग्वेद में आता है और पीछे चलकर एक नियमित शब्द हो जाता है जो प्रायः यौगिक शब्द 'उलूकल-मुसल' के रूप में भी आता है। इस पात्र की ठीक-ठीक आकृति के सम्बन्ध में सूत्रकाल के पूर्व स्पष्ट नहीं होता है[८७]।

(४) एरका (सरकण्डा)—कुकुर, अन्धक और वृष्णि आदि वंशों के समस्त यादवों ने पारस्परिक ध्वंसकारी संग्राम में इसका प्रयोग किया था। उनके हाथ में स्थित एरका वज्र के समान प्रतीत होती थी। कृष्ण के समझाने पर भी जब यादवों ने संग्राम करना न छोड़ा तब कुपित होकर कृष्ण ने भी एरका का प्रयोग किया। फलतः कृष्ण और उनके सारथी दारुक को छोड़ कर इस एरका के प्रहार से समस्त यदुवंशी निहत हो गये (५।३७।३९-५३)।

(५) करिदन्त—कृष्ण और बलभद्र ने कुवलयापीड हाथी के दोनों दन्त उखाड़ कर उन से उपस्थित समस्त हस्तिरक्षकों (महावतों) और कुवलयापीड हाथी को निहत किया था (५।२०।३८–४१)।

(६) कायत्राण (कवच)—योद्धा लोग विपक्षी के प्रहार से आत्म-रक्षा के लिए कायत्राण अर्थात् कवच को धारण करते थे। कृष्ण और बाणासुर के संग्राम में दोनों पक्षों से कवचभेदी बाण छोड़े गये थे (५।३३।३१–३२)।

(७) कार्मुक (धनुष)—पौण्ड्रक वासुदेव की सेना ने कृष्ण के ऊपर धनुष-बाण का प्रयोग किया था (५।३४।१९)। यह साधारण अस्त्र है। रामायण और महाभारत के युद्धों में इसका बहुधा प्रयोग होता था।

(८) कृत्या—यह तांत्रिक शस्त्र के रूप में पुराण में वर्णित हुआ है। प्रह्लाद को मारने के लिए हिरण्यकशिपु से प्रेरित उसके पुरोहितों ने इसे उत्पन्न किया था। प्रह्लाद के ऊपर प्रयुक्त यह कृत्या निष्फल हुई और स्वयं भी नष्ट हो गयी थी (१।१८।३३–३७) और कृत्या का दूसरा प्रसंग भी पौण्ड्रक वासुदेव के युद्ध के अवसर पर हुआ है। महेश्वर के वरदान से पौण्ड्रक की सहायिका के रूप में कृष्ण से लड़ने के लिए कृत्या उत्पन्न हुई थी जिसे सुदर्शन नामक प्रसिद्ध चक्र ने जला डाला था और स्वयं वह चक्र विष्णु के हाथ में चला आया था (५।३५।३२–४४)।

(९) कौमोदकी गदा—हरि की यह परम प्रसिद्ध गदा उनके स्मरण मात्र से उनके पास आ जाती थी (५।२२।६)। कृष्ण ने इसी गदा के प्रहार

---

८७. वै० इ० १।११४

से पौण्ड्र की सम्पूर्ण सेना को नष्ट किया था (५।३४।२०)। ऋग्वेद के आर्य भी इसका प्रयोग करते थे[८८]।

(१०) खड्ग—महाबली कंस खड्ग के प्रयोग से अपनी बहिन देवकी को मारने ने लिए उद्यत हुआ था (५।१।९)। मैत्रायणीसंहिता में खड्ग एक पशु की संज्ञा है[८९]।

(११) खुर—वृषभरूपधारी अरिष्ट नामक असुर कृष्ण की रासक्रीडा के समय अपने खुरों की चोट से पृथिवी को विदीर्ण कर रहा था (५।१४।२)। एक अन्य अश्वरूपधारी केशी नामक दैत्य अपने खुरों से भूतल को खोदता हुआ कृष्ण के वध की कामना से आया था (५।१६।२)।

(१२) गदा—हरि के इस आयुध का प्रयोग अनेक स्थलों पर हुआ है। यथा—पारिजातहरण के अवसर पर हरि से संग्राम करने के लिए देवगण ने गदा आदि अस्त्र-शस्त्र धारण किये थे (५।३०।५४) और यादवों के पारस्परिक युद्ध के समाप्त होने के कुछ पूर्व हरि की प्रदक्षिणा कर सूर्य मार्ग से वह चली गयी थी (५।३७।५२)।

(१३) गाण्डीव—यह वीर अर्जुन का प्रधान धनुष था। यह अर्जुन का अमोघ अस्त्र था—इसका प्रयोग सर्वदा और सर्वथा अव्यर्थ होता था, किन्तु कृष्ण के धराधाम से चले जाने पर गाण्डीव धनुष की शक्ति भी क्षीण हो गयी थी (५।३८।२१-२४)।

(१४) चक्र—यह वैष्णव चक्र है। विश्वकर्मा ने सूर्य के जाज्वल्यमान तेज को छाँटकर यह चक्र बनाया था। कृष्ण का यह प्रिय अमोघ आयुध था (३।२।८-११)। इसमें विशेषता यह थी कि शत्रु का वध कर पुनः कृष्ण के पास लौट आता था (५।३४।३६-४४)।

(१५) चञ्चु—सर्पाहारी गरुड अपने शत्रुओं के संग्राम में आयुध रूप में चञ्चू (चोंच) का ही प्रयोग करते थे (५।३१।५९)।

(१६) चरण—समय-समय पर चरण भी शस्त्र का कार्य कर देता है। एक छकड़े के नीचे सोये हुए बाल कृष्ण ने दूध के लिए रोते रोते ऊपर को लात मारी थी। उनकी लात के लगते ही वह छकड़ा लोट गया था (५।६।१-२)।

(१७) जानु—अरिष्ट नामक असुर को मधुसूदन ने अपने जानुप्रहार से मारा था (५।१४।११)।

---

८८. क० हि० वा० २२७

८९. वै० इ० १।२३७

(१८) **जृम्भक**— वाणासुर के संग्राम में उसके सहाय शंकर के ऊपर इस अस्त्र का प्रयोग गोविन्द ने किया था जिससे शंकर मूर्च्छित–निद्रित से हो गये थे (५।३३।२४)।

(१९) **तल**—अपने करतल के प्रहार से कृष्ण ने कंस के रजक का शिर भूमि पर गिरा दिया था (५।१९।१६)।

(२०) **तुण्ड**—कृष्ण और इन्द्र के संग्राम में गरुड देवगण को अपने तुण्ड से खाते और मारते फिरते थे (५।३।६४)।

(२१) **तोमर**—यह भी एक पौराणिक शस्त्र है। कृष्ण के महाप्रयाण काल में उपमा के रूप में तोमर शब्द का प्रयोग हुआ है (५।३७।६९)। एक प्रकार की वर्छी का ही यह रूपान्तर है[९०]।

(२२) **त्रिशूल**—यह शङ्कर का परम प्रसिद्ध आयुध है। इसका निर्माण विश्वकर्मा ने सूर्य के तेज के योग से किया था (३।२।११)।

(२३) **दंष्ट्रा**—महावराहरूपी भगवान् ने धरा के उद्धार के समय अपनी दंष्ट्रा का प्रयोग किया था (१।४।२६)।

(२४) **दण्ड**—अस्त्र के रूप में यम ने दण्ड का प्रयोग किया था जिसे कृष्ण ने अपनी गदा से खण्ड-खण्ड कर पृथिवी पर गिरा दिया था (५।३०।६०)।

(२५) **दशन**—दशन सर्पों के आयुध होते हैं और बलभद्र ने कालियनाग को दशनायुध संज्ञा दी है (५।७।४२)।

(२६) **नखांकुर**—भगवान् नृसिंह ने अपने इसी शस्त्र से शत्रु के वक्षःस्थल को विदीर्ण किया था (५।५।१६) और गरुड नखांकुरों (पंजों) से देवगणों को मारते थे (५।३०।६४)।

(२७) **नागपाश**—हिरण्यकशिपु के आदेश से दैत्यों ने प्रह्लाद को नागपाश से बांधकर समुद्र में डाल दिया था (१।१९।५५)।

(२८) **निस्त्रिंश**—देवगण ने कृष्ण के विरुद्ध संग्राम में निस्त्रिंश आयुध का प्रयोग किया था (५।३०।५४) और पौण्ड्रक वासुदेव की सेना ने निस्त्रिंश आदि आयुधों से सुसज्जित होकर कृष्ण से युद्ध किया था (५।३४।१९)।

(२९) **पक्ष**—गरुड देवगणों को पंखों से मारते-फिरते थे (५।३०।६४)।

(३०) **पन्नग**—वाणासुर ने यदुनन्दन अनिरुद्ध से एक वार पराजित होकर पुनः पन्नग-पाश से बाँधा था (५।३३।९)।

(३१) **परशु**—क्षत्रियों के विध्वंस करने के लिए जामदग्न्य ने परशु नामक आयुध को धारण किया था (४।८।३६)।

---

९०. प्रि० बु० इ० १७१

(३२) परिघ—इसका भी एक देवायुध के रूप में उल्लेख हुआ है (५।३०।५४)। यह लौहनिर्मित दण्ड का पर्याय है[९१]।

(३३) पाश—यह वरुण के शस्त्रास्त्र के रूप में उल्लिखित हुआ है (५।३०।५९)। ऋग्वेद में वाँधने के लिए रज्जु के पर्याय के रूप में इसका उल्लेख हुआ है। प्रायः लाक्षणिक आशय में इसका वरुण के 'पाश' के रूप में प्रयोग मिलता है[९२]।

(३४) बाण—वाणों में अलौकिक शक्ति का वर्णन मिलता है। कृष्ण ने वाण वरसा कर अग्नि को शीतल कर दिया था, वसुओं को दिशा-विदिशाओं में भगा दिया था तथा कृष्ण के संचालित वाणों से साध्य, विश्वेदेव, मरुत् और गन्धर्वगण सेमल की रूई के समान आकाश में ही लीन हो गये थे (५।३०।६२-६३)।

(३५) भार्गवाग्नेय—और्व इस भार्गवनामक आग्नेय अस्त्र के आचार्य के रूप मे वर्णित हुए हैं (४।३।३७)।

(३६) महास्तम्भ—बलराम ने कुपित होकर रुक्मी के पक्ष के अवशिष्ट राजाओं को सुवर्णमय स्तम्भ से मार डाला था (५।२८।२५)।

(३७) माहेश्वर—वाणासुर की रक्षा के लिए माहेश्वर नामक एक त्रिशिरा और त्रिपाद ज्वर कृष्ण से लड़ने आया था, जिसके प्रभाव से बलदेव मूर्च्छित होकर निमीलिताक्ष हो गये थे (५।३३।१५)।

(३८) मुष्टि—बलराम ने प्रलम्बासुर के मस्तक पर मुष्टिप्रहार किया था, जिसकी चोट से उसके दोनों नेत्र बाहर निकल आये थे (५।९।३५)।

(३९) मुसल—यह बलभद्र का प्रमुख अस्त्र था। स्मरणमात्र से उनके पास यह आ जाता था (५।२२।७)। बाणासुर की सेना को बलराम इसी से मारते थे (५।३३।३०)।

(४०) यष्टि—यह दस्यु (लुटेरों) ओं के आयुध के रूप में वर्णित हुआ है (५।३८।१८)।

(४१) लाङ्गल—यह बलभद्र का प्रख्यात शस्त्र था (५।२५।६)।

(४२) लोष्ठ—लुटेरों ने द्वारकावासियों के प्रति ढेलों (लोष्ठों) का प्रयोग किया था (५।३८।१८)।

(४३) वज्र—यह इन्द्र का विशिष्ट अस्त्र है (५।३०।६७)। ऐसा संकेत मिलता है कि पूर्व में मूल रूप से यह प्रस्तरमय निर्मित था और पीछे चल कर

---

९१. सं० श० कौ० ६५०

९२. वै० इ० १।५९५

अस्थिमय रूप में विवृत हुआ। पश्चात्कालीन साहित्य के अनुसार इसका प्रयोग लुप्त हो गया[९३]।

(४४) **विषाण**—पुराण में यह वृषभासुर के आयुध के रूप में आया है। वह अपने सींगों (विषाणों) को आगे की ओर कर कृष्ण की ओर दौड़ा था (५।१४।९)।

(४५) **वृष्टिवात**—वर्षा और वायु (वृष्टिवात) मेघों के शस्त्रास्त्र के रूप में वर्णित किये गये हैं (५।११।४)।

(४६) **वैष्णव**—जब बलराम के नेत्र माहेश्वर ज्वर के प्रभाव से निमीलित हो गये थे तो कृष्णप्रेरित वैष्णव ज्वर ने माहेश्वर ज्वर को उनके शरीर से निकाल दिया था (५।३३।१६)।

(४७) **शंख**—गोविन्द के शस्त्रास्त्रों में से यह एकतम है। भक्तों के कल्याण के समय इसका प्रयोग दृष्टिगोचर होता है तथा युद्ध के समय पर शत्रुओं को त्रस्त करने के लिए भी शंखध्वनि गोविन्द करते थे (१।१२।५१-२ और ५।३०।५६)।

(४८) **शक्ति**—यह कार्तिकेय के शस्त्र के रूप में वर्णित है। इसे भी विश्वकर्मा ने सूर्य के तेज से ही निर्मित किया था (३।२।१२)। पौण्ड्रक वंशीय वासुदेव की सेना भी शक्ति आयुध से सुसज्जित हुई थी (५।३४।१९)।

ऋग्वेद में शक्ति को भाले अथवा वर्छी के रूप में अभिहित किया गया है[९४]।

(४९) **शरसंघ**—यह अगणित बाण के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है (५।३०।५६)।

(५०) **शार्ङ्ग**—यह हरि के धनुष की संज्ञा है (५।२२।६)।

(५१) **शूल**—इसका प्रयोग देवायुध के रूप में मिलता है (५।३०।५४)। प्राचीन भारतीय मुद्राओं में शूल को शिव के साथ उत्कीर्ण प्रदर्शित किया गया है[९५]।

(५२) **शृङ्ग**—कृष्ण ने वृषभासुर का एक सींग (शृंग) उखाड़ कर उसी से उस पर आघात किया था (५।१४।१३)।

(५३) **शैलशिला**—नरकासुर के मित्र द्विविदनामक वानर ने एक भीमाकृति शैलशिला लेकर बलराम पर फेंकी थी (५।३६।१६-१७)।

(५४) **सायक**—यह बाण की ही संज्ञा है (५।३८।४५)।

---

९३. क० हि० वा० २२८

९४. वही।

९५. वही।

(५५) सीर—यह भी हल का पर्याय है और बलराम के आयुध के रूप में उल्लिखित हुआ है (४।१।९४ और ९६)।

(५६) सुदर्शन—कृष्ण के परम प्रसिद्ध चक्रास्त्र का विशिष्ट नाम है। इन्द्र, बाणासुर और पौण्ड्रक के साथ संग्राम के अवसर पर उन्होंने इसे ग्रहण किया था (५।३०।६७, ३३।३५ और ३४।३७)।

(५७) हल—यह बलराम का प्रसिद्ध अस्त्र है। इच्छा होते ही उनके पास आ जाता था (५।२५।७)। अपने हल से यमुना नदी के सहस्रों टुकड़े कर देने के लिए बलदेव उद्यत हो गये थे (५।२५।१३)।

(५८) हस्तिदन्त—कुवलयापीड को मार कर राम और कृष्ण उस के दाँतों (करदन्तों) को लिये हुए गर्वयुक्त लीलामयी दृष्टियों का निक्षेप करते उस महान् रंगभूमि में इस प्रकार आये जैसे मृग-समूह के मध्य में सिंह चला जाता है (५।२०।४२–४३)।

निष्कर्ष—

सांग्रामिक नीति के प्रसंगाध्ययन से अन्तिम निष्कर्ष यही निकलता है कि पुराणकालीन भारतीय समाज युद्धकला एवं युद्धविज्ञान के अन्तिम शिखर पर आरूढ था। स्वार्थ-सिद्धि के लिए देव, असुर, मानव और पशु—सब का चरम साधन एकमात्र युद्ध ही था। युद्धभूमि पर मर मिटने में तनिकभी संकोच अथवा कार्पण्य नहीं था। मनुष्यों और पशुओं के मध्य पारस्परिक मल्ल आदि युद्धों के अनेक उदाहरण मिलते हैं। रथ और पदाति आदि भेदों से युद्ध के अनेक प्रकार दृष्टिगत होते हैं। सैनिक शिक्षा कतिपय वर्गों में अनिवार्य रूप से प्रचलित थी—सैनिक शिक्षक के रूप में प्रायः ब्राह्मण ही दृष्टिगोचर होते हैं और शिक्षार्थी के रूप में क्षत्रिय। व्यावहारिक युद्धक्षेत्र में अवतीर्ण होते स्त्री, वैश्य और शूद्र का कोई प्रसंग उपलब्ध नहीं। अस्त्र-शस्त्र के प्रकार अनेक थे—काष्ठनिर्मित, प्रस्तरनिर्मित, लौहनिर्मित एवं स्वर्णनिर्मित आदि। कतिपय शस्त्रास्त्रों में अद्भुत चमत्कृतिपूर्ण अलौकिक शक्ति प्रदर्शित की गयी है।
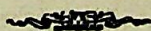
सप्तम अंश

आर्थिक-दशा

[प्रस्ताव, कृषिकर्म, कर्षण, सिंचनव्यवस्था, उत्पादन, भोजन-पान, मांस, नरमांस, वस्त्रभूषण और शृङ्गार, निवास, पशुपालन, वाणिज्य, खनिज-पदार्थ, निष्क और पण, अर्थ की उपादेयता, निष्कर्ष ।]

[प्रयुक्त साहित्य : (१) विष्णुपुराणम् (२) मनुस्मृतिः (३) वैदिक इण्डेक्स (४) Economic History of Ancient India (५) Wilson : Commentary on Viṣṇu purana (६) Cultural History from Vāyu purana (७) Pre. Buddhist India और (८) भारतीय व्यापार का इतिहास]

प्रस्ताव—

वर्णधर्म के विधान के प्रसंग में वैश्य को लोकपितामह ब्रह्मा ने अध्ययन, यज्ञ और दान के अतिरिक्त पशुपालन, वाणिज्य और कृषि—ये विशिष्ट कर्म जीविकारूप से दिये थे[1]। स्मृतिकार ने वैश्य के लिए उपर्युक्त छः के अतिरिक्त कुसीद अर्थात् व्याज के सहित ऋणव्यापार नामक कर्म का भी विधान किया है और इस प्रकार वैश्य जाति के छः से बढ़कर सात कर्म विहित किये गये[2]।

कृषि कर्म—ब्रह्मा के पौत्र अर्थात् स्वायम्भुव मनु के पुत्र उत्तानपाद से दशमी पीढ़ी में उत्पन्न राजा वेन के राजत्वकाल पर्यन्त पृथिवी असमतल थी—कहीं पर्वत कन्दरा और कहीं ऊँची-नीची। इस कारण से न तो पुर और ग्राम का कोई नियमित विभाजन हुआ था और न अन्न, गोरक्षण, कृषि और व्यापार ही का किसी प्रकार का क्रम निर्धारित हो सका था। उस समय तक प्रजा का आहार स्वयम् उत्पन्न केवल नैसर्गिक फलमूलादि ही था और वह भी अत्यन्त दुर्बल हो गया था[3]। महाराज वैन्य पृथु ने राज्य की सुव्यवस्था के लिए अपने धनुष की कोटि से सैकड़ों-सहस्रों पर्वतों को उखाड़ा और यथास्थान पर उन्हें निहित कर भूमि को समतल बनाया[4]। स्पष्ट रूप से कहा गया है कि कृषिकर्म कर्षकों की ही आजीविका है[5]।

ईरानियों से पृथक् होने के पूर्व से ही भारतीय जनसमुदाय "कृषि" से परिचित था। यह ऋग्वेद के 'यवं कृष्' और 'सस्य' तथा अवेस्ता की 'यओ

---

१. पशुपाल्यं च वाणिज्यं कृषिं च मनुजेश्वर।
वैश्याय जीविकां ब्रह्मा ददौ लोकपितामहः॥ —३।८।३०

२. पशूनां रक्षणं दानमिज्याऽध्ययनमेव च।
वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च॥ —म० स्मृ० १।९०

३. तु० क० १।१३।८३–८४

४. तत उत्सारयामास शैलान् शतसहस्रशः।
धनुष्कोटया तदा वैन्यस्तेन शैला विवर्द्धिता॥ —१।१३।८२

५. कर्षकाणां कृषिर्वृत्तिः। —५।१०।२९

करेश्' और 'हृद्य' व्याहृतियों की समानता से स्पष्ट होता है, जिनसे जोत कर बोये हुए बीज और उससे उपजे हुए अन्न का आशय है। किन्तु यह बात भी महत्त्वहीन नहीं कि जोतने से सम्बद्ध व्याहृतियां प्रमुखतः ऋग्वेद के केवल प्रथम और दशम मण्डलों में ही आती हैं और यह तथाकथित 'पारिवारिक' मण्डलों (२–७) में अत्यन्त दुर्लभ हैं। अथर्ववेद में कृषि आरंभ करने का श्रेय पृथी वैन्य को ही दिया गया है, और ऋग्वेद तक में भी अश्विनों को 'हल' जोत कर बीज वपन करते हुए कहा गया है। पश्चात्कालीन संहिताओं और ब्राह्मणों में 'कृषि' का बार बार उल्लेख है। ऋग्वेद तक में भी कृषि को महत्त्वपूर्ण समझने के स्पष्ट प्रमाण उपलब्ध हैं। पंचविंशब्राह्मण में अब्राह्मणवादी हिन्दू व्रात्यों द्वारा भूमि की कृषि न करने का वर्णन है[६]।

कर्षण—पुराण के अनेक स्थलों पर लाङ्गल, हल और सीर आदि आयुध संकर्षण के शस्त्रास्त्र के रूप में विवृत हुए हैं और ह्रस्वरोमा के पुत्र सीरध्वज नामक राजा के यज्ञभूमि को जोतने का भी प्रसंग दृष्टिगोचर हो चुका है[७]। ये लाङ्गल, हल और सीर परस्पर में एक दूसरे के पर्यायवाची हैं और हैं क्षेत्रकर्षणके साधन के प्रतीक भी। कृषक सीर का पूजनोत्सव भी करते थे[८]। इस से सूचित होता है कि आज के ही समान पौराणिक युग में भी क्षेत्रों का कर्षण हल से ही होता था।

वैदिक साहित्य में कृषियोग्य भूमि को उर्वरा अथवा क्षेत्र भी कहा गया है। खाद (शकन, करीष) का उपयोग होता था और सिंचाई भी की जाती थी। खनित्र, हल, लाङ्गल या सीर बैलों के द्वारा खींचा जाता था। इसके लिए छः आठ और कभी कभी बारह बैल तक प्रयुक्त होते थे। कृषिसम्बन्धी विभिन्न क्रियाएँ शतपथब्राह्मण में स्पष्टतया इस प्रकार वर्णित हैं। यथा:—जोतना, बोना, काटना और दवाँई कर अन्न अलग करना। पके धान्य फल को दात्र या सृणि से काटा जाता था, उन्हें गट्ठरों में बाँधा जाता था और अन्नागार (खल) की भूमि पर पटका जाता था। इस के पश्चात् चलनी अथवा सूप से ओसा कर तृण और भूसे से अन्न को अलग कर लिया जाता था। ओसाने वाले को धान्याकृत् कहा जाता था। एक पात्र में, जिसे ऊर्दर कहते थे, अन्न को भर कर नापा जाता था[९]।

---

६. तु० क० वै० इ० १।२००–२०१

७. तस्य पुत्रार्थं यजनभुवं कृषतः सीरे···। —४।५।२८

८. सीरयज्ञाश्च कर्षकाः —५।१०।३७

९. तु० क० वै० इ० १।२०१–२०२

सिंचनव्यवस्था पुराण के प्रासंगिक अध्ययन से ज्ञात होता है कि क्षेत्रों के सिंचन के लिए किसी कृत्रिम यंत्रादि की अपेक्षा न थी, स्वयं ही वृष्टि के प्रचुर जल से सिंचन हो जाता था। उस युग में विविध प्रकार के यज्ञों का प्रायः अनुष्ठान होता रहता था और उस यज्ञानुष्ठान से तृप्त होकर देवगण जल बरसा कर प्रजा को तृप्त करते थे[१०]। इस के अतिरिक्त गङ्गा, शतद्रु, चन्द्रभागा आदि विविध नदियाँ, सहस्रों शाखानदियाँ और उपनदियाँ थीं, जो अपने ओषधि गुणों से क्षेत्रों को उर्वरा बनाती रहती थीं। इन नदियों की सन्निधि के कारण भारतीय प्रजाजन स्वस्थ तथा हृष्ट-पुष्ट रहते थे[११]।

प्राग्बौद्ध युग में नैसर्गिक जल के पर्याप्त सुलभ रहने पर भी तत्कालीन जनसमुदाय सिंचनसम्बन्धी पद्धतियों से परिचित था। धर्म पद (८०-१४५) से ज्ञात होता है कि प्राचीन भारत में कर्षण और सिंचन के लिए पारस्परिक सहयोग रहता था और नहर-नाले आदि को खोदने का भी प्रबन्ध किया जाता था। प्रत्येक कृषक के अपने अपने विभाजित क्षेत्रों की चारों ओर से आड़ियाँ बनी रहती थीं और पानी के लिए छोटी छोटी नालियाँ भी। जातक ग्रन्थों से यह भी सूचित होता है कि अनावृष्टि आदि के कारण जलाभाव होने पर नदियों को बाँधने की भी व्यवस्था की जाती थी। कपिलवस्तु और कोलिया नगरों के मध्य में एक रोहिणी नामक नदी प्रवाहित होती थी जो एक ही बाँध लगा देने के कारण दोनों नगरों के उत्पादों को लाभान्वित करती थी। अपने समय पर जब अन्नों के बाल लटकने लगते थे तब दोनों नगरों के कृषाण साथ साथ एकत्र हो जाते थे और पारस्परिक सहयोग से यथोचित मात्रा में जल का विभाजन करते थे[१२]।

उत्पादन—एक समय राजा पृथु से पृथवी ने कहा था—"हे नरनाथ, मैंने जिन समस्त ओषधियों को पचा लिया है उन्हें यदि आप की इच्छा हो तो दुग्ध रूप से मैं दे सकती हूँ। आप प्रजा के हित के लिए कोई ऐसा वत्स (बछड़ा) प्रस्तुत कीजिए जिस से वात्सल्यवश मैं उन्हें दुग्ध रूप से निकाल सकूँ और मुझ को सर्वत्र समतल कर दीजिए जिससे मैं उत्तमोत्तम ओषधियों के बीजरूप दुग्ध को सर्वत्र उत्पन्न कर सकूँ[१३]।" पृथिवीपति पृथु ने स्वायम्भुव

---

१०. यज्ञैराप्यायिता देवा वृष्ट्युत्सर्गेण वै प्रजाः।
आप्यायन्ते धर्मज्ञः..................॥ —१।६।८

११. तु० क० २।३।१०-१८

१२. तु० क० इ० हि० इ० २००

१३. तु० क० १।१३।७९-८१

मनु को बछड़ा बना कर अपने हाथ में ही पृथिवी से प्रजा के हित के लिए समस्त धान्यों को दुह लिया था। उसी अन्न के आधार से आज भी सदा प्रजा जीवित रहती है[१४]। पुराण में कथन है कि प्रजाओं ने अपनी जीविका के साधनरूप कृषि कर्म आरम्भ किया तथा निम्नलिखित ग्राम्य और वन्य ओषधियों का उत्पादन किया। यथा (क) ग्राम्य ओषधिवर्गः—(१) व्रीहि (धान), (२) यव (जौ), (३) गोधूम (गेहूँ), (४) अणव (छोटे धान्य), (५) तिल, (६) प्रियंगु (काँगनी), (७) उदार (ज्वार), (८) कोरदूष (कोदो), (९) सतीनक (छोटी मटर), (१०) माष (उडद), (११) मुद्ग (मूंग), (१२) मसूर, (१३) निष्पाव (बड़ी मटर), (१४) कुलत्थक (कुलथी), (१५) आढक्य (अरहर), (१६) चणक (चना) और (१७) शण (सन)[१५]।

(ख) वन्य ओषधिवर्गः—(१) श्यामाक (समाँ), (२) नीवार, (३) जर्तिल (वनतिल), (४) गवेधु, (५) वेणुयव और (६) मर्कट (मक्का)[१६]। इन में व्रीहि, यव, माष, गोधूम, अणव, तिल, प्रियङ्गु, और कुलत्थ तथा श्यामाक, नीवार, जर्तिल, गवेधु, वेणुयव और मर्कट – इन चौदह ग्राम्य एवं वन्य ओषधियों को यज्ञानुष्ठान की सामग्री माना गया है। यज्ञसहित ये ओषधियाँ प्रजा की वृद्धि का परम कारण हैं। अत एव इहलोक-परलोक के ज्ञाता पुरुष यज्ञों का अनुष्ठान किया करते हैं[१७]। शाक और वन्य फल का केवल नाम का उल्लेख है[१८]।

ऋग्वेद में उत्पादित अन्न के प्रकारों के सम्बन्ध में हमें अनिश्चित सूचना मिलती है, क्योंकि यव एक सन्दिग्ध आशय का शब्द है। पश्चात्कालीन संहिताओं में वर्णित वस्तुस्थिति भिन्न है। वहाँ चावल (व्रीहि) भी आता है, और यव का अर्थ 'जौ', तथा इस की एक जाति का नाम उपवाक है। मुद्ग, माष, तिल तथा अन्य प्रकार के अन्न, यथा अणु, खल्व, गोधूम, नीवार, प्रियङ्गु, मसूर और श्यामाक का भी उल्लेख है तथा उर्वारु, उर्वारुक की भी चर्चा है।

---

१४. वही १।१३।८७–८८

१५. वही १।६।२०–२२

१६. श्यामाकास्त्वथ नीवारा जर्तिलाः सगवेधुकाः।
तथा वेणुयवाः प्रोक्तास्तथा मर्कटकाः······ ॥ १।६।२५

१७. एताश्च सह यज्ञेन प्रजानां कारणं परम्।
परावरविदः प्राज्ञास्ततो यज्ञान्वितन्वते ॥ —१।६।२७

१८. तु० क० २।१३।४५; ४५; १५।३०, ३।११।८२, ४।२४।९५

यह निश्चित नहीं कि फलों के वृक्ष लगाये जाते थे अथवा वे वनों में स्वतः उगते थे; किन्तु कर्कन्धु, कुवल, बदर, का बहुधा उल्लेख मिलता है। कृषि की ऋतुओं का संक्षिप्त उल्लेख तैत्तिरीय संहिता के एक स्थल पर है : जौ ग्रीष्म ऋतु में पकता था और इसमें संदेह नहीं कि जैसा आधुनिक भारत में होता है, इसे जाड़े में ही बोया जाता था। चावल (व्रीहि) शरद् ऋतु में पकता था और वर्षा के आरम्भ में बोया जाता था। माष और तिल ग्रीष्म ऋतु की वर्षा के समय लगा दिया जाता था और जाड़े में पकता था। तैत्तिरीय संहिता के अनुसार वर्ष में दो बार उत्पाद (सस्य) काटा जाता था। कौषीतकि ब्राह्मण के अनुसार जाड़े का उत्पाद चैत्र मास तक पक जाता था[१९]। अपने पुराण में अन्न बीजों के बोने, उनके उगने तथा पकने आदि की ऋतुओं के सम्बन्ध में कोई विशेष उल्लेख नहीं है। देवधान्य, नीवार, दोनों श्यामाक, जौ, काँगनी, मूँग, गोधूम, धान, तिल, मटर, कचनार और सरसों—इन्हें श्राद्ध के लिए उपयोगी माना गया है। बड़े उड़द, छोटे उड़द, मसूर, कद्दू, गाजर, प्याज, शलजम, गान्धारक (शालिविशेष), तुषसहित धानचूर्ण ऊसर, भूमि में उत्पन्न लवण, हींग—ये वस्तुएं त्याज्य मानी गयी हैं। ऊँटनी, भेड़, मृगी तथा महिषी का दूध भी श्राद्ध के लिए त्याज्य ही था[२०]।

भोजनपान—अपने देश की आर्थिक अवस्था के अनुकूल ही साधारणतः प्रजावर्ग के भोजनपान का स्तर होता है। पुराण में निम्नलिखित भोज्यान्नों का विवरण मिलता है। यथा—भक्त (भात),[२१] मिष्टान्न,[२२] सक्तु (सत्तू), यावक (जौ की लप्सी), बाटी, अपूप (पूए), संयाव (हलवा), पायस, द्रप्स, (मट्ठा), फाणित (खाँड़ के पदार्थ)[२३]। हविष्य[२४]। फल, मूल, शुष्क शाखा, अपक्व, गुडमयपदार्थ, दधि, सर्पि, लवण, अम्ल, कटु और तिक्तपदार्थ[२५]। इसके अतिरिक्त भक्ष्य, भोज्य और लेह्य पदार्थ भी उल्लिखित हुए हैं[२६]। मधु,

---

१९. तु० क० वैं० इ० १।२०२
२०. ३।१६।५-९ और ११
२१. १।१७।६४
२२. २।६।१८
२३. २।१५।१२-१३
२४. ३।१६।१
२५. ३।११।८२-८५
२६. ४।२।१००

शाक, मूल, फल, पत्र और पुष्प—ये दुर्दिन के भोजन के रूप में वर्णित हुए हैं[२७]। पेय पदार्थों में शतद्रू, चन्द्रभागा, वेदस्मृति, नर्मदा, सुरसा, तापी, पयोष्णी प्रभृति असंख्य नदियों के नामोल्लेख हैं और उनके जल को अत्यन्त स्वास्थ्यप्रद बतलाया गया है[२८]। पेय पदार्थों में मधुर रस[२९] भी परिगणनीय है।

मैकडोनल और कीथ के मत से ऋग्वेद में व्रीहि (चावल) शब्द के अभाव के कारण भक्त (भात) का भी नामोल्लेख नहीं किन्तु तत्पर्यायी ओदन का प्रसंग अवश्य आया है। ओदन दूध में पके हुए अन्न का द्योतक है। यथा क्षीरौदन, घृतौदन, उदौदन आदि[३०]। **अपूप**—यह शब्द ऋग्वेद और पश्चात्कालीन साहित्य में सामान्य रूप से ऐसी मीठी रोटी के लिए आता है जो घीमिश्रित हो, वा व्रीहि (चावल) की बनी हो अथवा यव (जौ) की[३१]। सक्तु—पश्चात्कालीन संहिताओं और ब्राह्मणों में 'मोटे पीसे भोजन' अथवा विशेषतः 'जौ के आटे के भोजन के द्योतक रूप में आया है[३२]। द्रप्स—ऋग्वेद में मोटे बिन्दु के लिए प्रयुक्त हुआ है। इस लिए 'दधिद्रप्सा' व्याहृति प्रायः मिलती है[३३]। हविष्य का उल्लेख नहीं मिलता, किन्तु देवों को समर्पित करने की हवि के लिए हविस् का उल्लेख ऋग्वेद में हुआ है चाहे यह अन्न की बनी हो, सोम की, दुग्ध की या घृत की[३४]।

मांस—पौराणिक काल में धान्यान्न के ही समान मांस भोजन का भी समाज में प्रचलन था। किसी प्रकार के अपवाद का संकेत नहीं मिलता। श्राद्ध कर्म में विहित और अविहित वस्तुओं के उल्लेखन क्रम में मांस के सम्बन्ध में कतिपय पशुओं का नामोल्लेख हुआ है। यथा—मत्स्य, शशक (खरगोश), नकुल, सूकर छागल, एण (कस्तूरिया मृग), रौरव (कृष्ण मृग), गवय (वनगाय), मेष, गव्य (गोदुग्ध-घृत आदि), वार्ध्रीणस (पक्षिविशेष (और खड्ग (गेड़ा)[३५]।

---

२७. ४।२४।९५
२८. तु० क० २।३।१०-१८
२९. ३।११।८५
३०. तु० क० वै० इ० २।३८५ और १।१३९
३१. वही १।३०
३२. वही २।४५८
३३. वही १।४२८
३४. वही २।५५४
३५. तु० क० ३।१६।१-३

इस प्रसंग पर प्रयुक्त उपर्युक्त 'गव्य' शब्द विशेषण पद है। गो शब्द के आगे 'यत्' प्रत्यय के योग से 'गव्य' शब्द निष्पन्न हुआ है। अत एव इसका शाब्दिक अर्थ होता है—गोसम्बन्धी पदार्थ। यथा—गोदुग्ध, गोघृत आदि। माँस-प्रसंग के अन्तर्गत होने के कारण कतिपय विचारकों के मत से गव्य शब्द का अर्थ मांस ही अपेक्षणीय है। किन्तु टीकाकार के मत से मांस का उपयोग अन्य युगों के लिए प्रयोजनीय है। कलियुग के लिए गोदुग्ध अथवा गोदुग्ध से निर्मित पदार्थ ही प्रयोजनीय हैं[३६]।

नरमांस—अपने पुराण में नारमांस का भी एक विवरण है, किन्तु प्रसंग से अवगत होता है कि समाज में नरमांस को अतिशय निन्दनीय समझा जाता था। राजा सौदास ने अपने यज्ञानुष्ठान की समाप्ति पर अज्ञानतावश पकाया हुआ नरमांस सुवर्णपात्र में रख कर आचार्य वसिष्ठ को निवेदन किया था। नरमांस को तपस्वियों के लिए अत्यन्त अभक्ष्य वतलाकर आचार्य ने सौदास को राक्षस होने को शाप दिया था[३७]।

वैदिक ग्रन्थों में मांस भोजन नियमित ही प्रतीत होता है। उदाहरण के लिए सांस्कारिक मांसार्पण के पीछे यही मान्यता है कि देवगण उसे खायेंगे, और ब्राह्मण लोग देवों की समर्पित वस्तुएं खाते ही थे। आतिथ्य सत्कार के लिए महोक्ष (महान् बैल) अथवा महाज (महान् बकरे) के वध का नियमित

---

३६. The expression Gavya (गव्य) implies all that is derived from a cow, but in the text it is associated with 'Flesh' and as the commentator observes, some consider the flesh of the cow to be here intended : मांसमध्यपाठान्मांसमेवेत्यन्ये, but this, he adds, relates to other ages. In the Kali or present age it implies milk and preparations of milk. The sacrifice of a Cow or Calf formed part of the ancient Śrāddha. It then became typical, or a bull was turned loose, instead of being slaughtered, and this is slill practised on some occasions. In Manu, the term Gavya is coupled with others, which limit its application : संवत्सरं तु गव्येन पयसा पायसेन च। 'A whole year with the milk of cows, and food made of that milk'

Wilson III. 16. 2

३७. तु० क० ४।४।३८–५३

विधान है। विवाह संस्कार के समय बैलों का, स्पष्टतः खाने के लिए ही, वध किया जाता था। यदा कदा व्रतादि के अवसर पर यह वर्जित भी था[३८]।

वस्त्र, भूषण और शृङ्गार—ज्ञात होता है कि कलि के पूर्व युगों में प्रजावर्ग के वस्त्र रोचक, बहुमूल्य, आकर्षक और उत्कृष्ट होते थे क्योंकि कलियुगीय व्रात्य, म्लेच्छ और शूद्र आदि राजाओं के विषय में कहा गया है कि इनके राजत्व काल में उत्कृष्ट वस्त्रों का अभाव हो जायेगा अतः प्रजाजनों के पहिनने और ओढ़ने के वस्त्र के रूप में वृक्षवल्कल और पत्र ही व्यवहृत होंगे[३९]। वस्त्रों के क्षीण हो जाने से स्त्रियाँ केशकलापों से ही अपने को विभूषित करेंगी[४०]। पुनः कलिधर्म की नीचता के प्रतिपादन में पराशर का कहना है कि सन के बने हुए सबके वस्त्र होंगे[४१]। वस्त्रदान की महिमा के प्रतिपादन में कहा गया है कि ब्राह्मणों को वस्त्रदान करने से पितृगण परितृप्त हो जाते हैं[४२]। महर्षि सौभरि ने महाराज मान्धाता की पचास तरुणी कन्याओं से विवाह कर उनकी सुखसुविधा के लिए विश्वकर्मा को बुला कर प्रासाद के साथ उपधान (मसनद), शय्या और परिच्छद (ओढ़ने के वस्त्र) आदि उत्तमोत्तम विलासोपयुक्त वस्त्रसाधनों के निर्माण का आदेश दिया था। और सौभरि की प्रत्येक पत्नी अपने मनोनुकूल उत्कृष्ट वस्त्रों को धारण करती थी[४३]। उस समय रंग-विरंगे वस्त्रों का भी समाज में प्रचलन था। कंस के रंजक के घर से कृष्ण और बलभद्र ने सुरंजित वस्त्र लेकर धारण किया था[४४]। संभवत; उस समय समाज में ऊन के बने वस्त्र भी व्यवहृत होते थे, क्योंकि पुराण में औरभ्रिक (गरेंड़िये) का नाम आया है। यद्यपि पौराणिक युग में मेषोपजीवी (गरेड़िये) के लिए समाज में सम्मानित स्थान नहीं था[४५]। गृहस्थ आश्रम के पश्चात् प्रायः लोग वन में चले जाते थे और वहाँ चर्म, काश और कुशों से बिछौना और ओढ़ने का वस्त्र बनाकर वानप्रस्थ आश्रम का नियम पालन करते थे[४६]।

---

३८. तु० क० वै० इ० २।१६१-१६४

३९. तरुवल्कलपर्णचीरप्रावरणाश्चातिबहुप्रजाः·····॥ —४।२४।९६

४०. ··· ········वस्त्रे चोपक्षयं गते ।
कलौ स्त्रियो भविष्यन्ति तदा केशैरलंकृताः ॥ —६।१।१७

४१. शाणीप्रयाणि वस्त्राणि ········। —६।१।५३

४२. तु० क० ३।१४।२३

४३. वही ४.२।९७ और १०४

४४. वही ५।१९।१४। और १७

४५. वही २।६।२५

४६. चर्मकाशकुशैः कुर्यात्परिधानोत्तरीयके। —३।९।२०

भूषण धारण के प्रसंग में तो सर्वप्रथम अच्युत का ही नाम उल्लेखनीय है। उनके भूषणों में शंख, चक्र, गदा, शार्ङ्गधनुष, खड्ग और किरीट थे[४७]। विश्वकर्मा अशेष प्रकार के भूषणों के निर्माता थे[४८]। सिद्ध पुरुषों का भूषण जाम्बूनद नामक सुवर्ण से निर्मित होता था[४९]। पत्ररचनादि विधि से अनुलेपन का विधान था और चित्र-विचित्र पुष्पमालाओं के धारण करने की परिपाटी थी[५०]।

गृहस्थसम्बन्धी सदाचार के वर्णनक्रम में कहा गया है कि स्नान करने के उपरान्त केशविन्यास कर दर्पण में अपनी आकृति को देखे और अपनी आँखों में अंजन का भी प्रयोग करे[५१]। गार्हस्थ्य के पश्चात् प्रजावर्ग के लिए लोम, श्मश्रु अर्थात् दाढ़ी-मूछ धारण करने का विधान था[५२]।

ऋग्वेद के विवरणानुसार उन दिनों में ऊन, चर्म और तृण अथवा वृक्ष के पत्रों से निर्मित वस्त्र प्रायः धार्मिक उत्सव के अवसरों पर धारण किये जाते थे। सूती वस्त्रों के सम्बन्ध में कोई सूचना नहीं, किन्तु कौशेय (रेशमी) वस्त्रों की चर्चा पश्चात्कालीन वैदिक साहित्य में है। जातकों के विवरणानुसार पूर्वीय भारत में सूती वस्त्र अवश्य साधारण जनता का परिधान था। वैदिक आर्य अपनी नग्नता को आवृत करने के लिए केवल दो वस्त्र धारण करते थे—ऊर्ध्व वस्त्र और अधोवस्त्र। पुरुष और स्त्रियों के वस्त्रों की समानता अथवा भिन्नता के सम्बन्ध में स्पष्टरूप से वैदिक साक्ष्य नहीं[५३] है। एक जातक से यह सूचना मिलती है कि उस युग में लोग अन्तर्वस्त्र धारण करते थे जिनके पाकिटों में वे द्रव्य मुद्राएँ अथवा उसी प्रकार की मूल्यवान् वस्तुएँ रखते थे[५४]। ऋग्वेद से इस सम्बन्ध में कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता कि उस युग के लोग शिरोभूषण धारण करते थे वा नहीं। जातक से ज्ञात होता है कि उस समय पूर्वीय भारत में शिरोवेष्टन (पकड़ी) सर्वसाधारण जनता का परिधान

---

४७. १।१२४५

४८. कर्ता शिल्पसहस्राणां त्रिदशानां च वार्द्धकी।
भूषणानां च सर्वेषां कर्ता शिल्पवतां वरः॥ —१।१५।१२०

४९. २।२।२२

५०. ५।२०।१४

५१. ······कुर्यात्पुमान्केशप्रसाधनम्।
आदर्शाञ्जनमाङ्गल्यं दूर्वाद्यालम्भनानि च॥ —३।११।२१

५२. ३।९।१९

५३. क० हि० वा० २०६—२०७

५४. तु० क० प्रि० बु० इ० १३९

था। ऋग्वैदिक आर्य पुष्पमाला धारण करने के लिए अत्यन्त प्रसिद्ध थे। वे स्वर्णमाला भी पहनते थे। सिन्धुसभ्यता की जनता अपने विन्यस्त केशकलाप को पीछे की ओर मोड़ कर रखती थी। केशों के कुछ अंश कटवा भी दिये जाते थे। ऋग्वैदिक युग में स्त्रियाँ और पुरुष भी अपने केशों का जूड़ा बाँध कर रखते थे। सिन्धु सभ्यता के लोग छोटी दाढ़ी और गलमुच्छ रखते थे[५५]।

निवास—आरम्भ में प्रजाजन द्वन्द्व, ह्रास और दुःख से आतुर था। अतः उसने मरुभूमि, पर्वत और जल आदि के स्वाभाविक तथा कृत्रिम दुर्ग और पुर तथा खर्वट आदि स्थापित कर उनमें निवासारंभ किया और फिर शीत एवं घाम आदि बाधाओं से बचने के लिए यथा योग्य गृह निर्माण किया[५६]। संभवतः ये दुर्ग और खर्वट आदि निवासगृह प्रजाओं के लिए पर्याप्त रूप से सुखदायक नहीं थे, क्योंकि राजा पृथु से पूर्व पृथिवी समतल नहीं थी और पुर तथा ग्राम आदि का नियमित विभाग नहीं था[५७]। तपस्वी कण्डु ने प्रम्लोचा नामक अप्सरा के साथ मन्दराचल की कन्दरा में नौ सौ सात वर्ष, छः महीने और तीन दिन तक निवास किया था[५८]। ऋक्षराज जाम्बवान् अपने समस्त परिवार के साथ गुफा में निवास करता था। उसी गुफा में उसके साथ कृष्ण ने इक्कीस दिन तक घोर युद्ध कर स्यमन्तक मणि उससे ली थी[५९]। नन्द आदि गोपों के भी नियमित निवास गृह नहीं थे[६०]। एक पक्ष में नदीतट एवं पर्वतकन्दरा आदि क्लेशकर निवासस्थानों का वर्णन है तो अन्य पक्ष में बहुमूल्य प्रस्तर तथा स्फटिक आदि मणिरत्नों से निर्मित विशाल प्रासादों तथा गगनचुम्बी अट्टालिकाओं के विवरणों का भी अभाव नहीं। यथा—हिरण्यकशिपु स्फटिक और अभ्रशिला के बने हुए मनोहर प्रासाद में निवास करता था जहाँ अप्सराओं का उत्तम नृत्य हुआ करता था[६१]। उसका अन्य प्रासाद सौ योजन ऊँचा था। पर्वत की ऊँचाई जिसके निम्न भाग में ही मर्यादित थी[६२]। शिल्पकला के प्रधान आचार्य विश्वकर्मा ने महर्षि सौभरि की पचास पत्नियों के लिए पृथक्-पृथक् उपवन एवं जलाशयों से

५५. क० हिं० वा० २०७-२०९
५६. १।६।१७-१९
५७. १।१३।८३
५८. १।१५।१३-३२
५९. ४।१३।३३-५७
६०. न द्वारबन्धावरणा न गृहक्षेत्रिणस्तथा —५।१११।३३
६१. १।१७।९
६२. १।१९।११

युक्त स्फटिक शिलाओं से प्रासाद-निर्माण किया था। उन प्रासादों में अनिवार्य-नन्द नामक महानिधि का निवास था[६३]। गोविन्द कृष्ण ने बारह योजन भूमि में इन्द्र की अमरावती पुरी के समान महान् उद्यान, गहरी खाई, सैकड़ों सरोवर तथा अनेक प्रासादों से सुशोभित द्वारकापुरी का निर्माण किया था[६४]।

कैम्ब्रिज हिस्टरी ऑफ इण्डिया (१०९९) के अनुसार निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि ऋग्वैदिक युग के आर्य प्रस्तरमय दुर्ग निर्माण पद्धति से परिचित थे। एक ग्राम में कतिपय गृह होते थे जो पारस्परिक रक्षात्मक भाव से एक दूसरे के निकट में बने रहते थे। हिंस्रक पशुओं और शत्रुओं से सुरक्षा के निमित्त अशेष गृहों को झाड़ियों से आवृत रखा जाता था[६५]। प्राग्बुद्ध काल में सामान्यतया गृह ईंटों से बनाये जाते थे और उनके उपरिभाग लकड़ियों से आच्छादित रहते थे। प्रत्येक गृह में गलियों की ओर खुले वातायन होते थे तथा एक आगे और दूसरा पीछे—दो द्वार। कपाटों में भीतर और बाहर से सिटकिनियाँ लगी रहती थीं। साधारण गृहों के अतिरिक्त विशिष्ट तथा वैभवशाली भवनों और प्रासादों का भी निर्माण होता था। उनके भीतर और बाहर आवरण होते थे और वे चूने से लिप्त और दक्षता से चित्रित किये रहते थे[६६]।

पशुपाल्य—लोक पितामह ब्रह्मा ने वैश्य के लिए जीविकारूप से मुख्यतया पशुपालनरूप कर्म का विधान किया है[६७]। इन्द्र ने स्तुतिक्रम में लक्ष्मी को गोष्ठ (गोशाला) में निवास करने की प्रार्थना की है[६८]। कृष्ण ने नन्द गोप से गोपालन को ही उत्तम वृत्ति बतलायी है[६९]।

जातक साहित्य में पशुपालन की उपयोगिता प्रतिपादित की गयी है। उस युग में साधारण गृहस्थ के लिए पशुपालन कर्म धनोपार्जन का एक प्रमुख साधन माना जाता था। वृषभ तो कृषिकार्य के लिए अत्यावश्यक थे ही। यज्ञीय उपयोग के अतिरिक्त जनता के लिए दुग्ध एक उत्तम पेय पदार्थ था। दधि, छेना, नवनीत (मक्खन) और घी आदि की प्राप्ति का स्रोत तो

---

६३. ४।२।९७-१०१

६४. ५।२३।१३-१४

६५. क० हि० वा० २०१

६६. प्रि० बु० इ० २४०

६७. पाशुपाल्यं च वाणिज्यं कृषिं च……।
वैश्याय जीविकां ब्रह्मा ददौ लोकपितामहः ॥ —३।८।३०

६८ १।९।१२७

६९. ५।१०।२९

दूध ही था। सुत्तनिपात के प्रसंग से यह ज्ञात होता है कि काशी भरद्वाज नामक एक कृषक ब्राह्मण के पाँच हल थे और तदनुपातिक संख्या में वृषभ तथा इसके अतिरिक्त एक बड़ी संख्या में गायें थीं। धनियसुत्त का एक कृषक पशुओं को ही अपना वैभव मानता था और वह दूध देने वाली गायों के लिए अभिमान करता था[७०]।

वाणिज्य—वर्णक्रम के अनुसार ही जीविका के लिए कर्मानुष्ठान का विधान किया गया था। जिस वर्ण या जाति के लिए जो कर्म वैधानिक रूप से निर्दिष्ट था वही वर्ण अथवा जाति उस कर्मानुष्ठान का नियमतः अधिकारी था। जिस प्रकार याजन ब्राह्मण के लिए और शस्त्र धारण क्षत्रिय के लिए वैध था उसी प्रकार वाणिज्य व्यापाररूप कर्मानुष्ठान का अधिकार केवल वैश्य को था। ब्रह्माने पशुपालन और कृषि कर्म के समान ही वैश्य के लिए वाणिज्य कर्म का भी विधान किया है[७१]। एक स्थल पर कहा गया है स्वकर्मनिरत ब्राह्मण, क्षत्रिय और शूद्र के समान ही वैश्य भी वाणिज्य की व्यवस्था के अनुसार स्वकर्म में संलग्न रहते हुए भारत के मध्यभाग में निवास करते हैं[७२]। शर, कर्णी नामक बाण और खड्ग का निर्माण होता था। लाख, मांस, रस, तिल तथा लवण का विक्रय होता था। मार्जार, कुक्कुट, छाग, अश्व, शूकर तथा पक्षी पाले जाते थे। मदिरा का क्रय-विक्रय होता था, यद्यपि समाज में इन वस्तुओं का व्यापार गर्हित माना जाता था। एक स्थल पर औरभ्रिक (मेषोपजीवी) नामक व्यवसायी जाति का उल्लेख हुआ है[७३]। अतः ज्ञात होता है कि देश में ऊनी वस्त्रों का निर्माण होता था। उपमा के रूप में कुलालचक्र[७४] और तैलपीड[७५]—इन दो व्यावसायिक शब्दों के प्रयोग से मृत्तिका पात्रों के निर्माण और तैल के व्यापार का संकेत मिलता है। इनके अतिरिक्त कैवर्त्त[७६] (मछुआ या मल्लाह) नामक व्यावसायिक जाति का उल्लेख हुआ है। यह उल्लेख उस युग के मत्स्य और नौका व्यापार को प्रमाणित करता है।

उपर्युक्त वस्तुओं के क्रय-विक्रय के मूल्य के रूप में किसी द्रव्य वा मुद्रा का प्रयोग होता था अथवा तदितर वस्तुओं का इस विषय का पुराण में कोई

---

७०. इ० हि० इ० २११
७१. पा० टी० १
७२. २।३।९
७३. तु० क० पा० टी० ४५
७४. वही २।८।२९
७५. वही २।१२।२७
७६. वही ४।२४।६२

स्पष्ट उल्लेख नहीं है। उस काल में राजकर अथवा राजशुल्क के आदान का भी विवरण है किन्तु वह नाम मात्र का था। अधिक मात्रा में शुल्क लेने के विधान की कटु आलोचना की गयी है। जब राजकर की मात्रा अधिक और असह्य हो जाती थी तब प्रजाएँ पीड़ित होकर अन्य देशों वा पर्वतकन्दराओं में भाग कर निवास करती थीं[७७]।

खनिजपदार्थ—अपने पुराण में अनेक खनिज परार्थों का भी वर्णन मिलता है। यथा—अभ्रशिला[७८], सुवर्ण[७९], रजत[८०] (चाँदी), मणि[८१], लौह[८२] और हिरण्य[८३] आदि।

कौटिल्य ने अपने अर्थ शास्त्र में खनिज परार्थों का लम्बा वर्णन किया है। आभूषण निर्माण का उद्योग उस समय अत्यन्त विकसित था[८४]।

निष्क और पण—स्वर्णमुद्रा वा दीनार अथवा राजतमुद्रा आदि शब्दों का नामोल्लेख नहीं पाया जाता है, किन्तु एक स्थल पर द्यूतक्रीड़ा के प्रसंग में निष्क और पण शब्दों का विवरण हुआ है[८५]। अतः अनुमित होता है कि उस समय निष्क और पण का ही 'वस्तुविनिमय' में उपयोग होता था।

वैदिक साहित्य में निष्क का प्रयोग बहुधा उपलब्ध होता है। कतिपय लोगों के मत से निष्क मुद्रा न होकर आभूषण था। ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर निष्क का प्रयोग स्पष्टतया स्वर्ण आभूषण के लिए हुआ है परन्तु अन्यत्र यह शब्द मुद्रा वा सिक्का के अर्थ में भी प्रयुक्त मिलता है[८६]। अर्थशास्त्र में भी निष्क और पण आदि के उल्लेख प्रायः मिलते हैं—विशेष कर पण के। यह पण रजत तथा ताम्र दोनों का बनता था। वैदिक साहित्य में पण शब्द मोल-भाव तथा विक्रय करने की क्रिया का द्योतक है[८७]।

अर्थ की उपादेयता—पुराण में अर्थ को धर्माचरण का एक प्रधान

---

७७. वही ४।२४।९४ और ६।१।३८
७८. वही १।१७।९
७९. वही २।२।२२ तथा ६।१।१७
८०. वही ३।१५।५१
८१. वही ३।१३।१४ तथा ६।१।१७
८२. वही ५।२३।३
८३. वही ६।५।३८
८४. भा० व्या० इ० ५९
८५. तु० क० ५।२८।१३–१४
८६. तु० क० भा० व्या० इ० २३ और वै० इ० १।५१३
८७. वही ६३ और वै० इ० १।५३२

उपकरण माना गया है[८८]। अत एव इसके उपार्जन के लिए विष्णु की आराधना को परम विधेय निर्दिष्ट किया गया है। चतुर्विध पुरुषार्थों में भी अर्थ एकतम है[८९]। अपने अपने वर्ण धर्म के अनुसार आजीविका के लिए अर्थोपार्जन परम प्रयोजनीय रूप से स्वीकृत हुआ है एवं अशेष धर्म-कर्मों के आधार रूप से भी[९०]।

निष्कर्ष—इस अध्याय के अध्ययन से अवगत होता है कि पौराणिक भारतवर्ष आर्थिक दृष्टिकोण से सर्वथा सम्पन्न था। यहाँ का कृषिकर्म एकान्त उन्नत अवस्था में था। समस्त प्रकार के ग्राम्य और वन्य खाद्यान्नों का उत्पादन प्रचुर मात्रा में होता था। ऐसे महान् यज्ञानुष्ठान का वर्णन मिलता है जिसमें समस्त याज्ञिक वस्तुएँ सुवर्ण निर्मित और अति सुन्दर थीं। इस यज्ञ में इन्द्र सोम रस से तथा ब्राह्मणगण इच्छित दक्षिणा से परितृप्त हो गये थे[९१]। द्यूतक्रीड़ा के ऐसा धनवैभवसम्पन्न क्रीडक होते थे जो सहस्र, दश सहस्र और करोड़ निष्कों तक पण (दाँव) लगाने में किसी प्रकार का संकोच न करते थे[९२]। सोना, चाँदी आदि विविध धातुओं और मणि हीरक आदि बहुमूल्य रत्नों तथा विभिन्न प्रकार के रंग विरंगे सुन्दर वस्त्रों का पर्याप्त मात्रा में उपयोग होता था। प्रजाजनों को किसी सुखसुविधा का अभाव नहीं था। राजा की ओर से यदि कदाचित् किसी प्रकार अनीति का व्यवहार होता तो प्रजाएं राज्य छोड़ कर देशान्तर या पर्वतकन्दराओं का आश्रय ले लेती थीं। किन्तु इस प्रकार के दुर्भिक्ष अथवा दुर्दिनों का अस्तित्व केवल कलियुग के अतिलोलुप राजाओं के राजत्वकाल में ही प्रतिपादित किया गया है। अन्यथा देश की आर्थिक दशा सर्वतोभावेन और सर्वदा सन्तोषजनक थी।

---

८८. तु० क० १।१४।१६

८९. धर्मार्थकाममोक्षाश्च पुरुषार्था उदाहृताः —१।१८।२१

९०. ततस्स्ववर्णधर्मेण वृत्त्यर्थं च धनार्जनम्।
कुर्वीत........................ ॥
.... ।
धने यतो मनुष्याणां यतेतातो धनार्जने ॥ —३।११।२२–२३

९१. मरुत्तस्य यथा यज्ञस्तथा कस्याभवद्भुवि।
सर्वं हिरण्मयं यस्य यज्ञवस्त्वतिशोभनम् ॥
अमाद्यदिन्द्रस्सोमेन दक्षिणाभिर्द्विजातयः।
मरुतः परिवेष्टारस्सदस्याश्च दिवौकसः ॥ —४।१।३२—३३

९२. तु० क० ५।२८—१३—१८

अष्टम अंश

धर्म

[धर्म—वैष्णवधर्म, पौण्ड्रक वासुदेव, अवतार, अवतार की संख्या. अवतार का रहस्य सनकादि, वराह, नारद, नरनारायण, कपिल, दत्तात्रेय, यज्ञ, ऋषभदेव, पृथु, मत्स्य, कूर्म, धन्वन्तरि, मोहिनी, नरसिंह, वामन, परशुराम, व्यास, दाशरथि राम, संकर्षण बलराम, कृष्ण, बुद्ध, कल्कि, हयग्रीव, हंस, ध्रुवनारायण, गजेन्द्ररक्षक। सृष्टि और अवतार-विज्ञान :—मत्स्यावतार, कूर्मावतार, वराहावतार, नृसिंहावतार, वामनावतार, परशुरामावतार, दाशरथिरामावतार, संकर्षण रामावतार, कृष्णावतार, अवतार की आवश्यकता, देवार्चन, जीवबलि, ब्राह्मणभोजन, अन्धविश्वास, निष्कर्ष।]

[प्रयुक्त साहित्य : (१) विष्णुपुराणम् (२) संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ (३) हिन्दू-संस्कृति अंक (४) महाभारतम् (५) मनुस्मृतिः (६) तैत्तिरीयारण्यकम् (७) शतपथ ब्राह्मणम् (८) ऋग्वेदः (९) वैष्णवधर्म (१०) याज्ञवल्क्यस्मृतिः (११) श्वेताश्वतरोपनिषद् (१२) भागवतपुराणम् (१३) शब्द-कल्पद्रुमः और (१४) रघुवंशम्]

धर्म—

धर्म के विवेचन के पूर्व धर्म के शब्दार्थ का विवेचन करना आवश्यक प्रतीत होता है। शब्द शास्त्र की पद्धति से धारणार्थक 'धृञ्' धातु के आगे मन् प्रत्यय के योग से धर्म या धर्मन् शब्द की सिद्धि होती है। वैयाकरणों ने विविध प्रकार से इस शब्द का व्युत्पन्नार्थ निर्दिष्ट किया है। यथा—(१) वह कर्म जिस के आचरण से कर्ता को इस लोक में अभ्युदय और परलोक में मोक्ष की प्राप्ति हो, वह धर्म है। (२) जिस से लोक धारण किया जाय वह धर्म है। (३) जो लोक को धारण करे वह धर्म है। (४) जो अन्यों से धारण किया जाय वह धर्म है[1]। धर्म के सम्बन्ध में पुराण का प्रतिपादन है कि धर्माधर्मजन्य सुखदुःखों को भोगने के लिए ही जीव देहादि धारण करता है। समस्त कार्यों में धर्म और अधर्म ही कारण हैं और कर्मफल के उपभोग के लिए ही एक देह से द्वितीय देह में जाना पड़ता है[2]। धर्म के महत्त्व के प्रदर्शन में पौराणिक कथन है कि जो पुरुष वर्णाश्रम धर्म का पालन करता है वही परम पुरुष विष्णु की आराधना कर सकता है, उन (विष्णु) को सन्तुष्ट करने का और कोई मार्ग नहीं है[3]। पुनः कलियुग में धर्म के माहात्म्य प्रतिपादन में कहा गया है कि इस युग में अल्पमात्र परिश्रम से ही महान् धर्म की प्राप्ति होती है[4]। अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र एवं ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास आदि प्रत्येक अवस्था में ऐहलौकिक और पारलौकिक उन्नति और सार्वत्रिक कल्याण की प्राप्ति के लिए धर्माचरण की

---

१. स० श० कौ० ५४९ और संस्कृति ३६९

२. सुखदुःखोपभोगौ तु तौ देहाद्युपपादकौ ।
धर्माधर्मोद्भवौ भोक्तुं जन्तुर्देहादिमृच्छति ॥ —२।१३।८१

३. वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान् ।
विष्णुराराध्यते पन्था नान्यस्तत्तोषकारकः ॥ —३।८।९

४. धर्मोत्कर्षमतीवात्र प्राप्नोति पुरुषः कलौ । अल्पायासेन धर्मज्ञाः ।
—६।२।१८

ही प्रयोजनीयता है। धर्माचरण के अभाव में किसी प्रकार का भी कल्याण संभव नहीं।

महाभारत में कथन है कि धारण करने से इसे धर्म कहा गया है। धर्म प्रजा को धारण करता है। जो धारण के साथ रहे वह धर्म है—यह निश्चय है[५]। स्मृति की घोषणा है कि श्रुति एवं स्मृति में प्रतिपादित धर्म का आचरण-कर्ता मनुष्य इस लोक में यश और परलोक में उत्तम सुख अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करता है[६]। गीता में धर्म की उपादेयता कर कहा गया है कि जब जब धर्म का ह्रास और अधर्म का उत्थान होता है तब तब भगवान् को धरातल पर अवतीर्ण होना पड़ता है। साधुओं की रक्षा, दुष्टों के नाश और धर्म की पुनः स्थापना—इन तीन कर्मों के लिए प्रत्येक युग में भगवान् को प्रकट होना पड़ता है[७]।

धर्म की महिमा के प्रकाशन में श्रुति की घोषणा है कि धर्म सम्पूर्ण संसार की प्रतिष्ठा—अर्थात् एकमात्र आश्रयभूत है, संसार में लोग उसी के निकट जाते हैं जो धर्मशील होता है। लोग धर्माचरण के द्वारा अपने कृत पाप को हटा देते हैं। धर्म पर सब कुछ आधारित है। अतः धर्म को सबसे श्रेष्ठ कहा गया है[८]। कल्याणरूप में धर्म की सृष्टि है, क्षत्रिय का क्षत्रियत्व धर्म ही है। अत एव धर्म से बड़ा दूसरा कुछ नहीं है। एक बलवान् अन्य बलवान् की प्रशंसा धर्म के ही द्वारा करता है, जैसे राजा प्रशंसा करता है[९]।

---

५. धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्मोधारयते प्रजाः ।
यत्स्याद्धारणसंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः ।। —कर्ण० ६९।५८

६. श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठन् हि मानवः ।
इह कीर्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमं सुखम् ।। —म० स्मृ० २।९

७. यदा यदा हि धर्मस्य ग्लनिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ।।
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे-युगे ।। —४।७-८

८. धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा, लोके धर्मिष्ठं प्रजा उपसर्पन्ति, धर्मेण पापमपनुदन्ति, धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितम् , तस्माद् धर्मं परमं वदन्ति ।
—तै० आ० १०।६३।७

९. तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत धर्मं, तदेतत् क्षत्रस्य क्षत्रं यद् धर्मस्तस्माद् धर्मात् परं नास्ति । अतो बलीयान् बलीयांसमाशंसते धर्मेण, यथा राज्ञैवम् ।
—बृ० उ० १।४।१४, श० ब्रा० १४।४।२।२६

वैष्णधर्म

सर्वप्रथम मैत्रेय के निखिल जगत् की उत्पत्ति एवं विश्व के उपादान कारण के सम्बन्ध में जिज्ञासा करने पर समाधान में महर्षि पराशर ने कहा था—"यह जगत् विष्णु से उत्पन्न हुआ है, उन्हीं में स्थित है, वे ही इसकी स्थिति और लय के कर्ता हैं तथा यह जगत् भी वे ही हैं[10]। एक ही भगवान् जनार्दन जगत् की सृष्टि, स्थिति और संहृति के लिए ब्रह्मा, विष्णु और शिव—इन तीन संज्ञाओं को धारण करते हैं। विष्णु स्रष्टा (ब्रह्मा) होकर अपनी ही सृष्टि करते हैं, पालक (विष्णु) होकर पाल्यरूप अपना ही पालन करते हैं और अन्त में संहारक (शिव) होकर स्वयं ही उपसंहृत (लीन) हो जाते हैं[11]। विष्णु, मनु आदि, काल और समस्त भूतगण—ये जगत् की स्थिति के कारणरूप भगवान् विष्णु की ही विभूतियाँ हैं[12]। देवगण भी निरन्तर यह गान किया करते हैं कि जिन्होंने स्वर्ग और अपवर्ग के मार्गभूत भारतवर्ष में जन्मग्रहण किया है तथा जो इस कर्मभूमि में जन्म ग्रहण कर फलाकांक्षा से रहित अपने कर्मों को परमात्मस्वरूप विष्णु में समर्पित करने से निर्मल होकर उन अनन्त (विष्णु) में ही लीन हो जाते हैं[13]। अन्य एक पौराणिक स्थल पर कथन है कि विष्णु के स्मरण से समस्त पापराशि के भस्म हो जाने से पुरुष मोक्षपद प्राप्त कर लेता है, स्वर्गलाभ की तो बात ही क्या ? वह (स्वर्गलाभ) तो उसके लिए विघ्नस्वरूप माना जाता है[14]। विष्णु का जो मूर्तरूप जल है उससे पर्वत और समुद्रादि के सहित कमलाकार पृथिवी उत्पन्न हुई। तारागण, त्रिभुवन, वन, पर्वत, दिशाएं, नदियाँ और समुद्र—ये समस्त भगवान् विष्णु ही हैं तथा और भी जो कुछ है अथवा नहीं है—वह सब एकमात्र वे ही हैं, क्योंकि भगवान् विष्णु ज्ञानस्वरूप हैं, अतएव वे सर्वमय हैं, परिच्छिन्न पदार्थाकार नहीं हैं। अत एव पर्वत, समुद्र और पृथिवी आदि भेदों को एकमात्र विज्ञान का ही विलास जानना चाहिए[15]।

---

१०. विष्णोः सकाशादुद्भूतं जगत्तत्रैव च स्थितम्।
स्थितिसंयमकर्तासौ जगतोऽस्य जगच्च सः॥ —१।१।३१

११. तु० क० १।२।६६–६७

१२. विष्णुर्मन्वादयः कालः सर्वभूतानि च द्विज।
स्थितेर्निमित्तभूतस्य विष्णोरेता विभूतयः॥ —१।२२।३२

१३. तु० क० २।३।२४–२५

१४. विष्णुसंस्मरणात्क्षीणसमस्तक्लेशसञ्चयः।
मुक्तिं प्रयाति स्वर्गाप्तिस्तस्य विघ्नोऽनुमीयते॥ —२।६।४०

१५. तु० क० २।१२।३७–३९

एक स्थल पर कथन है कि विष्णु की आराधना करने से मनुष्य भूमण्डल सम्बन्धी समस्त मनोरथ, स्वर्ग, स्वर्गनिवासियों के भी वन्दनीय ब्रह्मपद और परम निर्वाण पद भी प्राप्त कर लेता है। वह जिस-जिस फल की जितनी-जितनी इच्छा करता है—अल्प हो या अधिक—अच्युत की आराधना से निश्चय ही सब प्राप्त कर लेता है। यज्ञानुष्ठाता पुरुष उन (विष्णु) का ही यजन करता है, जापक उन्हीं का जप करता है और अन्यों का हिंसक उन्हीं की हिंसा करता है, क्योंकि भगवान् हरि सर्वभूतमय हैं[16]। एक प्रसंग पर ब्रह्मा ने देवगण से कहा था—'वास्तव में मैं, शङ्कर और आप सब लोग नारायणस्वरूप ही हैं[17]।

परब्रह्म और विष्णु में अभिन्नता के निर्देश में प्रतिपादन है कि यह सम्पूर्ण चराचर जगत् परब्रह्मस्वरूप विष्णु का, उनकी शक्ति से सम्पन्न 'विश्व' नामक रूप है[18]।

विष्णु का नाम ऋग्वेद में गौणरूप से आया है। कतिपय सूक्तों में ही इनकी स्तुति का विवरण मिलता है। ये विशाल एवं विस्तृत शरीरधारी एक प्रौढ नवयुवक के रूप में वर्णित हुए हैं। अपने तीन पगों के लिए विशेष प्रसिद्ध हैं जिससे इन्होंने त्रिभुवन को नाप कर अपने गौरवपूर्ण वीरकार्य की प्रतिष्ठा की थी। महाविक्रमशाली होने के कारण, 'उरुगाय' और 'उरुक्रम' इनकी उपाधि है[19]। संहिताकाल में विष्णु सर्वप्रथम एक साधारण देवता के रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। ऋग्वेद के कई स्थलों पर वे एक आदित्यमात्र समझे जाते हैं और दिन भर की यात्रा को केवल तीन पगों में ही पूर्ण कर देने के कारण आर्य लोग उन्हें महत्त्व देते तथा उनका यशोगान करते जान पड़ते हैं। इनके तीन पदों में से केवल प्रथम दो अर्थात् पृथ्वी और अन्तरिक्ष को ही मनुष्य दृष्टिगोचर कर सकते हैं। तृतीय तक कोई भी नहीं पहुँच पाता। पक्षी भी वहाँ नहीं पहुँच सकते। 'ब्राह्मणों' की रचना के समय तक विष्णु का नाम स्वयं यज्ञ के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है और वे यज्ञों की सफलता में बहुधा सहायक भी समझे गये हैं[20]।

---

१६. वही ३।८।६–१०

१७. वही ५।१।२९

१८. एतत्सर्वमिदं विश्वं जगदेतच्चराचरम्।
परब्रह्मस्वरूपस्य विष्णोश्शक्तिसमन्वितम्॥ —६।७।६०

१९. ऋ० वे० १।१५४।१–६

२०. वै० ध० १३

पुराण में काल, नारायण, भगवान् और वासुदेव आदि अनन्त अभिधान विष्णु के पर्याय के रूप में व्यवहृत हुए हैं। पुराण में प्रतिपादन मिलता है कि कालरूप भगवान् अनादि हैं। इस कालरूप का अन्त नहीं है अतएव संसार की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का व्यापार कभी नहीं रुकता है। प्रलय काल में प्रधान (प्रकृति) के साम्यावस्था में स्थित हो जाने पर और पुरुष के प्रकृति से पृथक् स्थित हो जाने पर विष्णु का कालरूप प्रवृत्त हो जाता है[२१]। सृष्टि आदि क्रियाव्यापारों में अव्यक्तस्वरूप भगवान् का तृतीय रूप 'काल' ही व्यक्त होता है तथा प्रथम, द्वितीय और चतुर्थ रूप क्रमशः ब्रह्मा, मरीचि आदि प्रजापति और सम्पूर्ण प्राणी हैं[२२]।

'नारायण' की विवृति में प्रतिपादन है कि वे भगवान् (नारायण) 'पर' हैं, अचिन्त्य हैं, ब्रह्मा, शिव, आदि ईश्वरों के भी ईश्वर हैं, ब्रह्मस्वरूप हैं, अनादि हैं और सब की उत्पत्ति के स्थान हैं। उन ब्रह्मस्वरूप नारायण के विषय में, जो इस जगत् की उत्पत्ति और लय के स्थान हैं, श्लोक कहते हैं—१।४।४-५। नर [अर्थात् पुरुष—भगवान् पुरुषोत्तम] से उत्पन्न होने के कारण जल को 'नार' कहा गया गया है; वह नार (जल) ही उनका प्रथम अयन (निवासस्थान) है। इस लिए भगवान् को 'नारायण' कहा है[२३]।

'भगवान्' शब्द को साक्षात् ब्रह्म के पर्याय के रूप में निष्पन्न किया गया है। यथा—यद्यपि ब्रह्म शब्द का विषय नहीं है तथापि उपासना के लिए उसका "भगवत्"शब्द से उपचारतः अभिधान किया गया है। समस्त कारणों के कारण, महाविभूतिसंज्ञक परब्रह्म के लिए ही "भगवत्" शब्द का प्रयोग हुआ है। इस शब्द में भकार के दो अर्थ हैं—(१) पोषणकर्ता और (२) सम्पूर्ण जगदाधार। गकार के अर्थ हैं—कर्मफलप्रापयिता, लयकर्ता और रचयिता। सम्पूर्ण ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य—इन छः का नाम 'भग' है। उस अखिल भूतात्मा में समस्त भूतगण निवास करते हैं और वह स्वयं भी समस्त भूतों में विराजमान है इस कारण वह अव्यय (परमात्मा) ही वकार का अर्थ है। इस प्रकार यह 'भगवान्' शब्द परब्रह्मस्वरूप वासुदेव का ही वाचक है, किसी अन्य का नहीं। पूज्य पदार्थों को सूचित करने के लक्षण से युक्त इस "भगवान्" शब्द का परमात्मा में मुख्य प्रयोग है तथा अन्यों के लिए गौण, क्योंकि

---

२१. तु० क० १।२।२६-२७

२२. तु० क० १।२२।२४-२५

२३. आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः।
अयनं तस्य ताः पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः॥ —१।४।६

जो समस्त प्राणियों के उत्पत्ति-नाश, गमनागमन तथा विद्या और अविद्या को जानता है वही "भगवान्" शब्दवाच्य है। त्यागयोग्य त्रिविध गुण आदि को छोड़कर ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य और तेज आदि सद्गुण ही 'भगवत्' शब्द के वाच्य हैं[२४]।

"वासुदेव" शब्द की व्युत्पत्ति दो प्रकार से सम्पन्न होती है। एक व्याकरण शास्त्रानुसारी और द्वितीय पौराणिक। व्याकरण के अनुसार "वसुदेव" शब्द के आगे अपत्य के अर्थ में "अण्" प्रत्यय के योग से 'वासुदेव' शब्द की सिद्धि होने पर इस का शब्दार्थ होता है—वसुदेव का पुत्र अर्थात् देवकीनन्दन कृष्ण और द्वितीय पौराणिक प्रतिपादन के अनुसार 'वासुदेव' विष्णु का पर्याय है। पौराणिक विवरण हैं कि उन परमात्मा में ही सम्पूर्ण भूत बसते हैं और वे स्वयं भी सब के आत्मरूप से सकल भूतों में विराजमान हैं इस कारण वे "वासुदेव" शब्द से अभिहित होते हैं[२५]।

पौराणिक विवरण के अनुसार कृष्ण और संकर्षण—ये दो नाम परमेश्वर के ही सगुण रूप के वाचक हैं, क्योंकि ब्रह्मा के द्वारा स्तुत होने पर भगवान् परमेश्वर ने अपने श्याम और श्वेत दो केश उखाड़े और देवगण से बोले—'मेरे ये दोनो केश पृथिवी पर अवतार लेकर पृथिवी के भारस्वरूप कष्ट को दूर करेंगे। वसुदेव की देवीतुल्या 'देवकी' नामक पत्नी के अष्टम गर्भ से मेरा यह (श्याम) केश अवतार लेगा और यह श्वेत शैल शिखर के समान वीर पुरुष गर्भ से आकर्षण किये जाने के कारण संसार में 'संकर्षण" नाम से प्रसिद्ध होगा[२६]। ये ही दोनों श्याम और श्वेत केश क्रमशः देवकी और रोहिणी के गर्भ से कृष्ण और संकर्षण (बलराम) के रूप में अवतीर्ण हुए।

वैदिक साहित्य में कृष्ण नामक एकाधिक व्यक्तियों का प्रसंग आया है। एक कृष्ण ऋग्वेद (८।८५।३) में एक सूक्त के ऋषि एवं रचयिता के रूप में आये हैं। परम्परा इनको अथवा कृष्ण के पुत्र—कार्ष्णि-'विश्वक' को पश्चात् के सूक्त के प्रणेता मानती है। कृष्णिय शब्द भी इसी नाम से निष्पन्न पैत्रिक नाम हो सकता है जो ऋग्वेद के अन्य दो सूक्तों में मिलता है। द्वितीय कृष्ण देवकीपुत्र की चर्चा छान्दोग्योपनिषद् (३।१७।६) में घोर आङ्गिरस के शिष्य के रूप में है। ग्रियर्सन, गार्बे, फॉन श्रेडर आदि आधुनिक परम्परा

---

२४. तु० क० ६।५।७१-७९

२५. सर्वाणि तत्र भूतानि वसन्ति परमात्मनि।
भूतेषु स च सर्वात्मा वासुदेवस्ततः स्मृतः॥ —६।५।८०

२६. तु० क० ५।१।५९, ६३ और ७५

के खोजी लेखक इन्हें ही महान् लोकनायक कृष्ण मानते हैं, किन्तु मैकडोनल और कीथ इस मन्तव्यता को निराधार समझते हैं[२७]। कहीं-कहीं घोर आङ्गिरस के शिष्य कृष्ण को ही अर्जुन के गीतोपदेष्टा कृष्ण के रूप में मन्तव्यता दी गयी है और इसके पुष्टीकरण में यह तर्क उपस्थित किया गया है कि घोर आङ्गिरस ने छान्दोग्योपनिषद् में कृष्ण (देवकीपुत्र) को जिस रूप में उपदेश दिये थे उन्हीं के भाव और शब्द अधिकांशतः गीता के उपदेश में साम्यरूप में आ गये हैं। कतियय उदाहरणों का उपस्थापन प्रासंगिक प्रतीत होता है। यथा---छा० उ० (३।१७।३) और गीता (९।२७), छा० उ० (३।१७।४) और गीता (१६।१–२), छा० उ० (३।१७।६) और गीता (७।५,१०–११) और छा० उ० (३।१७।७) और गीता (८।९)। इस प्रकार के भाव और शब्दसाम्य के कारण घोर आङ्गिरस के शिष्य को गीतोपदेष्टा कृष्ण के रूप में मन्तव्यता दी गयी है[२८]। किन्तु पौराणिक दृष्टि से विवेचन करने पर घोर आङ्गिरस के शिष्य को गीतोपदेष्टा की मन्तव्यता निराधार सिद्ध होती है, क्योंकि पुराण में देवकीपुत्र वासुदेव कृष्ण को काशी में उत्पन्न अवन्तीपुरवासी सान्दीपनि मुनि के शिष्य के रूप में निर्देशित किया गया है[२९]। भागवत महापुराण (१० ४५।३१) और महाभारत (सभा० ३८) में भी यह मत स्वीकृत हुआ है।

ऐसे दो विभिन्न विवरणों के आधार पर यह निष्कर्ष निकालना जटिल-सा हो जाता है कि वास्तव में कौन से कृष्ण गीता के उपदेष्टा थे—सान्दीपनि मुनि के शिष्य अथवा घोर आङ्गिरस के ? इस दिशा में उपनिषद् एवं गीताविषयक भाव और शब्दसाम्य को कारण मानकर घोर आङ्गिरस के शिष्य को गीतोपदेष्टा के रूप में स्वीकार कर लेना भी निराधार-सा लगता है, क्योंकि कृष्ण उपनयनसंस्कार के सम्पन्न हो जाने के अनन्तर ही सान्दीपनि मुनि के पास विद्याध्ययन के लिए चले गये थे और उस समय वासुदेव कृष्ण का वयःक्रम २२ वर्ष से अधिक कभी न रहा होगा, क्योंकि क्षत्रिय कुमार के उपनयन संस्कार की अन्तिम अवधि २२ वर्ष ही है[३०]। गुरुकुल में केवल ६४ दिन रह

---

२७. वै० इ० १।२०३–२०४

२८. वै० ध० २८–२९

२९. तु० क० ५।२१।१८–१९

३०. आषोडशादाद्वाविंशाच्चतुर्विंशाच्च वत्सरात्।
ब्रह्मक्षत्रविशां काल औपनायनिकः परः॥ —या० स्मृ० १।३७

कर कृष्ण ने सांगोपांग सम्पूर्ण विद्याएं सीख ली थीं[३१]। महाभारत, हरिवंश, मेगास्थनिज के लेख तथा प्रचलित परम्पराओं के आधार पर चिन्तामणि विनायक वैद्य सदृश अधिकारी विद्वान् के अनुमान के अनुसार महाभारत-संग्राम के समय कृष्ण की आयु ८४ वर्ष की थी—इसी समय कृष्ण ने अर्जुन को गीता का उपदेश किया था[३२]। यह भी मान लिया जाय कि यदि सान्दीपनि मुनि से विद्या पढ़ लेने के पश्चात् कृष्ण घोर आङ्गिरस के पास उपनिषद् की शिक्षा के लिए गये थे तो भी यह सम्भव नहीं प्रतीत होता कि जो उपदेश कृष्ण को २२ वर्ष, २ महीने और २ दिन की अवस्था के कुछ ही पश्चात् दिये गये थे, ८४ वर्ष की वयस में अर्थात् ६१-६२ वर्षों के व्यवधान के पश्चात् कृष्ण ने उन्हीं शब्दों और भावों में अर्जुन को उपदेश दिये होंगे। इन प्रसंगों से परिणाम यह निकलता है कि घोर आङ्गिरस के शिष्य कृष्ण नामक व्यक्ति कोई अन्य कृष्ण थे और देवकी नामक माता भी कोई अन्य ही देवकी रही होगी।

वैदिक साहित्य में 'काल' का प्रयोग विष्णु के पर्याय के रूप में प्रायः उपलब्ध नहीं होता है। "समय" के लिए सामान्य व्याहृति सर्वप्रथम ऋग्वेद में आती है। अथर्ववेद में 'काल' का समय के रूप में 'भाग्य' का आशय विकसित हो चुका था[३३]। उपनिषद में 'काल' शब्द का उल्लेख है। शंकराचार्य ने सम्पूर्ण भूतों की रूपान्तर प्राप्ति में जो हेतु है उसकी "काल" संज्ञा निर्दिष्ट की है[३४]। वैष्णवधर्म के उपास्यदेव का एक नाम "नारायण" है जो वैदिक साहित्य के अन्तर्गत अनेक स्थलों पर आया है। ऋग्वेद में एक प्रसंग पर कथन है—"आकाश, पृथ्वी और देवताओं के भी पूर्व वह गर्भाण्डरूपी वस्तु क्या थी जो सर्वप्रथम जल पर ठहरी थी और जिसमें सभी देवताओं का भी अस्तित्व था? जल के ऊपर वही गर्भाण्ड ठहरा हुआ था जिसमें सभी देवता वर्तमान थे और जो सभी कुछ का आधारस्वरूप है। वह विचित्र वस्तु अजन्मा की नाभि पर ठहरी हुई थी जिसके भीतर सभी विद्यमान थे। इस से ज्ञात होता है कि सब के प्रथम जल का ही अस्तित्व माना गया है जिस पर ब्रह्माण्ड की स्थिति निर्दिष्ट हुई है। यह ब्रह्माण्ड ही कदाचित् वह वस्तु है जिसे आगे चल कर जगत्स्रष्टा अथवा ब्रह्मदेव की उपाधि दी गयी और वह अजन्मा जिसकी नाभि पर वह गर्भाण्ड ठहरा था वही नारायण है[३५]। वैदिक साहित्य में

---

३१. तु० क० ८।२१।१८-२३

३२ वै० ध० ३१-३२

३३. वै० इ० १।१६८

३४. श्वे० उ० शा० भा० १।२

३५. वै० ध० १५

'वासुदेव' का नाम किसी संहिता, ब्राह्मण अथवा प्राचीन उपनिषद् के अन्तर्गत नहीं आता। यह एक स्थल पर केवल तैत्तिरीय आरण्यक के दशम प्रपाठक में पाया जाता है, जहाँ पर यह विष्णु के एक नाम के समान व्यवहृत हुआ है[३६]। डा० राजेन्द्रलाल मित्र का कहना है कि इस 'आरण्यक' की रचना बहुत पीछे हुई थी और इस में भी वह स्थल 'खिल रूप' वा 'परिशिष्टभाग' में आया है। डा० कीथ ने इस आरण्यक का समय ईसा के पूर्व तृतीय शताब्दी में निश्चित किया है जिस से उस काल तक वासुदेव तथा विष्णु एवं नारायण की एकता का सम्पन्न हो चुकना सिद्ध होता है[३७]।

पौण्ड्रक वासुदेव

वासुदेव कृष्ण के समकालीन पौण्ड्रक वंशीय एक वासुदेव नामक राजा था। अज्ञानमोहित प्रजावर्ग—'आप वासुदेवरूप से पृथ्वी पर अवतीर्ण हुए हैं'—ऐसा कह कर स्तुति किया करता था और उसने भी मूढता के वश अपने को वासुदेवरूप से पृथिवी पर अवतीर्ण समझकर विष्णु भगवान् के समस्त चिह्न धारण कर लिये। उसने महात्मा कृष्ण के पास सन्देश भेजा कि "हे मूढ, अपने वासुदेव नाम को छोड़ कर मेरे चक्र आदि सम्पूर्ण चिह्नों को त्याग दे और यदि तुझे जीवन की इच्छा है तो मेरी शरण में आ जा"। तत्पश्चात् भगवान् कृष्ण के साथ उसने संग्राम छेड़ दिया और भगवान् कृष्ण के चक्र से उस कृत्रिम वासुदेव की मृत्यु हुई[३८]।

अवतार

भारतीय संस्कृति जिन श्रुति-शास्त्रों पर आधारित, उनमें मूल तत्त्व सच्चिदानन्दस्वरूप द्विविध रूप माना गया है। एक रूप उसका निर्गुण, निराकार, मन तथा वाणी का अगोचर है। योगी अपनी यौगिकी साधना से निर्विकल्प समाधि में उसका साक्षात्कार करता है। ज्ञानी तत्त्वचिन्तन के द्वारा समस्त दृष्ट श्रुत पदार्थों से मन को पृथक् कर द्रष्टा के रूप से उसमें अवस्थित होता है, पर सर्वसाधारण उसके इस रूप की भावना नहीं कर सकते। जगत् का वह उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का अहेतु-हेतु दयाभाव से अथवा लीला के लिए अनेक भावमय नित्य आनन्दघन रूपों में नित्य लीला करता है। उसके इन सगुण, साकार, चिन्मय रूपों के ध्यान-स्मरण, नाम-जप लीला चिन्तन से

---

३६. नारायणाय विद्महे, वासुदेवाय धीमहि तन्नो विष्णुः प्रचोदयात्।
—वै० ध० २२

३७. वै० ध० २२

३८. तु० क० ५।३४।४-२४

मानव हृदय शुद्ध हो जाता है—मनुष्य इन रूपों में से किसी को नैष्ठिक रूप से हृदय में विराजमान कर संसार-सागर से पार हो जाता है। भगवान् का जो पर तत्त्व है उसे तो कोई भी नहीं जानता। भगवान् का रूप अवतारों में ही प्रकट होता है। उसकी देवगण पूजा करते हैं[३९]। परमात्मस्वरूप होने के कारण तो सभी पुरुष अवतार हैं, परन्तु जिसमें अधिक आत्मबल, अद्भुत भाव और दैवी सम्पत्ति होती है वही विशेषतः अवतार अथवा महात्मा पदवाच्य हो सकता है। प्रभु के दो रूप हैं—नित्य सर्वेश्वररूप तथा अवताररूप। सृष्टि, स्थिति और प्रलय के लिए ब्रह्मा, विष्णु और महेश रूपों से वे उपासित होते हैं। जगत् में धर्म की स्थापना, ज्ञान के संरक्षण, भक्तों के परित्राण तथा आततायी असुरों के दलन के लिए एवं प्रेमी भक्तों की उत्कण्ठा को पूर्ण करने के लिए प्रभु वार-वार अवतीर्ण होते हैं[४०]। उनके ये अवताररूप दिव्य सच्चिदानन्दघन हैं।

अवतार की संख्या

सत्त्वमूर्ति भगवान् के अवतारों की कोई संख्या नहीं है[४१]। भारत के आस्तिक सम्प्रदाय में भगवान् के चौबीस अवतारों की सामान्य प्रसिद्धि है। विष्णुपुराण में अवतारों के संख्याक्रम का निर्देश नहीं है। भागवत महापुराण (१।३।२-२५) के अनुसार अवतारों का संख्याक्रम निम्न प्रकार है। १—ब्रह्मा के मानसपुत्र सनकादि, २—सूकर, ३—नारद, ४—नरनारायण, ५ – कपिल, ६ – दत्तात्रेय, ७—यज्ञ, ८—ऋषभदेव, ९ पृथु, १०—मत्स्य, ११—कच्छप, १२—धन्वन्तरि, १३ —मोहिनी, १४—नरसिंह, १५—वामन, १६—परशु-राम, १७—व्यास, १८—दाशरथि राम, १९—संकर्षण वलराम, २०—कृष्ण, २१—बुद्ध, २२—कल्कि, २३—हंस और २४—हयग्रीव। २५—ध्रुवनारायण और २६—गजेन्द्ररक्षक। जैनपरम्परा के पद्मानन्द महाकाव्य (तीर्थंकर, श्लो० ६७–७६) में भी ऋषभ, अजित, संभव, अभिनन्दन, सुमति, पद्मप्रभा, सुपार्श्व, चन्द्रप्रभा, सुविधि या पुष्पदन्त, शीतल, श्रेयांस, वासुपूज्य, विमल, अनन्त, धर्म, शांति, कुंथु, अर, मल्लि, सुव्रत, नमि, नेमि, पार्श्व और महावीर — ये चौबीस धर्म के प्रवर्तक माने गये हैं। (लंकावतारसूत्र (पृ. २५१) में भागवत-पुराण के ही समान चौबीस बुद्धों का विवरण है।

---

३९. भवतो यत्परं तत्त्वं तन्न जानाति कश्चन।
अवतारेषु यद्रूपं तदर्चन्ति दिवौकसः॥ —१।४।१७

४०. पा० टी० ७

४१. अवतारा ह्यसंख्येया हरेः सत्त्वनिधेः। —भा० पु० १।३।२६

अवतार का रहस्य

सर्वप्रथम अवतार के रहस्य के सम्बन्ध में विवेचन कर लेना औचित्यपूर्ण है। भगवान् कृष्ण की यह घोषणा तो प्रायः अशेष गीतापाठकों को विदितप्राय है कि "साधुओं के त्राण एवं दुष्टों के दमन के लिए भगवान् इस धराधाम पर आते हैं" इस प्रसंग में निक्शोन नामक एक सत्समालोचक पाश्चात्यदेशी विद्वान् का—जिन्होंने भारतीय संस्कृति में आस्थावान् होने पर अपने को श्रीकृष्ण प्रेम नाम से घोषित किया—मत है कि यदि उपर्युक्त घोषणा को ऐतिहासिक सत्य मान लिया जाय तब तो इसकी चरितार्थता केवल द्वापर युग के ही लिए सिद्ध होती है क्योंकि द्वापर युग में ही कृष्णावतारी भगवान् ने साधुओं का त्राण एवं कंसादि दुराचारियों का संहार किया था, किन्तु जो व्यक्ति आज मुक्ति वा आत्मविजय के इच्छुक हैं उनके लिए यह भगवत्प्रतिज्ञा सम्यक् रूप से आश्वासन-प्रद नहीं होती है। इस पक्ष में यह भी विचारणीय हो जाता है कि यथार्थतः दुष्ट कौन हैं जो भगवान् के द्वार संहृत हो जाते हैं। प्रत्यक्षरूप से हम यही पाते हैं कि विवाद अथवा संग्राम के अवसर पर प्रत्येक पक्ष अपने को साधु किन्तु स्वेतर पक्ष को दुष्ट मानकर भगवान् से आत्मत्राण की कामना करता है तथा स्वविरोधी पक्ष के संहार की। कोई भी पक्ष अपने को दुष्ट एवं इतर पक्ष को साधु वा न्यायी मानने को प्रस्तुत नहीं होता है। फिर भी एक पक्ष की विजय और तदितर पक्ष की पराजय तो होती ही है। इससे यह सूचित होता है कि हमारी दुर्गति—पराजय हमारी अपनी ही अनवगत दुष्टता का परिणाम है। यदि हम यथार्थ साधु होते तो हमें सर्वथा सुरक्षित एवं विजेता होना चाहिये था। गंभीर चिन्तन के पश्चात् हमारी पराजय का कारण हमारे अन्तःकरण की मोहमाया ही प्रतीत होती है। वास्तव में हमारा कोई बाह्य शत्रु नहीं है। अतएव हम स्वयं अपने आपके शत्रु सिद्ध होते हैं[४२]।

जो हमें पीडित करने के लिए बाह्य शत्रु दृष्टिगत होते हैं वे मेरे स्वकृत कर्म ही हैं—बाह्य शत्रुओं के ही नाश से हमारी विपत्तियों में न्यूनता नहीं आ सकती। ये अत्याचारी शत्रु हमारे अन्तर काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य हैं—जो हमारी अपनी अज्ञानात्मक प्रवृत्ति है। ये ही हमारी विपत्तियों के प्रेरक हैं और ये वे ही दुष्ट हैं जिनका सर्वनाश होना सर्वथा विधेय है। किन्तु यह कैसे हो सकता है कि भगवान् का अवतार, उन षड्रिपुओं के नाश के लिए, जो हमारे हृदय में दृढ़ता से स्थापित हैं, केवल द्वापर युग में ही हुआ था अथवा किसी अन्य कालविशेष में भी।

---

४२. आत्मैव ह्यात्मनोबन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः (गीता० ६.५) ;;

अवतार के सम्बन्ध में यदि हमारा विचार यह है कि चिर अतीत काल में दैवीशक्तिसम्पन्न कोई वीर महापुरुष पृथिवी पर अवतीर्ण हुआ था और आश्चर्यजनक वीरतापूर्ण कार्य सम्पन्न कर वह अन्तर्हित हो गया तो इसमें कोई तथ्य नहीं है।

यथार्थतः अवतार की भावनाएं लाक्षणिक हैं। अवतारों का तात्पर्य यह था कि वे (अवतार) कामान्ध एवं मरणशील व्यक्तियों को उन अन्तःसत्यों की शिक्षा देने के लिए हुए थे जिन्हें वे अपनी एकमात्र दृष्टि से देखने में असमर्थ थे—वह परम तत्त्व एक है पर अनेक रूप धारण करता है: यह सम्पूर्ण विशाल विश्व उसी एक परम सत्य में व्याप्त है; सत् और असत् समस्त शक्तियाँ उसी से आविष्कृत होती हैं और अन्त में उसी एक में प्रतिनिवृत्त हो जाती हैं; वह समस्त प्राणियों की आत्मा ही है और जो उस आत्मरूप परम तत्त्व को प्राप्त कर लेता है उसे कोई भी लौकिक बन्धन बाँध नहीं सकते। इस सत्य को समझ लेना हमारे लिए कितना कठिन है ? हमारा मन जो केवल भौतिक—स्थूल पदार्थों में लीन है उस नग्न तत्त्व को ग्रहण करने में सर्वथा असमर्थ है। फिर भी हम उस का ध्यान तो कर सकते हैं, किन्तु निराधार होने के कारण उस दिशा में हम अल्प मात्रा में ही अग्रगति कर सकते हैं। यदि हम अपनी परम्परा के अनुसार भगवान् की लीलाओं के चिन्तन में अपने को प्रवृत्त करें तो हमारा कार्य कुछ सुगमतर हो सकता है। जब हम अनेक गोपियों के साथ एक ही कृष्ण को नाँचते देखते हैं और उनमें से प्रत्येक गोपी सोचती है कि उसके प्रभु केवल उसी के साथ हैं। कुरुक्षेत्र की समरभूमि में हम सम्पूर्ण विश्व को, अपने समस्त देवताओं के साथ अशेष मनुष्यों को तथा विश्व के सम्पूर्ण तत्त्वों को कृष्ण के शरीर के अन्तर्गत देखते हैं; कंस की मृत्यु के क्षण में उस मुक्तिप्राप्त (कंस) को कृष्ण में ही प्रत्यावर्तित देखते हैं; महाभारत के महासमर में भगवान् कृष्ण को कुशल नेता किन्तु शस्त्रहीन सारथि के रूप में देखते हैं और हम देखते हैं कि वसुदेव दिव्य शिशुरूप कृष्ण को अपनी भुजाओं में लेकर कारागार से निकल पड़ते हैं और कारागार का द्वार जो बन्द था, स्वयं खुल जाता है।

प्रेम और भक्ति के साथ इन लीलाओं पर विचार करने से साधक को अपने अन्तरस्थ तत्त्व का ज्ञान हृदयों में स्वयं उत्पन्न होने लगता है और वह सत्य जिसे समझने में हम असफल हो जाते हैं—दार्शनिक वर्णनों के अनुसार जो नीरसरूप है, वह भगवान् का अवचनीय रूप सरस होकर हमारे जीवन में समाविष्ट और व्याप्त हो जायगा।

यह इस कारण से होता है कि कृष्ण लीलाओं को नित्य माना गया है। यह नहीं कि श्रीकृष्ण मथुरा में दुष्ट कंस का निरन्तर संहार करते रहते हैं, किन्तु आध्यात्मिक रहस्य हमारे लाभ के लिए यह है कि ये लीलाएँ हमारे हृदयों में और संसार में आज उसी प्रकार व्याप्त हैं, जिस प्रकार आज से पाँच सहस्र वर्ष पहिले सम्पन्न हुई थीं।

अतीत की भाँति आज भी प्रजाएं दुष्ट नियामकों के द्वारा पीडित हैं, किन्तु वे (नियामक) कोई भौतिक राजा वा शासक नहीं हैं— वे हैं काम, क्रोध, लोभ और मोह आदि, जो संसार के यथार्थ नियामक वा शासक हैं तथा एतन्नामक शासक उनके हाथों में काष्ठपुत्तलिका रूप हैं। यह वे हैं, जो हमें अपने अन्याचार से पीडित करते हैं और शारीरिक कारागार में हमें सर्वथा अवरुद्ध किये हुए हैं। हमारे हृदयों के अन्धकार में भगवान् का जन्म होना है, नहीं तो हमारे लिए मुक्ति पाना कठिन है[४३]।

१ सनकादि—इस प्रथम सनकादि अवतार के सम्बन्ध में अपने पुराण में कोई विशिष्ट विवरण नहीं है। केवल प्रसंग मात्र के उल्लेख में कथन है कि सनकादि मुनिजन ब्रह्मभावना से युक्त हैं[४४]। भागवत पुराण में प्रतिपादन है कि उन्हीं (ब्रह्मा) ने प्रथम कौमार सर्ग में सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार—इन चार ब्राह्मणरूपों में अवतार ग्रहण कर अत्यन्त कठिन और अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन किया[४५]।

२ वराह—इस अवतार के प्रसंग में कथन है कि सम्पूर्ण जगत् जलमय हो रहा था। अतएव प्रजापति ब्रह्मा ने अनुमान से पृथिवी को जल के भीतर जान उसे बाहर निकालने की इच्छा से एक अन्य शरीर धारण किया। उन्होंने पूर्व कल्पों के आदि में जैसे मत्स्य, कूर्म आदि रूप धारण किये थे वैसे ही इस वाराह कल्प के आरम्भ में देवयज्ञमय वाराह शरीर धारण किया। फिर विकसित कमल के समान नेत्रोंवाले उन महावराह ने अपनी डाढ़ों से पृथिवी को उठा लिया और कमलदल के समान श्याम तथा नीलाचल के सदृश विशालकाय भगवान् रसातल से बाहर निकले। स्तुति की जाने पर पृथिवी-धारी परमात्मा वराह ने उसे शीघ्र ही उठा कर अपार जल के ऊपर स्थापित

---

४३. स० फॉ० ट्रु० १५-१८

४४. सनन्दनादयो ये तु ब्रह्मभावनया युतः। —६ ७।५०

४५. स एव प्रथमं देवः कौमारं सर्गमास्थितः।
चचार दुश्चरं ब्रह्मा ब्रह्मचर्यमखण्डितम्॥ —१।३।६

कर दिया[४६]। भागवतपुराण का भी सूकरावतार के सम्बन्ध में ऐसा ही प्रतिपादन है[४७]।

३ नारद—इस नारदावतार के सम्बन्ध में अपना पुराण एकान्त मौन है। भागवत पुराण में नारदावतार के विषय कुछ विवरण में कथन है कि ऋषियों की सृष्टि में उन्होंने देवर्षि नारद के रूप में तृतीय अवतार ग्रहण किया और सात्वत तन्त्र (नारद पाञ्चरात्र) का उपदेश किया। उसमें कर्मों के द्वारा किस प्रकार कर्मबन्धन से मुक्ति मिलती है, इसका वर्णन है[४८]।

४ नरनारायण—इस अवतार के सम्बन्ध में अपने पुराण में लीलाचरित्र का कोई चित्रण नहीं है। नरनारायण भगवान् के केवल स्थान का उल्लेख मिलता है[४९]। भागवत पुराण में कथन है कि धर्मपत्नी मूर्ति के गर्भ से भगवान् ने चतुर्थ अवतार ग्रहण किया। इस अवतार में उन्होंने ऋषि बन कर तथा मन और इन्द्रियों का सर्वथा संयमन कर अत्यन्त कठिन तप किया[५०]।

५ कपिल—कपिलावतार के सम्बन्ध में अपना पौराणिक प्रतिपादन है कि कपिलमुनि सर्वमय भगवान् विष्णु के ही अंश हैं। संसार का मोह दूर करने के लिए ही इन्होंने पृथिवी पर अवतार ग्रहण किया है[५१]। भागवत पुराण का कथन है कि पञ्चम अवतार में भगवान् सिद्धों के स्वामी कपिल के रूप में प्रकट हुए और तत्त्वनिर्णयी सांख्यशास्त्र का उपदेश आसुरिनामक ब्राह्मण को दिया[५२]।

६ दत्तात्रेय—ज्ञान परम्परा के इस अवतार के सम्बन्ध में इतना ही उल्लेखन है कि सहस्रार्जुन ने अत्रिकुल में उत्पन्न भगवदंश रूप श्रीदत्तात्रेय की उपासना कर वर मांगे[५३]। भागवत पुराण में विवरण है कि अनुसूया के वर मांगने पर षष्ठ अवतार में भगवान् अत्रि की सन्तानरूप दत्तात्रेय

---

४६. तु० क० १।४।७-८, २६ और ४५

४७. भा० पु० १।३।७

४८. वही १।३।८

४९. तु० क० ५।२४।५ और ५।३७।३४

५०. भा० पु० १।३।९

५१. कपिलर्षिर्भगवतः सर्वभूतस्य वै यतः।
    विष्णोरंशो जगन्मोहनाशायोर्वीमुपागतः॥ —२।१४।९

५२. भा० पु० १।३।१०

५३. तु० क० ४।११।१२

हुए। इस अवतार में उन्होंने अलर्क एवं प्रह्लाद आदि को ब्रह्मज्ञान का उपदेश किया[५४]।

७ यज्ञ—इस यज्ञावतार के सम्बन्ध में कथन है कि भगवान् ही यज्ञ-पुरुष हैं। भगवान् के चरणों में चारों वेद हैं, दाँतों में यज्ञ हैं, मुख में चितियाँ (श्येन, चित आदि) हैं। हुताशन (यज्ञाग्नि) उनकी जिह्वा है तथा रोमावलि कुश है[५५]। भागवत में कथन है कि सप्तम बार रुचिप्रजापति की आकूति नामक पत्नी से यज्ञ के रूप में भगवान् ने अवतार ग्रहण किया और अपने पुत्र याम आदि देवताओं के साथ स्वायंभुव मन्वन्तर की रक्षा की[५६]।

८ ऋषभदेव—ऋषभदेव के प्रसंग में विवृति है कि हिमवर्ष के अधिपति महात्मा नाभि के मेरुदेवी से अतिशय कान्तिमान् ऋषभदेव नामक पुत्र का जन्म हुआ। वे धर्मपूर्वक राजशासन तथा विविध यज्ञों का अनुष्ठान करने के पश्चात् अपने वीर पुत्र भरत को राज्याधिकार सौंप कर तपश्चरण के लिए पुलहाश्रम को चले गये। वहाँ तपश्चरण के कारण अत्यन्त कृश हो गये। अन्त में अपने मुख में पत्थर की एक वटिया रख कर नग्नावस्था में उन्होंने महाप्रस्थान किया[५७]। इस साधारण विवरण से यह स्पष्टीकरण नहीं होता कि ऋषभदेव अन्य अवतारिक पुरुषों के समान विशिष्ट अथवा अलौकिक शक्ति-सम्पन्न थे, किन्तु भागवतपुराण में यह वर्णन अवश्य है कि ऋषभदेव के रूप में भगवान् ने अष्टम अवतार ग्रहण किया[५८]।

९ पृथु—पौराणिक प्रतिपादन के अनुसार पृथु के जन्म होते ही आजगव नामक आद्य शिवधनु और दिव्य बाण तथा कवच आकाश से गिरे उनके दाहिने हाथ में चक्र का चिह्न देख कर उन्हें विष्णु का अंश जान ब्रह्मा को परम आनन्द हुआ[५९]। भागवत पुराण में भी पृथु के विषय में यही विवरण उपलब्ध होता है[६०]।

---

५४. १।३।११

५५. पादेषु वेदास्तव यूपदंष्ट्र दन्तेषु यज्ञाश्चितयश्च वक्त्रे।
हुताशजिह्वोऽसि तनूरुहाणि दर्भाः प्रभो यज्ञपुमांस्त्वमेव ॥
—१।४।३२

५६. १।३।१२

५७. तु० क० २।१।२७-३१

५८. १।३।१३

५९. तु० क० १।१३।४०-४५

६०. ४।१५।९-१०

१० मत्स्य—मत्स्य के सम्बन्ध में पुराण में संक्षिप्त कथन है कि भक्त प्रतिपालक गोविन्द कुरुवर्ष में मत्स्य के रूप से निवास करते हैं और वे सर्वमय सर्वगामी हरि विश्वरूप से सर्वत्र ही विद्यमान रहते हैं[६१]। भागवत पुराण में कुछ विस्तृत रूपसे कथन मिलता है कि चाक्षुषमन्वन्तर के अन्त में जब सम्पूर्ण त्रिलोकी डूब रही थी तब भगवान् ने मत्स्य के रूप में दशम अवतार ग्रहण किया और पृथ्वीरूप नौका पर बैठकर आगामी मन्वन्तर के अधिपति वैवस्वत मनु की रक्षा की[६२]।

११ कूर्म—स्पष्ट कथन है कि पूर्व कल्पों के आदि में प्रजापति ने कूर्म आदि रूप धारण किये थे[६३]। भगवान् स्वयं कूर्म रूप धारण कर क्षीर सागर में घूमते हुए मन्दराचल के आधार बने[६४]। अन्य विवरण यह है कि भारत वर्ष में विष्णु भगवान् कूर्म रूप से निवास करते हैं[६५]। भागवतपुराण में एतद्रूप ही वर्णन है[६६]।

१२ धन्वन्तरि—धन्वन्तरि के विषय में कहा गया है कि श्वेत वस्त्रधारी साक्षात् भगवान् धन्वन्तरि अमृत से परिपूर्ण कमण्डलु धारण किये प्रकटित हुए[६७]। इस अवतार के विषय में भागवत पुराण का भी यही मत है[६८]।

१३ मोहिनी—इस अवतार के प्रसंग में अपने पुराण में कथन है कि भगवान् विष्णु ने स्त्रीरूप धारण कर अपनी माया से दानवों को मोहित कर उन से वह कमंडलु (अमृतमय) लेकर देवताओं को दे दिया[६९]।

१४ नरसिंह—मैत्रेय के प्रति पराशर की उक्ति है कि दैत्यराज हिरण्यकशिपु का वध करने के लिए सम्पूर्ण लोकों की उत्पत्ति, स्थिति और नाश

---

६१. मत्स्यरूपश्च गोविन्दः कुरुष्वास्ते जनार्दनः ।
विश्वरूपेण सर्वत्र सर्वः सर्वत्रगो हरिः ॥ —२।२।५१

६२. १।३।१५

६३. १।४।८

६४. क्षीरोदमध्ये भगवान्कूर्मरूपी स्वयं हरिः ।
मन्थनाद्रेरधिष्ठानं भ्रमतोऽभून्महामुने ॥ —१।९।८८

६५. वही २।२।५०

६६. १।३।१६

६७. १।९।९८

६८. १।३।१७

६९. १।९।१०९

करने वाले भगवान् ने शरीर ग्रहण करते समय नृसिंहरूप प्रकट किया था[७०]।

१५ वामन—वामनावतार के प्रसंग में पुराण में कहा गया है कि इस वैवस्वत मन्वन्तर के प्राप्त होने पर भगवान् विष्णु कश्यप के द्वारा अदिति के गर्भ से वामन रूप ग्रहण कर प्रकट हुए और उन महात्मा वामन ने अपनी तीन डगों से सम्पूर्ण लोकों को जीत कर यह निष्कण्टक त्रिलोकी इन्द्र को दे दी थी[७१]।

१६ परशुराम—इस अवतार के विषय में कथन है कि सहस्राजुर्न के पचासी सहस्र वर्ष व्यतीत हो जाने पर भगवान् नारायण के अंशावतार परशुराम ने उसका वध किया[७२]। भागवत पुराण का विवरण है कि भगवान् के षोडश अवतारधारी परशुराम ने जब देखा कि राजा लोग ब्राह्मणद्रोही हो गये हैं तब क्रोधित होकर उन्होंने पृथ्वी को इक्कीस बार क्षत्रियों से शून्य कर दिया[७३]।

१७ व्यास या वेदव्यास—पराशर मुनि का प्रतिपादन है कि प्रत्येक द्वापर युग में भगवान् विष्णु व्यासरूप से अवतीर्ण होते हैं और संसार के कल्याण के लिए एक वेद के अनेक भेद करते हैं। जिस शरीर के द्वारा वे (प्रभु) एक वेद के अनेक विभाग करते हैं, भगवान् मधुसूदन की उस मूर्ति का नाम वेदव्यास है[७४]।

१८ दाशरथि राम—इस अवतार के प्रसंग में कथन है कि भगवान् पद्मनाभ जगत की स्थिति के लिए अपने अंशों से राम आदि चार रूपों में राजा दशरथ के पुत्रभाव को प्राप्त हुए[७५]।

१९ संकर्षण बलराम—पुराण में योगनिद्रा के प्रति साक्षात् भगवान् का वचन है कि शेष नामक मेरा अंश अपने अंशांश से देवकी के सप्तम गर्भ में स्थित होगा और वहाँ से संकर्षित होकर वसुदेव की दूसरी पत्नी रोहिणी के उदर से श्वेत शैलशिखर के समान उत्पन्न होकर "संकर्षण" नाम से प्रसिद्ध होगा[७६]!

---

७०. दैत्येश्वरस्य वधायाखिललोकोत्पत्तिस्थितिविनाशकारिणा पूर्वं तनुग्रहणं कुर्वता नृसिंहरूपमाविष्कृतम्। —४।१५।४

७१. ३।१।४२-४३

७२. वही ४।११।२०

७३. १।३।२०

७४. तु० क० ३।३।५-७

७५. वही ४।४।८७

७६. वही ५।१।७२-७५

कृष्ण—कृष्णावतार के सम्बन्ध में अपने पुराण में कहा गया है कि स्तव के समाप्त हो जाने के पश्चात् भगवान् परमेश्वर ने अपने श्याम और श्वेत दो केश उखाड़े और देवगणों से बोले—"मेरे ये दोनों केश पृथिवी पर अवतीर्ण होकर पृथ्वी के भारस्वरूप कष्ट को दूर करेंगे—वसुदेव की देवकी नामक पत्नी के अष्टम गर्भ से मेरा यह श्याम केश अवतार ग्रहण करेगा और कालनेमि के अवतार कंस का वध करेगा"[७७] तदनन्तर सम्पूर्ण संसाररूप कमल को विकसित करने के लिए देवकीरूप पूर्व संध्या में महात्मा अच्युतरूप सूर्यदेव का आविर्भाव हुआ[७८]। इस अवतार के विषय में भागवत पुराण की घोषणा है कि भगवान् के अन्यान्य अवतार अंशावतार हैं, पर कृष्ण तो साक्षात् पूर्ण परमात्मा ही हैं[७९]।

भागवत पुराण में प्रतिपादन है कि निविडतम अन्धकारपूर्ण निशीथ काल में—जब सारी जनता अपार संकट झेल रही थी—समस्त हृदयों के निवासी विष्णु ने दिव्य देवकी के गर्भ से अपने को अपनी पूर्ण महिमा में आविष्कृत किया था—अपनी पूर्ण महिमा अर्थात् सम्पूर्ण कला में जिस प्रकार पूर्व दिशा में कुमुदबान्धव उदित होता है[८०]।

भगवान् कृष्ण की जन्मकथा का वृत्तान्त प्रायः सर्वविदित है और इस लिए इसका ऐतिहासिक तथ्य भी अधिकांश जनता को विदित है। किन्तु इसका आन्तरिक रहस्य क्या है? इस सम्बन्ध में हमें कितना ज्ञान है? यही विवेचनीय है। पौराणिक वाङ्मय में बहुधा प्रतिपादन है कि जो कृष्ण के जन्मरहस्य को तत्त्वतः जानता है वह मुक्ति पा लेता है—साक्षात् परमात्मा को उपलब्ध कर लेता है। अब इस अवस्था में यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उपस्थित हो जाता है कि वह कौन-सा ज्ञान है जो इतना महान् फलप्रद है? उस ज्ञान की उपलब्धि कैसे हो सकती है? ऐतिहासिक ज्ञान कितना भी अधिक क्यों न प्राप्त कर लिया जाय किन्तु केवल ऐतिहासिक ज्ञान से मुक्ति नहीं मिल सकती।

---

७७. तु० क० ५।१।५९-६४

७८. ततोऽखिलजगत्पद्मबोधायाच्युतभानुना।
देवकीपूर्वसन्ध्यायामाविर्भूतं महात्मना॥ —५।३।२

७९. एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्। —१।३।२८

८०. निशीथे तम उद्भूते जायमाने जनार्दने।
देवक्यां देवरूपिण्यां विष्णुः सर्वगुहाशयः।
आविरासीद् यथा प्राच्यां दिशीन्दुरिव पुष्कलः॥ —१०।३।८

इस दिशा में श्रीकृष्ण प्रेम का भारतीय वाङ्मय पर आधारित अपना आलोचनात्मक मत है कि भागवत पुराण में भगवान् कृष्ण के, जन्म को गुह्य प्रतिपादित करते हुए कहा गया है कि हमारे हृदय-सम्राट् के, जो अकर्मा होकर भी कर्मकर्ता और अजन्मा होकर भी जन्मग्रहीता हैं--कर्म और जन्मरहस्य को ज्ञानियों ने परम गुह्य प्रतिपादित किया है :—

> एवं जन्मानि कर्माणि ह्यकर्तुरजनस्य च ।
> वर्णयन्ति स्म कवयो वेदगुह्यानि हृत्पतेः ॥

इतिहास से हमें इतना ही उत्तर मिल सकता है कि जो जन्मग्रहण करता है उसकी मृत्यु ध्रुव है किन्तु इतिहास यह बताने में सर्वथा असमर्थ है कि अजन्मा का जन्म होता है । इस रहस्यमय समाधान के लिए हमें दूसरी दिशा का अवलम्बन करना होगा ।

इस दिशा में विचारणीय यह है कि वसुदेव और देवकी कौन थे जहाँ श्रीकृष्ण आविर्भूत हुए थे ? साक्षात् भागवत पुराण से इसका समाधान प्राप्त कर सकते हैं ।

जिसे हम 'वसुदेव' शब्द से अभिहित करते हैं जो शुद्ध सत्त्वरूप है जिसमें भगवान् अनावृत रूप से प्रकट होते हैं :—

> सत्त्वं विशुद्धं वसुदेवशब्दितं यदीयते तत्र पुमानपावृतः ।

श्रीधरस्वामी ने टीका में सत्त्व का शब्दार्थ सत्त्वगुण अन्तःकरण (मन) किया है। और देवकी कौन है ? उसके विशेषण से ही जाना जा सकता है देवरूपिणी—सर्वदेवमयी देवकी दैवी प्रकृति है और जो महात्माओं की आश्रयीभूता है "दैवीं प्रकृतिमाश्रिता" (गीता ९।१३) । शुद्ध—निर्मल चेतना का प्रकाश जो गङ्गा के समान भगवान् के चरणों से प्रवाहित होता है और जिसमें साक्षात् भगवान् प्रकट होते हैं—तब, जब अन्तःकरण शुद्ध और सात्त्विक होता है ।

जब हमारे हृदयों में ज्ञान का उदय होगा—भगवान् कृष्ण का जन्म होगा तब हमारे काम आदि बन्धन की शृङ्खलाएँ शिथिल हो जायँगी, कारागर की अर्गला— सिटकिनी खुल जायगी और परम आश्चर्यमयी आध्यात्मिक लीलाओं का अभिनय होने लगेगा ।

इस प्रकार यदि ऐतिहासिक लीला की कल्पना नहीं होती तो हमारी आंखें नित्य लीला के प्रकाश की ओर नहीं जातीं और हम मानवरूपधारी उन्हें परमात्मरूप नहीं जानते । यह तो निश्चित है कि जिसे शास्त्रों ने "अवाङ्मनसगोचर" घोषित किया है उस नित्य परमात्मतत्त्व को हम सीधे प्राप्त करने में असमर्थ हैं, जब तक वह स्वयं हमारे हृदय में प्रादुर्भूत नहीं हो जाता है

और यह भी उसी प्रकार निश्चित है कि उसके ज्ञान के अभाव में हम अपने मोह-बन्धन से मुक्त नहीं हो सकते हैं :—

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् । (गीता ९।११) ।

उसे ही जान कर पुरुष मृत्यु को पार करता है, इसके अतिरिक्त परमपद-प्राप्ति का कोई और मार्ग नहीं है :—

तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय (श्वे० उ० ३।८)।।

जिसमें कर्तृत्वव्यापार का अभाव है उसके कृत वा क्रियमाण कार्य को एवं अजन्मा के जन्म को हम कैसे समझ सकते हैं इसका समाधान हमें भागवत पुराण से ही प्राप्त हो जाता है। यथा उस सृष्टिकर्ता सर्वशक्तिमान् चक्रधारी भगवान् का स्वभाव केवल वही जान सकता है जो अपनी निष्कपट और निरन्तर भक्ति से उनके चरणकमल की गन्ध के घ्राण के द्वारा उनकी सेवा करता है :—

स वेद धातुः पदवीं परस्य दुरन्तवीर्यस्य रथाङ्गपाणेः ।
यो मायया सन्ततयाऽनुवृत्त्या यजेत तत्पादसरोजगन्धम् ।।

भक्ति के प्रेमा-अभ्यास से हमारे हृदय पवित्र हो जायेंगे और उन पवित्री-भूत हृदयों में परमात्मा उत्पन्न होंगे। वे अजन्मा होकर भी हमारे हृदयों में पहले से हैं, किन्तु हम मोहवश उन्हें देख नहीं सकते हैं। इसी कारण वे नवीन जन्म ग्रहण करते हैं—जब हमारे हृदयों में ज्ञान का उदय हो जाता है और तब उन अकर्ता का कृत वा क्रियमाण कार्य हम देखेंगे, यद्यपि वह कुछ भी कर्मव्यापार नहीं करता है। उसकी उपस्थिति से ही हमारे शत्रु मर जायेंगे और तब उनकी प्रतिज्ञा को हम समझ सकेंगे। उनकी प्रतिज्ञा है :—'साधुओं की रक्षा—मुक्ति और दुष्टों के संहार तथा धर्म की स्थापना के लिए मैं प्रत्येक युग में अवतीर्ण होता हूँ :—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ।। (गीता ४।८)
संस्थापनाय धर्मस्य प्रशमायेतरस्य च ।
अवतीर्णो हि भगवानंशेन जगदीश्वरः ।। (भा० पु० १०।३३।२७)

और तब अन्त में उनके वचन सत्य होंगे :—

अपने शरीर को त्यागने के पश्चात् जीव पुनर्जन्म-ग्रहण नहीं करता किन्तु मुझ में ही मिल जाता है :—

त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन[81] ।। (गीता ४।९).

---

८१. स० फॉ० द्र० १४–१९

२० बुद्ध—इस अवतार के सम्बन्ध में अपना पुराण एकान्त मौन है, किन्तु भागवत पुराण में इस प्रसंग में कथन है कि कलियुग का आगमन हो जाने पर कीकट (मगध) देश में देवद्वेषी दैत्यों को मोहित करने के लिए अजन (जिन) के पुत्र के रूप में बुद्धावतार होगा[८२]।

२१ कल्कि—मैत्रेय के प्रति पराशर मुनिका प्रतिपादन है कि श्रौत और स्मार्त धर्म का अत्यन्त ह्रास हो जाने तथा कलियुग के व्यतीतप्राय हो जाने पर शम्वल (सम्भल) ग्रामनिवासी ब्राह्मणश्रेष्ठ 'विष्णुयशा' के घर सम्पूर्ण संसार के रचयिता, चराचरगुरु, आदिमध्यान्तशून्य, ब्रह्ममय, आत्म स्वरूप भगवान् वासुदेव अपने अंश से अष्टैश्वर्ययुक्त "कल्कि" रूप से संसार में अवतार लेकर असीम शक्ति और माहात्म्य से सम्पन्न हो सकल म्लेच्छ, दस्यु, दुष्टाचारी तथा दुष्टचित्तों का क्षय करेंगे और समस्त प्रजा को अपने अपने धर्म में नियुक्त करेंगे[८३]!

२२ हयग्रीव—इस अयतार के विषय में संक्षिप्त उल्लेख है कि विष्णु भगवान् भद्राश्ववर्ष में हयग्रीव रूप से रहते हैं[८४]।

२३ हंस—इस अवतार के सम्बन्ध में कोई चर्चा नहीं। भागवत पुराण में भी संकेत मात्र है[८५]।

२४ ध्रुवनारायण—चौवीस अवतारों के अतिरिक्त पचीसवें अवतार ध्रुवनारायण का भी पुराण में प्रसंग आया है—सर्वात्मा भगवान् हरि ने ध्रुव की तन्मयता से प्रसन्न होकर तथा चतुर्भुज रूप से उसके निकट जाकर कहा—"हे उत्तानपाद के पुत्र ध्रुव, मैं तेरी तपस्या से प्रसन्न होकर तुझे वर देने के लिए प्रकट हुआ हूँ"[८६]!

गजेन्द्र रक्षक—अपने पुराण में इस अवतार का प्रसंग नहीं मिलता है।

उपर्युक्त अवतारों में भगवान् के दश अवतार अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। यथा—(१) मत्स्य, (२) कूर्म, (३) वराह, (४) नरसिंह, (५) वामन,

---

८२. १।३।२४

८३. तु० क० ४।२४।९८

८४ वही २।२।५०

८५. १०।२।४०

८६. तु० क० १।१२।४१-४२

(६) परशुराम, (७) दाशरथि राम, (८) संकर्षण राम, (९) बुद्ध और (१०) कल्कि[८७]।

अवतारवाद का सूत्रपात सर्वप्रथम ब्राह्मणसाहित्य की रचना के समय हुआ। 'शतपथब्राह्मण' में प्रजापति का कूर्मरूप धारण कर अपनी सन्तानों की सृष्टि करने तथा वराह बन कर समुद्र के भीतर से पृथ्वी को बाहर लाने के विषय में वर्णन किया गया है। विष्णु के वामन होकर देवताओं के लिए तीन पगों द्वारा असुरों से पृथ्वी प्राप्त कर लेने की भी चर्चा "ब्राह्मणों" में की गई है[८८]। वामनावतार की चर्चा ऋग्वेद में उपलब्ध होती है। यथा— विष्णु ने इस सम्पूर्ण दृश्यमान ब्रह्माण्ड को नापा। तीन प्रकार से पद रखा। इन के पद में सम्पूर्ण विश्व समाविष्ट हो गया। वामनमूर्तिधारी विष्णु ने इस जगत् की परिक्रमा की थी। उन्होंने तीन प्रकार से पदनिक्षेप किया था और उनके धूलियुक्त पद में जगत् छिप सा गया था[८९]। वेद के एक अन्य प्रसंग पर कथन है कि उरुक्रम (त्रिविक्रम) विष्णु हमारे लिए सुखकर हों[९०]। इसी प्रकार नृसिंह का उल्लेख सर्वप्रथम "तैत्तिरीय आरण्यक" में किया गया मिलता है। परन्तु इन ग्रन्थों में आये हुए प्रसंगों के द्वारा यह स्पष्टीकरण नहीं होता कि उनका प्रयोग विष्णु के अवतारों के रूप में किया गया है। इस प्रकार प्रथम उल्लेख "नारायणीय" में ही किये गये ज्ञात होते हैं और आगे चल कर इनकी चर्चा भिन्न भिन्न ग्रंथों तथा शिलालेखों में भी होने लगती है! तोरमाण के एरण शिलालेख में वाराहावतार का स्पष्ट प्रसंग आता है। उसी प्रकार जूनागढ़ के शिलालेख में वामनावतार का वर्णन किया जाता है। रामावतार का उल्लेख गुप्तकालीन शिलालेखों में नहीं पाया जाता किन्तु महाकवि कालिदास ने अपने प्रसिद्ध महाकाव्य रघुवंश में रामावतार की स्पष्ट चर्चा की है[९१]। अवतारवाद का विषय, इस प्रकार, वैदिक संहिताओं में अज्ञात–सा ही था और उनमें किये गये वामन आदि विषयक उल्लेख नितान्त भिन्न प्रसंगों में आये थे। किन्तु विष्णु की महत्त्ववृद्धि के साथ

---

८७. मत्स्यः कूर्मो वराहश्च नरसिंहोऽथवामनः।
रामो रामश्च रामश्च बुद्धः कल्किश्च ते दश॥
—श० क० भाग १।१२४

८८. वै० ध० ५४

८९. इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्। समूढमस्य पांसुरे॥
—ऋ० वे० १।२२।१७

९० शंनो विष्णुरुरुक्रमः। वही —१।९०।९

९१. र० वं० १३।१

ही उनके स्वरूप में महान् परिवर्त्तन हो गया और उनकी संख्या भी बढ़ गई[९२]।

सृष्टि और अवतार विज्ञान

मत्स्यावतार—जगत की सृष्टि एवं विविध अवतारों के विषय में आधुनिक विज्ञान परम्परा की घोषणा है कि सृष्टिक्रम में आरंभ काल से ही प्रकृति के अनुसार परिवर्त्तनमय विकास होता आया है। मत्स्यावतार के सम्बन्ध में जीवविज्ञानशास्त्रियों का मत है कि आरंभ में यह सम्पूर्ण विश्व जलाकार था। अतः सर्वप्रथम एकमात्र जलजन्तु मत्स्यरूप आद्य नैसर्गिक प्राणी की सृष्टि हुई। मत्स्यावतार इसी आद्य प्राणी का प्रतीक है।

कूर्मावतार—क्रमशः जलाकार विश्व में परिवर्त्तन होने लगा और उस में पार्थिव अंश का निर्माण हुआ। तदनुसार मत्स्यसदृश एकमात्र जलचर प्राणियों में विकासमय परिणमन होने पर जल और स्थल—उभयचारी अन्य कूर्मादि प्राणियों की सृष्टि हुई जिनका प्रतीक कूर्मावतार हुआ।

वराहावतार—अब जल और स्थल अर्थात् उभयाकार विश्वका कतिपय अंशों से सम्यक् स्थल के रूप में परिणमन हुआ और उभयचारी कूर्म से विकसित रूप स्थलचारी वराह अर्थात् सूकर सदृश पशुप्राणियों के रूप में विकास हुआ जिनका प्रतीक वराहावतार है।

नृसिंहावतार—इसके अनन्तर क्रमिक विकास के साथ सूकरादि पशुप्राणियों की अपेक्षा विकसित रूप अर्धपशु एवं अर्ध मनुष्यरूप वानरादि प्राणियों की सृष्टि हुई जिनका प्रतीक नृसिंह या हयग्रीवावतार है।

वामनावतार—इसके पश्चात् अर्धपशु एवं अर्धमनुष्यरूप प्राणियों में क्रमिक विकास होने पर खर्वाकृतिमय पूर्ण मानव का निर्माण हुआ जिसकी प्रतिमूर्ति वामनावतार है।

परशुरामावतार—खर्वाकार मानवप्राणी में बुद्धि-विकास के उपरान्त शस्त्रास्त्रजीवी उग्रस्वभाव वन्य जाति का निर्माण हुआ, जिसका प्रतिनिधि परशुरामावतार है।

दाशरथि रामावतार—सभ्यता के विकास के साथ मानव मर्यादा एवं आदर्श समाज-व्यवस्थापक के रूप में राजरूप रामावतार हुआ।

संकर्षणरामावतार—राम दाशरथि के परवर्ती काल में भूमिकर्षण आदि वाणिज्य के द्वारा जगत् को सुखसमृद्धिसम्पन्न करने के लिए हलायुध संकर्षणराम के रूप में अवतीर्ण हुए।

---

९२. वै० ध० ५४-५५

कृष्णावतार—अन्त में यौगिक एवं आध्यात्मिक नेता के रूप में कृष्ण का अवतार हुआ[९३]।

इन द्विविध विवरणों के अध्ययन के पश्चात् यह कहना कठिन है कि इन दो पक्षों में कौनसा तथ्यपूर्ण है। सामान्य दृष्टि से विवेचन करने पर दोनों पक्ष युक्तिपूर्ण प्रतीत होते हैं—धार्मिक तुला पर आधारित करने से पौराणिक मत समीचीन लगता है और प्राकृतिक दृष्टिकोणों से विचार करने पर वैज्ञानिक। पर दोनों मतों का लक्ष्य एक ही है।

अवतार की आवश्यकता

वाराहरूपधारी भगवान् को पाताल लोक में आये देखकर वसुन्धरा ने उनकी स्तुति के क्रम में कहा था कि भगवान् का जो परमतत्त्व है वह सब के लिए अज्ञेय है—उसे कोई भी नहीं जानता, क्योंकि वह तत्त्व अत्यन्त गूढ़ है। मत्स्य, कूर्म, राम और कृष्ण आदि अवतारों में भगवान् का जो रूप प्रकट होता है उसी की देवगण पूजा करते हैं और तपस्वी वा भाग्यवान् लोग उसी रूप का साक्षात्कार करते हैं[९४]।

इस से ध्वनित होता है कि साधारण भक्तजनों के कल्याण के लिए भगवान् किसी साकार रूप में अवतीर्ण होते हैं।

देवार्चन—

आज के ही समान पौराणिक युग में देवपूजन का प्रचलन था। अत्यन्त सुन्दर देवमन्दिरों का प्रसंग आया है। विष्णु के अतिरिक्त लक्ष्मी, अग्नि एवं सूर्य आदि देव देवियों का सेवापूजन होता था। नगर के अतिरिक्त पर्वतीय कन्दराओं और उपवनों में कलात्मक रीति से मन्दिरों का निर्माण होता था।[९५]

जीवबलि—ज्ञात होता है कि कालीपूजा का एक प्रमुख उपकरण पशुबलिदान था और नरबलि भी होती थी, क्योंकि एक योगसाधक ब्राह्मण को संस्कारशून्य और ब्राह्मणवेष के विरुद्धाचारी देख रात्रि के समय नृपतराज के सेवक ने बलि की विधि से सुसज्जित कर काली का बलिपशु बनाया था,

---

९३. तु० क०—टी० जे०

९४. भवतो यत्परं तत्त्वं तन्न जानाति कश्चन।
अवतारेषु यद्रूपं तदर्चन्ति दिवौकसः॥

९५. तु० क०—२।२।४७

किन्तु इस प्रकार एक योगसाधक को बलि के लिए उपस्थित देख महाकाली ने एक तीक्ष्ण खड्ग से उस क्रूरकर्मा राजसेवक का गला काट डाला और अपने पार्षदों सहित उसका तीखा रुधिर पान किया[९६]। स्वयं साक्षात् कृष्ण ने गोवर्धन पर्वत की पूजासामग्रियों में मेध्य पशुओं की बलि का निर्देश किया है। तदनुसार व्रजवासियों ने दही, खीर और मांस आदि से पर्वतराज को बलि दी थी[९७]। साक्षात् परमेश्वर का कथन है कि मदिरा और मांस की भेंट चढ़ाने से महामाया मनुष्यों की सम्पूर्ण कामनाओं को पूर्ण कर देती है[९८]।

ब्राह्मणभोजन—ब्राह्मणों को भोजन कराना भी धर्माचरण का एक प्रधान अङ्ग था, क्योंकि व्रजवासियों ने गोपाल कृष्ण की आज्ञा से गिरियज्ञानुष्ठान के समय सैकड़ों, सहस्रों ब्राह्मणों को भोजन कराया था[९९]।

अन्धविश्वास—ध्वनित होता है प्राचीन काल से ही धर्माचरण में अन्धभावना चली आ रही है। एक प्रसंग पर कहा गया है कि मरी हुई पूतना राक्षसी की गोद में बालकृष्ण को देख यशोदा ने उन्हें अपनी गोद में उठा लिया और गौ की पूँछ से झाड़कर बालक का ग्रहदोष निवारण किया। नन्द गोप ने कृष्ण के मस्तक पर गोबर का चूर्ण लगाया[१००]। आज भी देखते हैं कि कोई भी धार्मिक सम्प्रदाय अन्धविश्वास की भावना से मुक्त नहीं है और प्रत्येक सम्प्रदाय न्यूनाधिक मात्रा में इस अन्धभावना से अवश्य प्रभावित है।

निष्कर्ष

धर्म के प्रकरण में प्रमुख रूप से सर्वत्रप्राय वैष्णव धर्म का ही प्रतिपादन है, किन्तु गौण रूप से शाक्त आदि कतिपय धर्मों का भी संक्षिप्त परिचय उपलब्ध होता है। विष्णु के पर्यायवाची काल, नारायण, भगवान्, वासुदेव और कृष्ण आदि नामों का प्रासंगिक विवेचन हुआ है। विष्णु के मत्स्य आदि विविध अवतारों का विवरण संक्षेप में ही दृष्टिगत होता है किसी किसी

---

९६. वही २।१३।४८।५०

९७. वही ५।१०।३८ और ४४

९८. सुरामांसोपहारैश्च भक्ष्यभोज्यैश्च पूजिता।
  नृणामशेषकामांस्त्वं प्रसन्ना सम्प्रदास्यसि ॥ —५।१।८५

९९. द्विजांश्च भोजयामासुश्शतशोऽथ सहस्रशः। —५।१०।४५

१००. वही ५।५।१२-१३

अवतार का तो नाममात्र का ही अपने पुराण में उल्लेख हुआ है। उस परिस्थिति में पुराणान्तर की सहायता से विवेचन प्रस्तुत किया गया है। पौराणिक युग में जीवबलि के प्रचलन का भी संकेत मिलता है और नरबलि का भी। अतः ध्वनित होता है कि यह प्रथा धर्माचरण के अंगरूप से स्वीकृत थी। एक प्रसंग में सामाजिक अन्धविश्वास का भी उदाहरण मिला है।

नवम अंश

दर्शन

[दर्शन ज्ञानमीमांसा, प्रमा, प्रमाता, प्रमेय, प्रमाण, प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान, अर्थापत्ति, अभाव, संभव, ऐतिह्य, तत्त्वमीमांसा- सर्वेश्वर-वाद, प्रलय, कालमान, देवमण्डल, आचारमीमांसा, नवधा भक्ति, श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य, आत्मनिवेदन, अष्टाङ्गयोग, यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि प्रणव ब्रह्म—आत्मपरमात्मतत्त्व—नास्तिकसम्प्रदाय :—जैन, बौद्ध, चार्वाक, निष्कर्ष ।]

[प्रयुक्त साहित्य : (१) विष्णुपुराणम् (२) भारतीय दर्शन (३) मनुस्मृतिः (४) बृहदारण्यकोपनिषद् (५) तर्कसंग्रहः (६) न्यायकोशः (७) वात्स्यायन भाष्य सहितं न्यायदर्शनम् (८) विष्णुपुराण की श्रीधरी टीका (९) सर्वसिद्धान्तसंग्रहः (११) उमेशमिश्र—भारतीय दर्शन (११) सांख्यकारिका (१२) History of Indian Philosophy (१३) वायु-पुराणम् (१४) वेदिक इण्डेक्स (१५) Pali-English Dictionary (१६) Sacred Book of East (१७) कल्याण–सन्तवाणी अंक (१८) कल्याण–साधनांक (१९) ऋग्वेदः (२०) अथर्ववेदः और (२१) पातञ्जलयोगदर्शनम् ।]

दर्शन—मनुष्य जीवन क्या है ? यह दृश्यमान जगत् क्या है ? इस का कोई सृष्टिकर्ता भी है अथवा यह सारा दृश्यमान तत्त्व स्वयं सृष्ट हो गया ? इत्यादि रहस्यमय समस्याओं को मनुष्य सभ्यता के प्रारंभ से ही सुलझाने की चेष्टा करते आरहे हैं और भारतीय दर्शन में इनका समाधान अवश्य है। मनुष्य और तदितर पशुपक्षी आदि जगत् के समस्त प्राणी अपने जीवन की सुरक्षा के लिए सतत प्रयत्नशील हैं—अन्तर इतना ही है कि मनुष्येतर प्राणियों का जीवन प्रायः निरुद्देश्य होता है—वे सहज प्रवृत्ति से परिचालित होते हैं। किन्तु मनुष्य प्राणी बुद्धिमान होने के कारण अपने जीवन-यापन में बुद्धि से सहायता ग्रहण करता है एवं वर्तमान लाभ के अतिरिक्त अपने भविष्यत् परिणामों के विषय में भी वह चिन्तन करता है। बुद्धि की विशेषता के कारण वह युक्तिपूर्वक अपने जिज्ञासामय रहस्य का ज्ञान प्राप्त कर सकता है—युक्तिपूर्वक ज्ञान प्राप्त करने के व्यापार को ही "दर्शन" कहा गया है[1]। दार्शनिक महिमा के प्रतिपादन में मनु की घोषणा है कि सम्यक् दर्शन के प्राप्त हो जाने पर कर्म मनुष्य को बन्धन में नहीं डाल सकते, जिसको दार्शनिक दृष्टि नहीं है वह संसार के जाल में फँस जाता है[2]।

प्रेक्षणार्थक 'दृश्' धातु के आगे करण अर्थ में 'ल्युट्' प्रत्यय के योग से दर्शन शब्द की सिद्धि हुई है अतः 'दर्शन' का शाब्दिक अर्थ होता है—जिसके द्वारा देखा जाये। अब स्वाभाविक प्रश्न यह उपस्थित होता है कि क्या देखा जाए ? कौन सा दर्शनीय तत्त्व है, जिसको देख लेने पर मनुष्य जीवन कृत-कृत्य हो सकता है ? इस परिस्थिति में उपनिषद् से संकेत मिलता है—'आत्मा

---

१. स० भा० द० १

२. सम्यग्दर्शनसम्पन्नः कर्मभिर्न निबध्यते।
दर्शनेन विहीनस्तु संसारं प्रतिपद्यते ॥ —म० स्मृ० ६।७४

दर्शनीय है, श्रवणीय है, मननीय है और ध्येय है— इस आत्मतत्त्व के दर्शन, श्रवण, मनन और विज्ञान से सर्वज्ञता प्राप्त हो जाती है[3]।

विष्णुपुराण में सामान्यरूप से वैदिक-अवैदिक तथा आस्तिक-नास्तिक— समस्त दार्शनिक सिद्धान्तों के स्पष्टास्पष्ट रूप से न्यूनाधिक विवरण उपलब्ध होता है, किन्तु मुख्यरूप से जगत् के सृष्टि-प्रलय सम्बन्धी तत्त्वों के सम्यक् प्रतिपादन होने के कारण सांख्य दर्शन के साथ इस का पूर्ण सामञ्जस्य है। इस पुराण में वेदान्त दर्शन के अद्वैत ब्रह्म (आत्मपरमात्म तत्त्व) का विवरण है और पतञ्जलि के अष्टाङ्ग योग का सम्यक् विवेचन भी हुआ है। अब दार्शनिक दृष्टि से इसकी ज्ञानमीमांसा, तत्त्वमीमांसा और आचारमीमांसा के विवेचन में प्रवृत्त होना उपादेय प्रतीत होता है।

ज्ञानमीमांसा

दार्शनिक समीक्षण में प्रमा, प्रमाता, प्रमेय और प्रमाण—ये चार पारिभाषिक शब्द अर्थावबोधक होने के कारण अत्यन्त उपयोगी हैं। अतएव विष्णुपुराण के दार्शनिक विवेचन के पूर्व इन चार शब्दों के पारिभाषिक अर्थ का संक्षेप में विचार कर लेना अनुपयोगी नहीं होगा।

प्रमा— अन्नंभट्ट के मत से जो वस्तु जैसी है उसको ठीक वैसी ही जानना प्रमा है[4]।

प्रमाता— ज्ञान का अस्तित्व ज्ञातृसापेक्ष होता है। ज्ञाता के अभाव में ज्ञान संभव नहीं। ज्ञान विशेष के आधार होने के कारण ज्ञाता ही प्रमाता कहलाता है[5]।

प्रमेय— ज्ञान का व्यापार जिस विषय पर फलित होता है, वह "प्रमेय" कहलाता है। घट, पट आदि सम्पूर्ण विषय प्रमेय कोटि के अन्तर्गत हैं[6]।

प्रमाण— जिस साधन के द्वारा प्रमाता को प्रमेय का ज्ञान होता है, वह प्रमाण कहलाता है[7]। प्रमाण की संख्या के सम्बन्ध में विभिन्न दर्शनकारों के

---

३. आत्मा वारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो
मैत्रेय्यात्मनो वारे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम् ॥
—बृ० उ० २।४।५

४. तद्वति तत्प्रकारकोऽनुभवो यथार्थः-स प्रमेत्युच्यते।— त० सं० पृ० २४

५. प्रमातृत्वं प्रमासमवायित्वम्। —न्या० को० पृ० ५५७

६. योऽर्थः तत्त्वतः प्रमीयते तत्प्रमेयम्। —वात्स्यायन भाष्य १।१।१

७. प्रमाता येनार्थं प्रमिणोति तत्प्रमेयम्। —वही

विभिन्न मत हैं। एक से आठ तक प्रमाण संख्या प्रतिपादित हुई है[८]। प्रमाण संख्या की अधिमान्यता निम्न क्रम से स्पष्टीकृत हो सकती है :—

सम्प्रदाय	प्रमाण	संख्या
चार्वाक	प्रत्यक्ष	एक प्रमाण
वैशेषिक और बौद्ध	प्रत्यक्ष और अनुमान	दो ,,
सांख्य	उपर्युक्त दो और शब्द	तीन ,,
न्याय	उपर्युक्त तीन और उपमान	चार ,,
प्रभाकरमीमांसा	उपर्युक्त चार और अर्थापत्ति	पाँच ,,
भाट्टमीमांसा	उपर्युक्त पाँच और अभाव	छः ,,
पौराणिक	उपर्युक्त छः तथा संभव और ऐतिह्य	आठ ,,

किसी क्रिया के व्यापार में सफलता के लिए करणरूप साधन की उपयोगिता रहती है। पौराणिक दर्शन के प्रसंग में भी तत्त्वज्ञान के लिए प्रमाणरूप करण की उपयोगिता है। पौराणिक सम्प्रदाय में उपर्युक्त आठों प्रमाणों की अधिमान्यता है।

प्रत्यक्ष—इसके विषय में आचार्य गौतम का कथन है कि जो ज्ञान इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न हो, जिस ज्ञान की उत्पत्ति में शब्द का उपयोग न हो तथा जो भ्रमरहित और निश्चयात्मक हो, वह प्रत्यक्ष है[९]। अपने पुराण में एक प्रसंग पर सर्वात्मा भगवान् हरि ने ध्रुव की तन्मयता से प्रसन्न हो उसके निकट चतुर्भुज रूप से जा कर कहा था—'हे औत्तानपादि ध्रुव, तेरा कल्याण हो। मैं तेरी तपस्या से प्रसन्न होकर तुझे वर देने के लिए प्रकट हुआ हूँ। हे सुव्रत, तू वर मांग। देवाधिदेव भगवान् के ऐसे बचन सुन कर बालक ध्रुव ने आंखें खोलीं और अपनी ध्यानावस्था में देखे हुए भगवान् हरि को साक्षात् अपने सम्मुख खड़े

---

८. प्रत्यक्षमेकं चार्वाकाः कणादसुगतौ तथा।
अनुमानं च तच्चापि सांख्याः शब्दं च ते अपि॥
न्यायैकदेशिनोऽप्येवमुपमानं च केचन।
अर्थापत्त्या सहैतानि चत्वार्याह प्रभाकरः॥
अभावषष्ठान्येतानि भाट्टा वेदान्तिनस्तथा।
संभवैतिह्ययुक्तानि तानि पौराणिका जगुः॥ —स० भा० द० ३५

९. इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्य व्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्। न्या० सू० १।१।४

देखा। अच्युत हरि को किरीट तथा शंख, चक्र, गदा, शार्ङ्गधनुष और खड्ग धारण किये देख उसने पृथिवी पर शिर रख कर प्रणाम किया। अपने समक्ष हाथ जोड़ कर खड़े हुए उत्तानपाद के पुत्र को गोविन्द ने अपने शङ्ख के अग्र से छू दिया[10]।

पुनः अन्य प्रसंग में विवरण है कि प्रह्लाद के तन्मयतापूर्वक स्तुति करने पर पीताम्बरधारी हरि प्रकट हुए। उन्हें सहसा प्रकट हुए देख प्रह्लाद खड़े हो गये और गद्गद वाणी से "विष्णु को नमस्कार है"—ऐसा बार बार कहने लगे। श्री भगवान् बोले—"मैं तेरी अनन्य भक्ति से प्रसन्न हूँ। तू मुझ से अपना इच्छित वर मांग ले[11]।

एक अन्य स्थल पर प्रतिपादन हुआ है कि सम्पूर्ण संसाररूप कमल को विकसित करने के लिए देवकीरूप पूर्वसन्ध्या में महात्मा अच्युतरूप सूर्य का आविर्भाव हुआ। जनार्दन के जन्म ग्रहण करने पर सन्तजनों को परम सन्तोष हुआ, प्रचण्ड वायु शान्त हुआ और नदियाँ अत्यन्त स्वच्छ हो गई। देवकी ने कहा—"हे सर्वात्मन् आप इस चतुर्भुज रूप का उपसंहार कीजिये। भगवन्, कंस आपके इस अवतार का वृत्तान्त न जानने पावे"। देवकी के ये वचन सुन कर भगवान् बोले—"हे देवी, पूर्व जन्म में तू ने जो पुत्र की कामना से मुझ से प्रार्थना की थी, आज मैंने तेरे गर्भ से जन्म लिया है—इस से तेरी वह कामना पूर्ण हो गयी[12]।

इस प्रकार पुराण में बहुधा हमें अव्यक्त तत्त्व का अभिव्यक्त रूप में दर्शन मिलता है; और इस प्रकार निर्गुण परमात्मा के प्रत्यक्ष सगुण रूप में अवतार धारण से उनके ऐश्वर्य और शक्ति की अनन्तता एवं असीमता द्योतित होती है। उस असीम शक्तिशाली परमात्मा—निर्गुण ब्रह्म को "केवल" शब्द से विशेषित करने पर उनके ऐश्वर्य एवं गुण की इयत्ता मात्र ध्वनित होती है अतः विश्वमूर्ति, विश्वरूप और सर्वाकार आदि विशेषण ही भगवान् के लिए उपयुक्त हैं। भगवान् के साकार दर्शन से "प्रत्यक्ष" प्रमाण का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण बन जाता है।

अनुमान—पुराण में प्रतिपादन है कि जिस प्रकार तृणादि के बीजों में स्थित (व्याप्त) अङ्कुरादि मेघ के सान्निध्य में अपनी ही शक्ति से परिणत हो जाता है उसी प्रकार ब्रह्मा सृज्य पदार्थों की सृष्टिक्रिया में पर्जन्य के समान साधारण कारण मात्र है। टीकाकार के तात्पर्य में सृष्टिक्रिया में ईश्वर का

---

१०. तु० क० १।१२।४१–४२, ४४–४५ और ५१

११. वही १।२०।१४–१७

१२. वही ५।३।२,४ और १४

केवल सान्निध्य मात्र अपेक्षित रहता है। पर यथार्थ में देखा जाता है कि कोई भी कार्य कारण के बिना उत्पन्न नहीं होता है, अतः जगत्‌रूप कार्य के लिए किसी भी अतीन्द्रिय कारण (कर्ता) की अपेक्षा आवश्यक है।[13] जगत में देखा जाता है कि घट-पट आदि जितने कार्यद्रव्य हैं, वे स्वतः निर्मित नहीं हो जाते उनके निर्माण में कोई निमित्त कारण (कर्ता) अवश्य होता है। घट के निर्माण में कुंभकार की और पट के निर्माण में तन्तुवाय की अपेक्षा होती है। जिस प्रकार घट-पट की उत्पत्ति के लिए कर्ता का होना आवश्यक है उसी प्रकार इस जगत् की उत्पत्ति के लिए भी किसी कर्त्ता का होना अपेक्षित है।[14] अपने पुराण में पाते हैं कि जगत् के सृष्टि, स्थिति और संहृतिरूप कार्य के लिए एक ही भगवान् ब्रह्मा, विष्णु और शिव—इन तीन कारण (कर्ता) के रूप में अवतीर्ण होते हैं।[15]

इस प्रकार अपने पुराण के अनेक स्थलों पर अनुमान प्रमाण के उदाहरण दृष्टिगोचर होते हैं।

शब्द—इस प्रमाण के भी बहुधा उदाहरण उपलब्ध होते हैं : मैत्रेय से पराशर ने कहा था कि यह प्रसंग दक्ष आदि मुनियों ने राजा पुरुकुत्स को सुनाया पुरुकुत्स ने सारस्वत को और सारस्वत ने मुझ से कहा था—"जो पर (प्रकृति) से भी पर, परमश्रेष्ठ, अन्तरात्मा में स्थित परमात्मा रूप, वर्ण, नाम और विशेषण आदि से रहित है।[16] वह सर्वत्र है और उसमें सम्पूर्ण विश्व बसा हुआ है—इस कारण से ही विद्वान् उसको वासुदेव कहते हैं[17] पूर्व-काल में महर्षि पुलस्त्य का पुत्र निदाघ ऋभु का शिष्य था उसे उन्होंने अति-प्रसन्न होकर सम्पूर्ण तत्त्वज्ञान का उपदेश दिया था। ऋभु ने देखा कि सम्पूर्ण शास्त्रों का ज्ञान होते हुए भी निदाघ की अद्वैत में निष्ठा नहीं है[18]—इस प्रकार पुराण में शब्द प्रमाण की परम्परा प्रायः सर्वत्र ही दृष्टिगोचर होती

---

१३. श्रीधरी टीका, १।४।५१-५२

१४. कार्यत्वाद् घटवच्चेति जगत्कर्तानुमीयते।
—सर्वसिद्धान्तसंग्रह (नैयायिक पक्ष) ८

१५. सृष्टिस्थित्यन्तकरणीं ब्रह्मविष्णुशिवात्मिकाम्।
स संज्ञां याति भगवानेक एव जनार्दनः॥ —१।२।६६

१६. तु० क० १।२।९-१०

१७. सर्वत्रासौ समस्तं च वसत्यत्रेति वै यतः।
ततः स वासुदेवेति विद्वद्भिः परिपठ्यते॥ —१।२।१२

१८. वही २।१५।४-५

है। न्यायशास्त्र में शब्द को एक स्वतन्त्र प्रमाण माना गया है। शास्त्र, पुराण और इतिहास आदि के विश्वसनीय वचनों से जो ज्ञान प्राप्त होता है वह न तो प्रत्यक्ष के अन्तर्गत आता है और न अनुमान के। अत एव उसे पृथक् कोटि में रखा जाता है। साधारण सभी शब्द प्रमाण कोटि में नहीं आ सकते। गौतम के मत से आप्त व्यक्ति का उपदेश ही शब्द प्रमाण माना जा सकता है। भाष्यकार वात्स्यायन के मत से आप्त उस व्यक्ति को कहा जाता है जिसने उक्त पदार्थ का स्वयं साक्षात्कार किया हो। वह व्यक्ति औरों के उपकारार्थ जो स्वानुभवसिद्ध वचन कहता है वह माननीय है। आप्त व्यक्ति वही है जो विषय का ज्ञाता और विश्वसनीय हो[१९]।

उपर्युक्त पौराणिक उदाहरणों में पराशर, दक्ष, पुरुकुत्स, सारस्वत और ऋभु आदि महात्मा निःसन्देह आप्त व्यक्ति हैं।

उपमान—पौराणिक प्रतिपादन है कि सर्वव्यापी भगवान् कृष्ण तो गोपियों में उनके पतियों में तथा समस्त प्राणियों में आत्मस्वरूप से वायु के समान व्याप्त थे जिस प्रकार आकाश, अग्नि, पृथिवी, जल, वायु और आत्मा समस्त प्राणियों में व्याप्त हैं उसी प्रकार वे (कृष्ण) भी समस्त पदार्थों में व्यापक हैं[२०] अन्य स्थल पर केशिध्वज परमार्थ तत्त्व के प्रतिपादन में खाण्डिक्य से कहते हैं कि भेदोत्पादक अज्ञान के सर्वथा नष्ट हो जाने पर परब्रह्म और आत्मा में असत् (अविद्यमान) भेद कौन कर सकता है—दोनों अभिन्न तत्त्व हैं[२१]। इस प्रकार उपमान के प्रतिष्ठापक अनेकों उदाहरण मिलते हैं। गौतम के मत में प्रसिद्ध वस्तु के साधर्म्य से अप्रसिद्ध वस्तु का ज्ञान प्राप्त करना उपमिति है और उपमिति के साधन को उपमान प्रमाण कहा जाता है।[२२]

अर्थापत्ति—इन्द्रपूजा के प्रसंग में कृष्ण ने कहा था—"हम न तो कृषक हैं और न व्यापारी, हमारे देवता तो गौएं ही हैं, क्योंकि हम साधारण वनचर हैं।[२३] इस प्रसंग में कृष्ण ने अपने को साधारण वनचर घोषित किया है और

---

१९. आप्तोपदेशः शब्दः। आप्तः खलु साक्षात्कृतधर्मा।
दृष्टस्यार्थस्य चिख्यापयिषया प्रयुक्त उपदेष्टा।
—न्या० सू० वा० भा० १।१।७

२०. तु० क० ५।१३।६१-६२

२१. विभेदजनकेऽज्ञाने नाशमात्यन्तिकं गते।
आत्मनो ब्रह्मणो भेदमसन्तं कः करिष्यति॥ —६।७।९६

२२. प्रसिद्धसाधर्म्यात्साधनमुपमानम्। —न्या० सू० वा० भा० १।१।६

२३. तु० क० ५।१०।२६

पुनः उन्होंने विशाल गोवर्धन पर्वत को उखाड़ कर लीलापूर्वक अपने एक हाथ पर उठा लिया[२४]। यहां पर साधारण वनचर होते हुए भी एक महाविशाल पर्वत को उखाड़ देना—इन दोनों कथनों में भी समन्वय की उपपत्ति नहीं होती। अतः उपपत्ति के लिए उनमें 'अलौकिक एवं असाधारण ईश्वरी शक्ति थी''—यह कल्पना की जाती है। इस कथन से स्पष्ट हो गया कि 'यद्यपि कृष्ण साधारण वनचर थे किन्तु उनमें असाधारण ईश्वरी शक्ति थी' अत एव कृष्ण ने गोवर्धन गिरि को उखाड़ कर लीलापूर्वक अपने एक हाथ पर उठा लिया। यहां पर प्रथम वाक्य में उपपत्ति लाने के लिए "ईश्वरीय शक्ति सम्पन्न थे"—यह कल्पना स्वयं की जाती है अतः इस प्रसंग में अर्थापत्ति प्रमाण की चरितार्थता होती है। जिस अर्थ के विना दृष्ट अथवा श्रुत विषय की उपपत्ति न हो उस अर्थ के ज्ञान को "अर्थापत्ति" प्रमाण कहते हैं।[२५]

अभाव—पिछले कल्पान्त के होने तथा रात्रि में सोकर उठने पर सत्त्व गुण के उद्रेक से युक्त भगवान् ब्रह्मा ने सम्पूर्ण लोकों को शून्यमय देखा[२६]। उस समय (प्रलय काल में) न दिन था न रात्रि थी, न आकाश था न पृथिवी थी, न अन्धकार था, न प्रकाश था और न इसके अतिरिक्त कुछ और ही था केवल इन्द्रियों और बुद्धि आदिका अविषय एक प्रधान ब्रह्म पुरुष ही था[२७]।

उपर्युक्त प्रसंग में अभाव या अनुपलब्धि प्रमाण चरितार्थ होता है, क्योंकि प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों के द्वारा जब किसी वस्तु का ज्ञान नहीं होता तब "वस्तु नहीं है"—इस प्रकार उस वस्तु के अभाव का ज्ञान होता है। इस "अभाव" का ज्ञान इन्द्रियसन्निकर्ष आदि के द्वारा तो हो नहीं सकता, क्योंकि इन्द्रिय-सन्निकर्ष "भाव" पदार्थों के साथ होता है। अत एव भी मीमांसकों के समान "अभाव" या "अनुपलब्धि" नामक ऐसे स्वतन्त्र प्रमाण को पौराणिक मानते हैं, जिस के द्वारा किसी वस्तु के अभाव का ज्ञान हो[२८]। इस पौराणिक विवरण में ब्रह्म (अतीन्द्रिय तत्त्व) के अतिरिक्त किसी ऐसी वस्तु की सत्ता न थी जो इन्द्रियसन्निकर्ष से ज्ञात हो।

सम्भव—साक्षात् भगवान् को अपने सम्मुख आविर्भूत देख कर ध्रुव बोले—"हे भूतभव्येश्वर, आप सब के अन्तःकरणों में विराजमान हैं। हे

२४. वही ५।११।१६
२५. मि० भा० द० २५९
२६. तु० क० १।४।३
२७. तु० क० १।२।२३
२८. मि० भा० द० २६०

ब्रह्मन् , मेरे मन की जो अभिलाषा है वह क्या आप से छिपी हुई है ? हे सम्पूर्ण संसार के सृष्टिकर्ता, आप के प्रसन्न होने पर (संसार में) क्या दुर्लभ है ? इन्द्र भी आप के कृपाकटाक्ष के फल रूप से ही त्रिलोकी को भोगता है[२९]।

इस अवतरण में पौराणिकों के अभिमत "सम्भव" प्रमाण का पूर्ण रूप से अवतरण है, क्योंकि जो अशेष अन्तःकरणों में विराजमान है उस में सर्वज्ञता भी संभव है तथा जो सम्पूर्ण जगत का सृष्टिकर्ता है उस में भक्तवत्सलता भी संभव है[३०]।

ऐतिह्य—पौराणिकों ने 'सम्भव' के समान "ऐतिह्य" को भी एक पृथक् प्रमाण के रूप में स्वीकृत किया है। इस प्रमाण में श्रुतवचन का कर्ता कोई अनिर्दिष्ट व्यक्ति होता है[३१]। पौराणिक प्रतिपादन है—"सुना जाता है कि इस वन के पर्वतगण कामरूपधारी हैं। वे मनोवाञ्छितरूप धारण कर अपने अपने शिखरों पर विहार करते हैं। जब कभी वनवासी इन गिरिदेवों को किसी प्रकार की वाधा पहुंचाते हैं तो वे सिंहादिरूप धारण कर उन्हें मार डालते हैं[३२]। इस प्रसंगमें किसी विशिष्ट वक्ता का निर्देश नहीं किया गया है, अतः यह प्रसंग यहाँ पूर्ण रूप से पौराणिकों का अभिमत "ऐतिह्य" प्रमाण का अवतारक हुआ है।

ऊपर के विविध प्रसंगों में परिवर्णित दार्शनिक सम्प्रदायों के अभिमत प्रत्यक्षादि पूरे आठ प्रमाणों के साङ्गोपाङ्ग पौराणिक उदाहरणों का दिग्दर्शन हुआ।

तत्त्वमीमांसा—विष्णुपुराण में सामान्य रूप से वैदिक दर्शन और चार्वाक, जैन और बौद्ध आदि अवैदिक—समस्त दार्शनिक सम्प्रदायों के सिद्धान्तों का स्पष्टास्पष्ट रूप से प्रतिपादन हुआ है, पर मुख्य रूप से सांख्य दर्शन के सृष्टि-प्रलयसम्बन्धी तत्त्वविचार के साथ इसका पूर्ण सामञ्जस्य है। पौराणिक प्रतिपादन के अनुसार 'ब्रह्मन्' की प्रथम अभिव्यक्ति पुरुष के रूप में होती है। व्यक्त (महदादि) और अव्यक्त (प्रकृति) उस के अन्य रूप हैं तथा काल उसका परम रूप है। इस प्रकार जो प्रधान, पुरुष, व्यक्त और काल—इन

---

२९. तु० क० १।१२।७८ और ८०

३०. अत्र सम्भवः प्रमाणान्तरमिति पौराणिका आहुः।

—न्या० को० ९२२

३१. इति होचुरित्यनिर्दिष्ट प्रत्रक्तृकप्रवादपारम्पर्यम्।

—न्या० सू० वा० भा० २।२।१, न्या० को० १९५

३२. तु० क० ५।१०।३४-३५

चारों से परे है वही विष्णु का विशुद्ध परम पद है[33]। और अब हम उस विशुद्ध ब्रह्मन् को विष्णु के रूप में पाते हैं अथवा उस विशुद्ध सत्ता को ब्रह्म-विष्णु के रूप में पाते हैं।

सर्वेश्वरवाद—पुराण में प्रतिपादन है कि उस परम सत्य में जन्म, वृद्धि, परिणाम, क्षय और नाश—इन विकारों का अभाव है; जिस को सर्वदा केवल "है" इतना ही कह सकते हैं। वह सर्वत्र है, वही सब कुछ है (Pantheism) और समस्त विश्व उसी में बसा हुआ है इस कारण वह वासुदेव[34]—जगन्निवास (Panentheism) नाम से अभिहित होता है[35]। वही नित्य, अजन्मा, अक्षय, अव्यय तथा एकरूप होने और हेय गुणों के अभाव के कारण निर्मल परब्रह्म है। इस ब्रह्म (सत्ता) की प्रव्यक्ति व्यक्त, अव्यक्त, पुरुष और काल—इन चार रूपों में होती है। उसके बालवत् क्रीडाव्यापार से उपर्युक्त चार रूप प्रव्यक्त होते हैं। इस पुराण में प्रकृति की विवृति सदसदात्मक रूप से हुई है। और वह (प्रकृति) त्रिगुणमयी है और जगत् का कारण तथा स्वयं अनादि एवं उत्पत्ति और लय से रहित है। यह सारा प्रपञ्च प्रलयकाल से सृष्टि के आदि तक उसी में व्याप्त था। उस (प्रलय) काल में न दिन था न रात्रि थी, न आकाश था न पृथिवी थी, न अन्धकार था, न प्रकाश था और न इस के अतिरिक्त कुछ और ही था। केवल श्रोत्रादि इन्द्रियों और बुद्धि आदि का अविषय एक प्रधान ब्रह्म पुरुष ही था। विष्णु के परम (उपाधिरहित) स्वरूप से प्रधान और पुरुष—ये दो रूप हुए। उसी (विष्णु) के जिस अन्य रूप के द्वारा वे दोनों (सृष्टि और प्रलय) कालों में संयुक्त और वियुक्त होते हैं उस रूपान्तर का ही नाम "काल" है—काल का कार्य है सृष्टि के अवसर पर प्रधान और पुरुष को संयुक्त करना और प्रलय के अवसर पर उन्हें वियुक्त करना। व्यतीत (अन्तिम) प्रलय काल में यह समस्त व्यक्त प्रपञ्च प्रत्यावर्तित होकर प्रकृति में स्थित हो गया था। अत एव प्रपञ्च के इस प्रलय को प्रतिसञ्चर—प्राकृत प्रलय कहते हैं। कालरूप भगवान् अनादि हैं, इनका अन्त नहीं है इस लिए संसार की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय भी कभी नहीं रुकते। प्रलय काल में प्रधान के गुणों के साम्यावस्था में स्थित हो जाने पर विष्णु का कालरूप प्रवृत्त होता है। पश्चात्—सर्ग काल के उपस्थित होने पर उस परब्रह्म परमात्मा विश्वरूप सर्वव्यापी सर्वभूतेश्वर सर्वात्मा परमेश्वर ने

---

३३. वही १।२।१५-१६

३४. पा० टी० १७ और ६।५।८०-८५

३५. पु० क० १।२।११-१२

अपनी इच्छा से विकारी प्रधान (प्रकृति) और अविकारी पुरुष में प्रविष्ट होकर उनको क्षोभित किया। जिस प्रकार क्रियाशील न होने पर भी गन्ध अपनी सन्निधि मात्र से प्रधान (प्रकृति) और पुरुष को प्रेरित करता है[३६]। वह पुरुषोत्तम ही इनको क्षोभित करता है और स्वयं क्षुब्ध होता है तथा संकोच (साम्य) और विकास (क्षोभ) युक्त प्रधान रूप से भी वही स्थित है। फिर यहाँ विष्णु में सर्वेश्वरत्वभाव (Pantheistic view) आभासित होता है, क्योंकि ब्रह्मादि समस्त ईश्वरों के ईश्वर वह विष्णु ही समष्टि-व्यष्टि रूप, ब्रह्मादि जीवरूप तथा महत्तत्त्वरूप से स्थित है। यह स्पष्ट सर्वेश्वरवादिता (Pantheism) है। विष्णु अथवा ईश्वर की सत्ता (यहाँ) विकारी के समान प्रतिपादित हुई है। अर्थात् प्रव्यक्त रूप में पुरुष और ब्रह्म के समान भी। सर्गकाल के प्राप्त होने पर गुणों का साम्यावस्थारूप प्रधान जब विष्णु के क्षेत्रज्ञ रूप से अधिष्ठित हुआ तो उससे महत्तत्त्व की उत्पत्ति हुई। उत्पन्न हुए महान् को प्रधानतत्त्व ने आवृत किया; महत्तत्त्व सात्त्विक, राजस और तामस-भेद से तीन प्रकार का है। किन्तु जिस प्रकार बीज छिलके से समभाव से ढँका रहता है वैसे ही यह विविध महत्तत्त्व प्रधान तत्त्व से सब ओर व्याप्त है। फिर महत्तत्त्व ही वैकारिक (सात्त्विक), तैजस (राजस और भूतादिरूप तामस-तीन प्रकार का अहंकार उत्पन्न हुआ। वह त्रिगुणात्मक होने से भूत और इन्द्रिय आदि का कारण है[३७]। प्रधान से जिस प्रकार महत्तत्त्व व्याप्त है, वैसे ही महत्तत्त्व से वह तामस अहंकार व्याप्त है। भूतादि नामक तामस अहंकार ने विकृत होकर शब्दतन्मात्रा और उससे शब्द गुणक आकाश की रचना की। उस भूतादि तामस अहंकार ने शब्दतन्मात्रारूप आकाश को व्याप्त किया। फिर [शब्दतन्मात्रा रूप] आकाश ने विकृत होकर स्पर्श तन्मात्रा को रचा। उस (स्पर्शतन्मात्रा) से बलवान् वायु हुआ। उसका गुण स्पर्श माना गया है। शब्द तन्मात्रारूप आकाश ने स्पर्शतन्मात्रा वाले वायु

---

३६. तु० क० १।२।१३, १८-१९, २१, २३-२४ और २५-३०

३७. टीकाकार श्रीधर स्वामी का मत प्रकाश करते हुए डॉ० सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त का प्रतिपादन है कि "क्षेत्रज्ञाधिष्ठितात्" (१. २. ३३) में जो 'क्षेत्रज्ञ' शब्द है उसका अर्थ है—पुरुष। किन्तु स्पष्टरूप से न तो यहाँ (पुरुष का) प्रसंग है और न मूल सांख्य का सिद्धांत ही संघटित होता है नियामक रूप से प्रकृति में प्रवेश और परमेश्वर के सान्निध्य आदि के विषय में पहले ही विवेचन हो चुका है।

—१।२।३१-३६

को आवृत किया है। फिर [स्पर्शतन्मात्रारूप] वायु ने विकृत होकर रूप-तन्मात्रा की सृष्टि की। रूपतन्मात्रायुक्त वायु से तेजस् उत्पन्न हुआ, वह रूप-गुणक है। स्पर्शतन्मात्रारूप वायु ने रूपतन्मात्रावाले तेजस् को आवृत किया। फिर तेजस् [रूपतन्मात्रामय] ने भी विकृत होकर रस-तन्मात्रा की रचना की। उस (रस-तन्मात्रा) से रसगुणक जल उत्पन्न हुआ। रसतन्मात्रावाले जल को रूपतन्मात्रामय तेजस् ने आवृत किया। जल (रस-तन्मात्रारूप) ने विकार को प्राप्त होकर गंध तन्मात्रा की सृष्टि की। उससे पृथिवी उत्पन्न हुई, जिसका गुण गंध माना गया है। उन-उन आकाशादि भूतों में तन्मात्रा है अतः वे तन्मात्रा (गुणरूप) ही कहे गए हैं। तन्मात्राओं में विशेष भाव नहीं है, अतएव उनकी अविशेष संज्ञा है। वे अविशेष तन्मात्राएँ शांत, घोर अथवा मूढ नहीं हैं। इस कारण से भी उनकी संज्ञा अविशेष है—इस प्रकार तामस अहंकार यह भूततन्मात्रारूप सर्ग हुआ है[३८]।

दस इन्द्रियाँ (पंचज्ञानेन्द्रिय और पंच कर्मेन्द्रिय) तेजस् राजस अहंकार से और उनके अधिष्ठाता दस देवता वैकारिक अर्थात् सात्त्विक अहंकार से उत्पन्न कहे जाते हैं। इस प्रकार इन्द्रियों के अधिष्ठाता दस देवता और एकादश मनस् वैकारिक (सात्त्विक) हैं। श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना और घ्राण—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ बुद्धि की सहायता से शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध—इन पांच विषयों को ग्रहण करती हैं। पायु (गुदा), उपस्थ (लिंग), हस्त, पाद, और वाक्—इन पाँच कर्मेन्द्रियों के कर्म क्रमशः [मलमूत्रादि का] त्याग, शिल्प, गति और वचन निर्दिष्ट किए गए हैं। आकाश, वायु, तेजस्, जल और पृथिवी—ये पांचों भूत उत्तरोत्तर शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध—इन पांच गुणों से युक्त हैं। ये पंचभूत शांत, घोर और मूढ हैं, अतः विशेष कहलाते हैं—इन भूतों में पृथक्-पृथक् नाना शक्तियां हैं। अतः वे परस्पर संघात के बिना संसार की सृष्टि नहीं कर सकते। अतएव एक दूसरे के आश्रयीभूत होकर और एक ही संघात की उत्पत्ति के लक्ष्यवाले महत्तत्त्व से विशेष पर्यंत प्रकृति के इन समस्त विकारों ने पुरुष से अधिष्ठित होने के कारण परस्पर मिलकर—सर्वथा एक होकर प्रधान तत्त्व के अनुग्रह से अण्ड की उत्पत्ति की। जल के बुद्-बुद् के समान क्रमशः भूतों से बढ़ा हुआ जल पर स्थित महान् अण्ड ब्रह्म (हिरण्यगर्भ) रूप विष्णु का अतिउत्तम प्राकृत आधार हुआ। उसमें वे अव्यक्त-स्वरूप जगत्पति विष्णु व्यक्त हिरण्यगर्भ रूप से स्वयं ही विराजमान हुए[३९]।

---

३८. तु० क० श्रीधरी टीका, १।२।३७-४६

३९. वही १।२।४६-५६

वह अण्ड पूर्व पूर्व की अपेक्षा दश-दश गुण अधिक जल, अग्नि, वायु, आकाश और भूतादि अर्थात् तामस अहंकार से आवृत है तथा भूतादि महत्तत्त्व से परिवृत है और इन सब के सहित वह महत्तत्त्व भी अव्यक्त प्रधान से आवृत है। इस प्रकार जैसे नारिकेलफल का भीतरी बीज बाहर से कितने ही छिलकों से ढँका रहता है वैसे ही यह अण्ड इन सात प्राकृत आवरणों से घिरा हुआ है[४०]। फिर कल्पान्त के होने पर अतिदारुण तमःप्रधान रुद्र-रूप धारण कर जनार्दन विष्णु ही समस्त भूतों का भक्षण कर लेते हैं। जगने पर ब्रह्मा रूप होकर वे फिर जगत् की सृष्टि करते हैं[४१]। परमेश्वर विष्णुरूप से जगत् को धारण करते हैं और अन्त में वह अपने भीतर में ही सम्पूर्ण विश्व को संहृत कर लेते हैं। विष्णु ही स्रष्टा हैं और विष्णु ही सृष्टतत्त्व भी हैं। वे ही पालक हैं और वे ही संहारक भी हैं।

यद्यपि ब्रह्म निर्गुण, अप्रमेय, शुद्ध और निर्मल हैं फिर भी वह अपनी उन असामान्य शक्तियों से, जो हमारे लिए अचिन्त्य हैं, सर्गादि का कर्त्ता होता है यथार्थतः उसकी शक्तियों (तेज) और द्रव्यों के मध्य का सम्बन्ध अशोच्य है। हम इसे नहीं समझ और समझा सकते कि कैसे और क्यों अग्नि में उष्णता है[४२]। पृथिवी हरि की स्तुति करती हुई कहती है—"यह जो कुछ भी मूर्तिमान् जगत् दृष्टिगोचर होता है ज्ञानस्वरूप आप ही का रूप है। अजितेन्द्रिय लोग भ्रम से इसे जगतरूप देखते हैं। इस सम्पूर्ण ज्ञानस्वरूप जगत को बुद्धिहीन लोग अर्थरूप देखते हैं अतः वे निरन्तर मोहमय संसारसागर में भटका करते हैं। जो लोग शुद्धचित्त और विज्ञानवेत्ता हैं वे इस संपूर्ण संसार को अपना ज्ञानात्मक स्वरूप ही देखते हैं[४३]।

पुराण में प्रतिपादन है कि सृष्टि-रचना में भगवान् तो केवल निमित्तमात्र हैं, क्योंकि उस (रचना) का प्रधान कारण तो सृज्य पदार्थों की शक्तियाँ ही हैं। वस्तुओं की रचना में निमित्तमात्र को छोड़कर और किसी बात की आवश्यकता भी नहीं है, क्योंकि वस्तु तो अपनी ही शक्ति से वस्तुता को प्राप्त हो जाती है। इस प्रतिपादन से निष्कर्ष यह निकलता है कि ईश्वर तो केवल रूपनिर्माता प्रतिनिधिमात्र लक्षित होता है, यथार्थ भौतिक कारण तो सृज्य पदार्थों की अपनी ही शक्तियाँ हैं, ईश्वर का तो केवल प्रभाव और विद्यमानता

४०. वही १।२।५९-६०
४१. वही १।२।६३ और ६५
४२. वही १।३।१-२
४३. वही १।४।३९–४१

मात्र रहती है। टीकाकार श्रीधर स्वामी का प्रतिपादन है कि जिस प्रकार तृणादि के बीजों में स्थित अंकुरादि मेघ के सान्निध्य में अपनी ही शक्ति से परिणत होता है उसी प्रकार ब्रह्मा सृज्य पदार्थों की सृष्टिक्रिया में पर्जन्य के समान साधारण कारणमात्र हैं[४४]। एक अन्य स्थल पर कहा गया है कि सिसृक्षा-शक्ति से युक्त ब्रह्मा सृज्य शक्ति की प्रेरणा से कल्पों के आरंभ में बार-बार इसी प्रकार सृष्टि की रचना किया करते हैं। श्रीधर स्वामी के मत से ईश्वर का केवल सान्निध्यमात्र ही अपेक्षित रहता है। पुराण में सृष्टि के सम्बन्ध में एक अन्य ही विवरण उपलब्ध होता है: सर्ग के आदि में ब्रह्मा के पूर्ववत् सृष्टि का चिन्तन करने पर प्रथम अबुद्धिपूर्वक तमोगुणी सृष्टि का आविर्भाव हुआ। उस महात्मा से प्रथम तमस् (अज्ञात), मोह, महामोह (भोगेच्छा), तामिस्र (क्रोध) और अन्धतामिस्र (अभिनिवेश) नामक पंचपर्वा अविद्या उत्पन्न हुई। उसके ध्यान करने पर ज्ञानशून्य, बाहर-भीतर से तमोमय और जड नगादि स्थावर (वृक्ष-गुल्म-लता-वीरुत्-तृण) रूप पाँच प्रकार का सर्ग हुआ। उस सृष्टि को पुरुषार्थ की असाधिका देखकर तिर्यक्-स्रोत-सृष्टि उत्पन्न की। यह सर्ग तिरछा चलने वाला है इसलिए तिर्यक् स्रोत कहलाता है। ये पशु-पक्षी आदि प्रायः तमोमय (अज्ञानी) अवेदिन् (विवेकरहित) हैं और विपरीत ज्ञान को ही यथार्थ ज्ञान मानने वाले हैं[४५]।

उपर्युक्त अवेदिन् शब्द के अर्थप्रकाशन में टीकाकार श्रीधर स्वामी का कथन है कि पशु-पक्षियों को केवल खाने का ही ज्ञान होता है (अतः वे अवेदिन् कहे जाते हैं), किन्तु कलात्मक या काल्पनिक ज्ञान का उनमें अभाव रहता है—वे अपने अतीत, वर्त्तमान और भविष्य अनुभवों का विकास नहीं कर सकते और वे अपने ज्ञान को प्रकाशित भी नहीं कर सकते। उन्हें लौकिक और पारलौकिक सुखसाधन का भी ज्ञान नहीं। वे आचार-विचार तथा धर्माधर्म के ज्ञान से रहित हैं। उन्हें स्वच्छता का भी ज्ञान नहीं। अपनी अज्ञानता को ही सच्चा ज्ञान समझ कर वे सन्तुष्ट रहते हैं। किसी विशिष्ट ज्ञान की भी उन्हें चिन्ता नहीं रहती।

ये सब अहंकारी, अभिमानी अट्ठाईस वधों से युक्त आन्तरिक सुख को ही समझने वाले और परस्पर एक दूसरे की प्रवृत्ति को न जानने वाले हैं[४५]। वध शब्द अशक्ति का पर्यायवाचक है। सांख्य दर्शन में अट्ठाईस वधों की चर्चा है—पञ्च कर्मेन्द्रिय, पञ्च ज्ञानेन्द्रिय और मन—ये ग्यारह इन्द्रियवध एवं तुष्टि और सिद्धि के विपर्यय से सत्रह बुद्धि-वध—ये समस्त अट्ठाईस

४४. वही १।४।५१-५२

४५. वही १।५।४-११

वध अशक्ति कहे जाते हैं[४६]। अपने पौराणिक वधों का प्रसंग स्पष्टतः सांख्य दर्शन के पारिभाषिक वधों को लक्षित करता है। यहाँ निश्चित रूप से अवगत होता है कि विष्णुपुराण के युग में उपर्युक्त सांख्य का पारिभाषिक नाम पूर्ण रूप से प्रचार में आचुका था। इससे यह भी ध्वनित होता है कि अपना पुराण सांख्य दर्शन के विचार क्षेत्र से सम्यक् रूपेण सम्बद्ध था इस लिये कि वध शब्द का संकेत मात्र ही सांख्यवध के प्रसंग के लिये पर्याप्त था। डॉ० नुरेन्द्रनाथ दासगुप्त के मत से विष्णुपुराण प्रायः ईसा की तृतीय शताब्दी की रचना है और ईश्वरकृष्ण की सांख्य कारिका की रचना लगभग उसी समय में हुई थी। मार्कण्डेय पुराण (अ० ४४ श्लो० २०) में 'अष्टाविंशद्विधात्मिका'—यह पाठ है। और 'वाधान्विता'—ऐसा पाठ न तो मार्कण्डेय पुराण में पाया जाता है और न पद्मपुराण (१३।६५) में ही। अत एव अनुमित होता है कि मार्कण्डेय पुराण में वर्णित "अट्ठाईस प्रकार" तृतीय शताब्दी में रचित सांख्य के ही प्रभाव से "अट्ठाईस प्रकार के वध" के रूप में परिणत कर दिये गये हों। डॉ० दासगुप्त के मत से मार्कण्डेय पुराण की रचना ई० पू० द्वितीय शताब्दी में अनुमित है। अतः यह अनुमान करना सुगम नहीं कि अट्ठाईस प्रकार के पशुओं की सृष्टि मार्कण्डेय पुराण को अपेक्षित हुई होगी। किन्तु सांख्य-सम्मत अट्ठाईस प्रकार के वधों के साथ इनका परिचय एकान्त असंभव प्रतीत होता है[४७]।

---

४६. १. बाधिर्य (बहिरापन), २. कुण्ठिता (स्पर्शन शक्ति का नाश), ३. अन्धत्व (अन्धापन), ४. जडता (जिह्वा शक्ति का नाश), ५. अजिघ्रता (घ्राणेन्द्रिय की विकलता), ६. मूकता (गूंगापन), ७. कौण्य (लूलापन), ८. पंगुत्व (लंगड़ापन), ९. क्लैब्य (नपुंसकता), १०. उदावर्त (पुरीषशक्ति का नाश) तथा ११ मन्दता (मानसिक शक्ति का नाश) ऐसे ग्यारह इन्द्रियवध हैं जिनसे बुद्धिवध होने के कारण ग्यारह प्रकार के तथा नौ प्रकार की तुष्टि के और आठ प्रकार सिद्धि के विपर्यय (विपरीतता) से होने वाले स्वरूप से बुद्धि के वध सत्रह होते हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण मिलाकर अट्ठाईस बुद्धि के वधों को ही सांख्यशास्त्र में अट्ठाइस प्रकार की अशक्ति माना गया है :—

एकादशेन्द्रियवधाः सह बुद्धिवधैरशक्तिरुद्दिष्टा।
सप्तदश वधा बुद्धेर्विपर्ययात् तुष्टिसिद्धीनाम्॥—सा० का० ४९

४७. हि० इ० फि० ५०१, पा० टी० १

इस (तिर्यक् स्रोत) सर्ग को भी पुरुषार्थ का असाधक समझ कर परमेश्वर ने देवताओं को उत्पन्न किया। वे ऊर्ध्व-स्रोत सृष्टि में उत्पन्न प्राणी विषय-सुख के प्रेमी बाह्य और आन्तरिक दृष्टिसम्पन्न अथवा बाह्य और आन्तरिक ज्ञानयुक्त थे पुनः इस देव सर्ग को भी पुरुषार्थ का असाधक जान परमेश्वर ने पुरुषार्थ के साधक मनुष्यों की सृष्टि की। इस सर्ग के प्राणी नीचे (पृथिवी पर) रहते हैं इस लिए वे 'अर्वाक्-स्रोत' कहे जाते हैं। उनमें सत्त्व, रजस् और तमस्—तीनों की ही अधिकता होती है। अत एव वे दुःखबहुल, अतिशय क्रियाशील एवं बाह्य-आभ्यन्तर ज्ञान से सम्पन्न और साधक हैं[४८]। इस प्रकार नवधा सृष्टि का विवरण उपलब्ध होता है। छह प्रकार की सृष्टि का वर्णन हो चुका। यथा—ब्रह्मा का प्रथम सर्ग महत्तत्त्व सर्ग है। द्वितीय सर्ग तन्मात्राओं का है, जिसे भूतसर्ग भी कहा जाता है। तृतीय वैकारिक सर्ग है, जो ऐन्द्रियिक (इन्द्रिय सम्बन्धी) कहा जाता है। चतुर्थ मुख्य सर्ग है—इसके अन्तर्गत पर्वत-वृक्षादि हैं। पञ्चम तिर्यक् स्रोत सर्ग है—इसके अन्तर्गत कीट-पतंगादि आते हैं। षष्ठ ऊर्ध्व स्रोतःसर्ग है, जिसे देवसर्ग भी कहा जाता है। सप्तम अर्वाक् स्रोताओं का सर्ग है—यह मनुष्य सर्ग है। अष्टम अनुग्रह सर्ग है। टीकाकार श्रीधर स्वामीने अनुग्रह सर्ग को वायुपुराण के अनुसार चार भागों में व्यवस्थित किया है। यथा—वृक्षों में, पशुपक्षियों में, देवों में और मनुष्यों में[४९]। वृक्षों में अज्ञानता है, पशुओं में केवल शारीरिक बल है, देवगणों में एकान्त सन्तोष है और मनुष्यों में अन्तिम और उच्चतम लक्ष्य पर पहुँचने की भावना है। नवम कौमार सर्ग है जो प्राकृत और वैकृत भी है। श्रीधर स्वामी के मत से कौमार सर्ग सनत्कुमार आदि भगवान् (ब्रह्मा) के मानस पुत्रों का सर्ग है[५०]।

प्रलय—पुराण में प्रलय के चार प्रकार वर्णित हुए हैं। यथा—नैमित्तिक (ब्राह्म), प्राकृतिक, आत्यन्तिक और नित्य। नैमित्तिक प्रलय उस अवस्था का नाम है, जिसमें ब्रह्मारूपी भगवान् सो जाते हैं। प्राकृतिक प्रलय उसे कहते हैं,

---

४८. तु० क० १।५।१६-१८

४९. अष्टमोऽनुग्रहः सर्गः स चतुर्धा व्यवस्थितः।
विपर्ययेण वा शक्त्या सिद्धया तुष्टया तथैव च॥
स्थावरेषु विपर्यासात्तिर्यग्योनिष्वशक्तितः।
सिद्धयात्मना मनुष्येषु तुष्ट्या देवेषु कृत्स्नशः॥
—वा० पु० ६।६८

५०. तु० क० १।५।१९-२५

जब सम्पूर्ण विश्व प्रकृति में लीन हो जाता है। आत्यन्तिक प्रलय उस अवस्था का परिणाम है जो सनातन ब्रह्म में लयरूप मोक्ष ही है[५१]। चतुर्थ प्रलय नित्य सृष्टि का उपसंहार ही है[५२]।

कालमान

पुराण में निमेष आदि कालमान का विवेचन क्रमिक और वैज्ञानिक पद्धति पर सम्पन्न हुआ है। कालमान के प्रतीक रूप निमेष, काष्ठा, कला, नाडिका, मुहूर्त, अहोरात्र, मास, अयन, वर्ष, दिव्य वर्ष, युग, मन्वन्तर और कल्प—पारिभाषिक नामों का विचार हुआ है। निमेष के परिमाण के सम्बन्ध में कथन है कि एकमात्रिक अक्षर के उच्चारण में जितना समय लगता है उतने समय को निमेष अथवा मात्रा कहते हैं। इस प्रकार पन्द्रह निमेषों की एक काष्ठा होती है, तीस काष्ठाओं की एक कला और पन्द्रह कलाओं की एक नाडिका होती है। नाडिका के परिमाण के विषय में कहा गया है कि साढ़े बारह पल ताम्रनिर्मित जलपात्र से इस का ज्ञान किया जा सकता है। मगध देशीय माप से वह पात्र जलप्रस्थ कहा जाता है। उसमें चार अंगुल लम्बी चार मासे की सुवर्ण-शलाका से छिद्र किया रहता है [उसके छिद्र को ऊपर कर जल में डुबो देने से जितनी देर में वह पात्र जल से भर जाय उतने ही समय को एक नाडिका समझनी चाहिये] ऐसी दो नाडिकाओं का एक मुहूर्त होता है और तीस मुहूर्तों का एक अहोरात्र। उतने (तीस) ही अहोरात्रों का द्विपाक्षिक एक मास निर्धारित हुआ है। छः मासों का एक अयन—दक्षिणायन तथा उत्तरायन माना गया है। दक्षिणायन देवरात्रि है और उत्तरायन देवदिन। दो अयन मिल कर एक मानव वर्ष होता है। देवलोक में यही मानव वर्ष एक अहोरात्र के तुल्य होता है। ऐसे तीन सौ साठ वर्षों का एक दिव्य वर्ष माना गया है तथा बारह सहस्र दिव्य वर्षों का एक चतुर्युग (सत्य, त्रेता, द्वापर और कलि) परिमित है। पुरातत्त्ववेत्ताओं के मत से सत्ययुग का कालमान चार सहस्र दिव्य वर्ष, त्रेतायुग का तीन सहस्र, द्वापरयुग का दो सहस्र और कलियुग का एक सहस्र दिव्य वर्ष है। इस निर्धारण से चतुर्युग का कालमान दो सहस्र वर्ष न्यूनतर होकर बारह के स्थान में केवल दश सहस्र वर्ष ही सिद्ध होता है, किन्तु प्रत्येक युग के पूर्व और पश्चात् क्रमशः चार, तीन, दो और एक दिव्य वर्षों की संध्या और इतने ही परिमाण का संध्यांश होता है अर्थात् सत्ययुग के पूर्व चार सौ दिव्य वर्षों की संध्या और पश्चात् उतने ही परिमाण

५१. वही ६।८।१

५२. वही १।७।४१-४३

का संध्यांश होता है, त्रेता युग के पूर्व तीन सौ दिव्य वर्षों की संध्या और पश्चात् उतने ही परिमाण का संध्यांश, द्वापर युग के पूर्व दो सौ दिव्य वर्षों की संध्या और पश्चात् उतने ही परिमाण का संध्यांश एवं कलियुग के पूर्व एक सौ दिव्य वर्षों की संध्या और उतने ही परिमाण का संध्यांश होता है। इस प्रकार प्रत्येक युग के साथ संध्या और संध्यांश मान के योग से चतुर्युग का कालमान बारह सहस्र दिव्य वर्षों का निष्पन्न हो जाता है और ऐसे एक सहस्र चतुर्युग ब्रह्मा के एक दिन का परिमाण है। ब्रह्मा के ऐसे पूरे एक दिन की संज्ञा कल्प है। एक कल्प में क्रमशः मनु हो जाते हैं और एक कल्प के अन्त में ब्रह्मा का नैमित्तिक प्रलय होता है। इकहत्तर चतुर्युग से कुछ अधिक काल का एक मन्वन्तर गिना जाता है। दिव्य वर्ष-गणना से एक मन्वन्तर में आठ लाख बावन हजार वर्ष निर्दिष्ट किये गये हैं तथा मानव वर्ष-गणना के अनुसार मन्वन्तर का परिमाण पूरे तीस करोड़, सरसठ लाख बीस हजार वर्ष है, इस से अधिक नहीं[५३]।

निम्नाङ्कित सारिणियों से कालमान का अवबोध सम्यक् रूप से स्पष्टीकृत हो जाता है :

१ साधारण सारिणी

१५ निमेष (मात्रा)	१	काष्ठा
३० काष्ठा	,,	कला
१५ कला	,,	नाडिका
२ नाडिका	,,	मुहूर्त
३० मुहूर्त	,,	अहोरात्र
३० अहोरात्र	,,	मास (द्विपाक्षिक)
६ मास	,,	अयन
२ अयन	,,	वर्ष (मानव)
१ वर्ष (मानव)	,,	अहोरात्र (दिव्य)
३६० वर्ष (मानव)	,,	वर्ष (दिव्य)
१२००० वर्ष	,,	चतुर्युग (सत्य, त्रेता, द्वापर और कलि)
७१ चतुर्युग (से कुछ अधिक)	,,	मन्वन्तर
१००० चतुर्युग	,,	कल्प (ब्रह्मा का एक दिन)

५३. तु० क० १।३ और ६।३।६–१२

२ चतुर्युगमान सारिणी

१	२	३	४	५	६	७	८	९
युगः-	दिव्य वर्ष	संध्या	संध्यांश	योग	मानव वर्ष (दिव्य वर्ष)	संध्या	संध्यांश	वर्षों का योग
सत्य	४०००	४००	४००	४८००	१४४००००	१४४०००	१४४०००	१७२८०००
त्रेता	३०००	३००	३००	३६००	१०८००००	१०८०००	१०८०००	१२९६०००
द्वापर	२०००	२००	२००	२४००	७२००००	७२०००	७२०००	८६४०००
कलि	१०००	१००	१००	१२००	३६००००	३६०००	३६०००	४३२०००
योग	१००००	१०००	१०००	१२०००	३६००००००	३६० ००	३६००००	४३२००००

अपने पुराण में अतीत, वर्तमान और भावी चौदह मनु (मन्वन्तरों) ओं का विवरण मिलता है[५४]। यथा—

अतीत	वर्तमान	भावी
(१) स्वायम्भुव	(७) वैवस्वत	(८) सावर्णि
(२) स्वारोचिष		(९) दक्ष सावर्णि
(३) उत्तम		(१०) ब्रह्म सावर्णि
(४) तामस		(३१) धर्म सावर्णि
(५) रैवत		(११) रुद्र सावर्णि
(६) चाक्षुष		(१३) रुचि
		(१४) भौम

देवमण्डल—उपर्युक्त प्रत्येक मन्वन्तर में पृथक्-पृथक् देवगणों का प्रसंग आया है। प्रथम स्वायम्भुव मन्वर में यज्ञ (पति) के दक्षिणा (पत्नी) से उत्पन्न बारह पुत्र याम नामक देव हुए[५५]। द्वितीय स्वारोचिष मन्वन्तर में पारावत और तुषितगण देवता थे। तृतीय उत्तम के मन्वन्तर में सुधाम, सत्य, जय, प्रतर्दन और वशवर्त्ती—ये पांच बारह-बारह देवताओं के गण थे। चतुर्थ तामस मन्वन्तर में सुपार, हरि, सत्य, और सुधि—ये चार देववर्ग थे और इनमें से प्रत्येक वर्ग में सत्ताईस-सत्ताईस देवगण थे। पञ्चम रैवत मन्वन्तर में चौदह-चौदह देवताओं के अमिताभ, भूतरय वैकुण्ठ और सुमेधा गण थे। षष्ठ चाक्षुष मन्वन्तर में आप्य, प्रसूत, भव्य, पृथुक और लेख—ये पाँच देवगण थे। वर्तमान सप्तम वैवस्वत मन्वन्त में आदित्य, वसु और रुद्र

५४. वही ३।१–२
५५. वही १।७।२१

आदि देवगण हैं[५६]। भावी अष्टम सार्वणि मन्वन्तर में सुतप, अमिताभ और मुख्य गण देवता होंगे। नवम/दक्ष सार्वणि के मन्वन्तर में पार, मरीचिगर्भ और सुधर्मा नामक तीन देववर्ग होंगे और प्रत्येक वर्ग में बारह-बारह देवता होंगे। दशम ब्रह्म सावर्णि के मन्वन्तर में सुधामा और विशुद्ध नामक सौ-सौ देवताओं के दो गण होंगे। एकादश धर्म सावर्णि के मन्वन्तर में विहंगम, कामगम और निर्वाणरति नामक मुख्यदेवगणों में से प्रत्येक में तीस-तीस देवता होंगे। द्वादश रुद्र सावर्णि के मन्वन्तर में दश-दश देवताओं के हरित, रोहित, सुमना, सुकर्मा और सुराप नामक पाँच देवगण होंगे। त्रयोदश रुचि के मन्वन्तर में सुत्रामा, सुकर्मा और सुधर्मा नामक देवगणों में से प्रत्येक में तैंतीस-तैंतीस देवता रहेंगे[५७]। और अन्तिम भौम नामक मन्वन्तर में चाक्षुष, पवित्र, कनिष्ठ, भ्राजिक और वाचावृद्ध नामक देवगण होंगे[५८]।

ऋग्वेद में युग शब्द का प्रयोग बहुधा एक 'पीढ़ी' के द्योतक रूप में हुआ है, किन्तु एक स्थल पर "दीर्घतमस्" के लिए "दशमे युगे" व्याहृति का अर्थ जीवन का दशम दशक अपेक्षित हुआ है। वैदिक साहित्य में कलि, द्वापर, त्रेता और कृत नामक चार युगों का कोई निश्चित सन्दर्भ नहीं है, यद्यपि वहां यह शब्द पासे की फेंकों के नाम के रूप में आते हैं। ऐतरेय ब्राह्मण (७।१५।४) में ये नाम तो आते हैं, किन्तु इनसे वस्तुतः युगों का ही तात्पर्य होना निश्चित नहीं। षड्विंश ब्राह्मण (५।६) में पुष्य, द्वापर, खार्वा और कृत नामक चार युगों का तथा गोपथ ब्राह्मण में द्वापर का उल्लेख है[५९]। मनु को ऋग्वेद अथवा पश्चात्कालीन वैदिक साहित्य में भी कोई ऐतिहासिकता नहीं दी जा सकती है। यह केवल प्रथम मनुष्य और मानव जाति तथा यज्ञ और अन्य विषयों का मार्गदर्शक है। अतः मूल ग्रन्थों में वंशानुक्रमसम्बन्धी दृष्टिकोणों को मनु और उसके कनिष्ठ पुत्र नाभानेदिष्ट पर आरोपित कर दिया गया है। जलप्लावन की वैदिक कथा में भी यह नायक के रूप में आता है[६०]। मन्वन्तर शब्द का प्रयोग वेदों में उपलब्ध नहीं होता। ऋग्वेद (१०।६२।९ और ११) में सावर्ण्य के साथ सावर्णि शब्द एक पैत्रिक नाम के रूप में मिलता है। किन्तु यह भी स्पष्ट है कि "सवर्ण" नामक किसी भी व्यक्ति का कभी भी कोई अस्तित्व नहीं

---

५६ तु० क० ३।१।१०-३१

५७. वही ३।२।१५-३७

५८. वही ३।२।४१-४२

५९ वै० इ० २।२१४-५

६० वही २।१४४-५

था[६१]। जहाँ तक हम समझते हैं वैदिक साहित्य में कल्प शब्द का प्रयोग काल मापक रूप में अप्राप्य है। तैत्तिरीय आरण्यक (२।१०) में प्रयुक्त कल्प शब्द कल्पसूत्र का द्योतक प्रतीत होता है[६२]। गीता अवश्य ही सृष्टि और संहार काल के मापक कल्प शब्द से परिचित प्रतीत होती है[६३]। बौद्ध साहित्य में बहुधा कालचक्र के द्योतक रूप में "कप्प" शब्द का प्रयोग हुआ है। बौद्ध साहित्य में महाकल्प, असंख्येयकल्प और अनन्तकल्प शब्दों का विवरण आया है। वहाँ जो "कप्प" शब्द प्रयुक्त हुआ है वह ऐहिक जीवन से सम्बद्ध है[६४]। उत्तराध्ययन आदि जैन साहित्य में "कल्प" शब्द का प्रसंग है और वह केवल कतिपय शताब्दियों के ही द्योतक रूप में, किन्तु पुराण में प्रतिपादित कल्प एक कल्पनातीत महान् अनन्त काल की अवधि के द्योतक के रूप में है[६५]।

आचार-मीमांसा

विष्णुपुराण में भक्ति, ज्ञान और कर्म—समस्त यौगिक विषयों का विवेचन हुआ है। सभी मार्गों के पथिकों को इसमें यथेष्ट सम्बल-सामग्रियों की उपलब्धि हो सकती है किन्तु ज्ञान और कर्म के समान भक्तियोग का भी विशेष रूप से महत्त्व प्रदर्शित किया गया है। यम अपने दूत को विष्णुभक्त के लक्षण प्रतिपादन में कहता है—"जो पुरुष अपने वर्णधर्म से विचलित नहीं होता, अपने मित्र और शत्रु के प्रति समान भाव रखता है, बलात्कार से किसी का धन अपहरण नहीं करता और न किसी जीव की हिंसा ही करता है उस निर्मलचित्त व्यक्ति को भगवान् विष्णु का भक्त जानो। जिस निर्मलमति का चित्त कलिक-ल्मषरूप मल से मलिन नहीं हुआ और जिसने अपने हृदय में सर्वदा भगवान् को बसा रखा है उस मनुष्य को भगवान् का परम भक्त समझो। जो एकान्त में पड़े हुए दूसरे के सोने को अपनी बुद्धि के द्वारा तृण के समान समझता है और निरन्तर अनन्य भाव से भगवान् का चिन्तन करता है उस नरश्रेष्ठ को विष्णु का भक्त जानो[६६]। पुनः एक प्रसंग पर कहा गया है कि जिसका हृदय

---

६१. वही २।४९५
६२. वही १।१५८
६३. ८।१७
६४. पा० ई० डि० कप्प
६५. सैक्रेड ४५।१६
६६. तु० क० ३।७।२०-२२

निरन्तर भगवत्परायण रहता है उसका यम, यमदूत, यमपाश, यमदण्ड और यमयातना कुछ भी अनिष्ट नहीं कर सकते[६७]।

विष्णुपुराण में बहुधा भक्ति के उदाहरण दृष्टिगोचर होते हैं। जब भगवान् प्रह्लाद से कहते हैं—"हे प्रह्लाद, मैं तेरी अनन्य भक्ति से अति प्रसन्न हूँ तुझे जिस वर की इच्छा हो, मुझसे मांग ले"। तब प्रह्लाद कहते हैं—"हे नाथ, सहस्रों योनियों में से मैं जिस-जिस में जाऊँ उसी-उसी में हे अच्युत, आप में मेरी सर्वदा अक्षुण्ण भक्ति रहे। अविवेकी पुरुषों को विषयों में जैसी अविचल प्रीति होती है वैसे ही आप का स्मरण करते हुए मेरे हृदय से वह (भक्ति) कभी दूर न हो[६८]। इसके पश्चात् भी जब भगवान् ने प्रह्लाद से और मनोवांछित वर मांगने के लिए बार-बार आग्रह किया तब प्रह्लाद ने कहा—"भगवन्, मैं तो आप के इस वर से ही कृतकृत्य हो गया कि आप की कृपा से आप में मेरी निरन्तर अविचल भक्ति रहेगी। हे प्रभो, सम्पूर्ण जगत् के कारणरूप आप में जिसकी निश्चल भक्ति है, मुक्ति भी उसकी मुट्ठी में रहती है। फिर धर्म, अर्थ और काम से तो उसका प्रयोजन ही क्या रह जाता है[६९]।

इस प्रसंग से ध्वनित होता है कि परम तत्त्व को प्राप्त करने के लिए भक्ति से बड़ा अन्य कोई साधन नहीं है। भक्ति की तुलना में धर्म, अर्थ और काम का तो कोई मूल्य ही नहीं है। इस साधन के द्वारा जो सर्वश्रेष्ठ—परम तत्त्व है वह भी साधक के सर्वतोभावेन अधिकार में आ जाता है। फिर शेष ही क्या रह गया?

श्रीमद्भगवद्गीता में अर्जुन को उपदेश देते हुए भक्ति की महिमा में भगवान् कृष्ण कहते हैं कि जो अनन्य प्रेमी भक्तजन मुझ (परमेश्वर) को निरन्तर चिन्तन करते हुए निष्काम भाव से भजते हैं उन पुरुषों का योग-क्षेम मैं स्वयं प्राप्त कर लेता हूँ[७०]। पुनः एक अन्य स्थल पर अर्जुन के प्रति भगवान् का

---

६७. किङ्कराः पाशदण्डाश्च न यमो न च यातनाः।
समर्थास्तस्य यस्यात्मा केशवालम्बनस्सदा॥ —३।७।३८

६८. १।२०।१७-१९

६९. कृतकृत्योऽस्मि भगवन्वरेणानेन यत्त्वयि।
भवित्री त्वत्प्रसादेन भक्तिरव्यभिचारिणी॥
धर्मार्थकामैः किं तस्य मुक्तिस्तस्य करे स्थिता।
समस्तजगतां मूले यस्य भक्तिः स्थिरा त्वयि॥ —१।२०।२६-२७

७०. अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥ —९।२२

कथन है—"सम्पूर्ण धर्मों – कर्त्तव्य कर्मों को त्याग कर तू केवल एक मुझ सर्वाधार परमेश्वर की शरण में आजा, मैं तुझे सम्पूर्ण पापों से मुक्त कर दूँगा, तू शोक मत कर[७१]"

पद्मपुराण (उ० ९४) में भक्ति की सर्वोत्कृष्टता के विषय में अपने भक्त नारद मुनि से भगवान् विष्णु ने कहा है—"मैं न तो वैकुण्ठ में निवास करता हूँ और न योगियों के हृदय में ही। जहाँ मेरे भक्त मेरा भक्तिगान करते हैं मेरा वही सच्चा निवास है। उन मेरे भक्तों का ही मनुष्य जो गन्ध-पुष्पादि के द्वारा पूजन अर्चन करते हैं, उस पूजन से जो मुझे सन्तुष्टि होती है, वह मेरे पूजन से नहीं। जो मेरी पुराण-कथा का श्रवण तो करते हैं किन्तु मेरे भक्तों के गान की निन्दा करते हैं वे मूढ़ मेरे द्वेषी हैं[७२]।

नवधा भक्ति—अपने पुराण में भक्ति के प्रकार का प्रतिपादन तो स्पष्ट रूप में नहीं हुआ है; किन्तु न्यूनाधिक मात्रा में प्रत्येक भक्ति की चरितार्थता हो जाती है। भागवतपुराण में वर्णन है कि जब हिरण्यकशिपु ने अपने पुत्र प्रह्लाद से उसके द्वारा पठित कतिपय श्लोकों की आवृत्ति करने और उनके सारांश कहने को कहा तब उस (प्रह्लाद) ने "नवधा भक्ति" का प्रतिपादन किया। यथा–(१) श्रवण, (२) कीर्तन, (३) स्मरण, (४) पादसेवन, (५) अर्चन, (६) वन्दन, (७) दास्य, (८) सख्य और (९) आत्मनिवेदन[७३]।

---

७१. सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥ — १८।६६

७२. नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न वै।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद॥
तेषां पूजादिकं गन्धपुष्पाद्यैः क्रियते नरैः।
तेन प्रीतिं परां याति न तथा मत्प्रपूजनात्॥
मत्पुराणकथां श्रुत्वा मद्भक्तानाञ्च गायनम्।
निन्दन्ति ये नरा मूढास्तेमद्द्वेष्या भवन्ति हि॥

कल्याण (सन्तवाणी अंक) २७

७३. श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥
इति पुंसर्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणा।
क्रियते भगवत्यद्धा तन्मन्येऽधीतमुत्तमम्॥

—भा० पु० ७।५।२३–२४

श्रवण—भगवान् के नाम, चरित्र एवं गुणादि के श्रवण को श्रवणभक्ति कहा गया है[७४]। प्रथम हमें विष्णुके विषय में श्रवण करना है और यही नवधा भक्ति का प्रथम सोपान है, जिसके द्वारा हमें आगे बढ़ना है। 'विष्णु' शब्द से किसी साम्प्रदायिक देवविशेष की ओर संकेत नहीं है किन्तु यह शब्द व्याप्त्यर्थंक 'विष्' मूल धातु से व्युत्पन्न हुआ है अतः इस (शब्द) का 'सर्वव्यापक' शब्दार्थ ही प्रकट होता है। अपने पुराण में कथन है कि पुराण-श्रवण से मनुष्य समस्त पापों से मुक्त हो जाता है। बारह वर्ष तक कार्तिक मास में पुष्कर क्षेत्र में स्नान करने से जो फल होता है, वह सब मनुष्य को पुराण के श्रवणमात्र से मिल जाता है[७५]। पराशर का कृष्ण के चरित्रमय पुराण श्रवण के महिमावर्णन में कथन है कि अश्वमेध यज्ञ में अवभृथ (यज्ञान्त) स्नान करने से जो फल मिलता है वही फल इस (पुराण) को श्रवण कर मनुष्य प्राप्त कर लेता है। प्रयाग, पुष्कर, कुरुक्षेत्र तथा समुद्र-तट पर रहकर उपवास करने से जो फल किलता है वही इस पुराण को सुनने से प्राप्त होता है। एक वर्ष नियमानुसार अग्निहोत्र करने से मनुष्य को जो महान् पुण्यफल मिलता है वही इसे केवल एक बार सुनने से प्राप्त हो जाता है। ज्येष्ठ शुक्ल द्वादशी के दिन मथुरापुरी में यमुनास्नान कर कृष्ण का दर्शन करने से जो फल मिलता है वही कृष्ण में चित्त लगाकर इस पुराण के एक अध्याय को सावधानतापूर्वक सुनने से मिल जाता है[७६]। पुराण में जिस प्रकार भगवान् के चरित्र-श्रवण का माहात्म्य विवृत हुआ है उसी प्रकार भगवद्भक्तों के चरित्रश्रवण की महिमा भी दृष्टिगोचर होती है। पराशर मुनि का कथन है कि महात्मा प्रह्लाद के चरित्रश्रवण से मनुष्य का पाप शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। जिस प्रकार विष्णु ने प्रह्लाद की सम्पूर्ण आपत्तियों से रक्षा की थी उसी प्रकार वे सर्वदा उस की भी रक्षा करते हैं जो उनका चरित्र सुनता है[७७]। श्रीमद्भागवत पुराण के अनेक स्थलों पर श्रवण भक्ति के उदाहरण विवृत हुए हैं[७८]। गंभीर अनुसन्धान के द्वारा वैदिक साहित्य में भी श्रवण भक्ति का सांकेतिक विवरण उपलब्ध हो सकता है।

---

७४. श्रवणं नामचरितगुणादीनां श्रुतिर्भवेत्।

—कल्याण (साधनाङ्क) १०९

७५. तु० क० १।२२।८८–८९

७६. तु० क० ६।८।२८–३२

७७. वही १।२०।३६–३९

७८. तु० क० ३।५।४५–४६, ३।९।५, ४।२०।२४ और १२।४।४० आदि।

यथा—कानों से हम कल्याणमय वचन का श्रवण करें। कल्याणकारी भगवान् का यशःश्रवण करें[७९]।

श्रवणभक्ति के "विवेचन में श्रीप्रेम (Nixon) का मत है कि विष्णु की विशिष्ट आकृति—शंखचक्रगदापद्मधारी रूप—मूर्त रूप से श्रवण का तात्पर्य नहीं है, अपितु पुराण में वर्णित विष्णु की नित्यता, परम सत्ता—सनातन ज्ञानतत्त्व वा उपनिषद्वर्णित अद्वितीय ब्रह्म (परमात्मा) के विषय में अन्तःकरण से श्रवण करना है। शास्त्रों में अथवा आप्त अर्थात् तत्त्वज्ञानी व्यक्तियों से भगवान् की नित्य सत्ता के विषय में श्रवण अर्थात् धारण करना ही श्रवण भक्ति का अभिप्राय है[८०]। कीर्तन—परमात्मा की नित्य सत्ता में श्रवण की निष्ठा हो चुकने के अनन्तर भक्ति की दूसरी अवस्था भगवान् की स्तुति का कीर्तन है।

कीर्तन—नाम, लीला और गुण आदि के उच्चस्वर से उच्चारण करने का नाम कीर्तन भक्ति है[८१]। कीर्तन के महिमावर्णन में साक्षात् भगवान् ध्रुव से कहते हैं—"जो लोग समाहित चित्त से प्रातः और सायंकाल में तेरा गुणकीर्तन करेंगे उनको महान् पुण्य होगा[८२]। जो व्यक्ति ध्रुव के दिव्यलोक प्राप्ति सम्बन्धी इस प्रसंग का कीर्तन करता है वह अशेष पापों से मुक्त होकर स्वर्गलोक में पूजित होता है[८३]। जो फल सत्य युग में ध्यान, त्रेता में यज्ञ और द्वापर में देवार्चन करने से प्राप्त होता है वही कलियुग में भगवान् के नाम कीर्तन से मिल जाता है[८४]। अन्य एक प्रसंग पर कथन है कि जिन के नाम का विवश होकर कीर्तन करने से भी मनुष्य समस्त पापों से इस प्रकार मुक्त हो जाता है जिस प्रकार सिंह से भीत वृक। जिनका भक्तिपूर्वक किया हुआ नामकीर्तन सम्पूर्ण धातुओं के पिघलाने वाले अग्नि के समान समस्त पापों का विलयन (लीन कर देने वाला) है[८५]।

---

७९. भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम। —ऋ० वे० १।८९।८ और
भद्रं श्लोकं श्रूयासम्। —अ० वे० १६।२।४

८०. स० फॉ० टू० २८-२९

८१. नामलीला गुणादीनामुच्चैर्भाषा तु कीर्त्तनम्।
—कल्याण (साधनांक) १०९

८२. १।१२।९५

८३. तु० क० १।१२।१०२

८४. वही ६।२।१७

८५. वही ६।८।१९-२०

गीता में कृष्ण ने एकाक्षर (ॐ रूप) ब्रह्म के उच्चारण के साथ देहत्यागकारी के लिए परम गति प्रतिपादित की है[८६]। पतञ्जलि ने प्रणव (ॐ) के जपरूप कीर्तन की विधेयता विवृत की है[८७]। श्रीमद्भागवत पुराण में तो कीर्तन के बहुधा प्रसंग मिलते है[८८]।

इस सम्बन्ध में अपना मत व्यक्त करते हुए श्रीकृष्ण प्रेम कहते हैं कि जब हम किसी रोचक समाचार को सुन लेते हैं, उस में स्वयं हमारी अभिरुचि उत्पन्न हो जाती है और तब हमारे लिए यह स्वाभाविक हो जाता है कि हम उस रुचिकर समाचार को अन्यों को सुनाये बिना नहीं रह सकते। जब हम समाचारपत्र में रोचक विषय अथवा कहानी पढ़ते हैं तब तुरन्त ही, जो कोई हमारे निकट होता है उसे सुना देने की सहज प्रवृत्ति हम में जागरित हो उठती है। किन्तु इस क्षणिक जगत् के चमत्कृतिपूर्ण समाचार की अपेक्षा सम्पूर्ण विश्व के माता-पिता तथा बन्धु-भ्राता का समाचार तो अधिकतम रोचक वा परमानन्दायक होता है। उस प्रभु की शक्ति के समक्ष सांसारिक शत्रु एवं वैज्ञानिक विलास सहसा विलीन हो जाते हैं।

यदि हमने यथार्थतः उस नित्य तत्त्व को सुन लिया, जिसको सुनना यांत्रिक श्रुति से सुनना नहीं, हृदय की श्रुति से सुनना है, तब हमारे लिए यह स्वाभाविक हो जायगा कि उस नित्य सत्ता को सुन कर अन्यों को सुनाये बिना हम रह नहीं सकते हैं। यही है भक्ति की द्वितीय अवस्था जो 'कीर्तन' संज्ञा से अभिहित होती है—भगवन्नामकीर्तन अथवा जप वा भगवद्यशोगान आदि इसी भक्ति के नामान्तर हैं। इस स्थूल मुख से नहीं, अन्तःकरण की तंत्री से भगवान् का यशोगान ही 'कीर्तन' भक्ति है[८९]।

स्मरण—जिस किसी प्रकार से मन के साथ हरि का सम्बन्ध हो जाता है वह स्मरण भक्ति है[९०]। भगवत्स्मरण भक्ति के सम्बन्ध में पौराणिक कथन है कि जिस पुरुष के चित्त में पाप कर्म के अनन्तर पश्चात्ताप होता है उसके लिए तो हरिस्मरण ही एकमात्र प्रायश्चित्त है। प्रातः, मध्याह्न, सायं और

---

८६. ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्॥ —८।१३

८७. तज्जपस्तदर्थभानम्। —पा० यो० १।२८

८८. तु० क० १।५।८–१२।३।५१–५२

८९. स० फॉ० ट्रू० २९–३०

९० यथाकथंचिन्मनसा सम्बन्धः स्मृतिरुच्यते।
—११० कल्याण (साधनांक) ११०

रात्रि के समय भगवत्स्मरण से पाप के क्षय हो जाने पर मनुष्य नारायण को प्राप्त कर लेता है। विष्णु के स्मरण से समस्त पापराशि के भस्म हो जाने से पुरुष मोक्षपद प्राप्त कर लेता है, स्वर्गलाभ तो उसके लिए विघ्न रूप है[९१]। अक्रूर अपनी गोकुल यात्रा के समय सोचते हुए कहते हैं कि जिनके स्मरणमात्र से पुरुष सर्वथा कल्याणपात्र हो जाता है, मैं सर्वदा उन अजन्मा हरि की शरण में प्राप्त होता हूँ[९२]। स्मरण अथवा ध्यान के विषय में कृष्ण का कथन है कि जो समस्त कर्मों को मुझ में समर्पित कर तथा मुझ में तल्लीन होकर अनन्य योग से ध्यान के द्वारा मेरी उपासना करते हैं उन मुझ में चित्त लगाने वालों का मैं मृत्युरूप संसार-सागर में शीघ्र कल्याणकारी हो जाता हूँ[९३]।

भक्तों की अभीष्टसिद्धि के लिए श्रवण और कीर्तन ही पर्याप्त नहीं है। भगवान् के विषय में सुन लेने और स्तोत्रपाठ कर चुकने पर हमें उनसे अधि-काधिक सम्पर्क-स्थापन करने का प्रयत्न करना चाहिये और उस सम्पर्क को अपने हृदय के अन्तस्तल में धारण करना भी प्रयोजनीय है जिससे हमें सम्पूर्ण रूप से आत्म-परमात्मज्ञान की प्राप्ति हो जाय। कीर्तन भक्ति के अनन्तर स्मरण की अवस्था आती है। स्थिर रूप से अपने हृदय में उसके निरन्तर स्मरण का अभ्यास ही श्रेयस्कर होगा। खृष्टधर्मावलम्बियों को भी भगवान् (God) के निकट निवास के अभ्यास करने को उपदेश दिया जाता है; बौद्ध-धर्मावलम्बियों को संसार की अनित्यता तथा निर्वाण की नित्यता का निरन्तर ध्यान करना सिखाया जाता है और हिन्दुओं को अपने हृदय में आसीन भगवान् के रूप के निरन्तर स्मरण करने की शिक्षा दी जाती है। क्योंकि यदि भगवान् का निवास हमसे पृथक्—संसार की परिधि से बाहर होगा तो स्वभावतः वह हमारे संकट को दूर करने में न्यूनतर मात्रा में ही सहायक होगा। यदि उसका अस्तित्व संसार के भीतर होगा जिससे वह हमारे हृदय में आसीन हो सके तो वह "हमारे प्राण की अपेक्षा समीपतर एवं हस्त-पाद की अपेक्षा सम्बद्धतर होगा" यही है उसकी सत्यता का प्रत्यक्षीकरण जिसे हम अपने सतत स्मरण के द्वारा ही उपलब्ध कर सकते हैं।

यह भी आपत्तिजनक नहीं होगा यदि भगवान् के विविध अवतारों में उनके किये कर्मों—विविध लीलाओं के स्मरण करने को ही अभिप्रेत मान

---

९१. तु० क० २।६।३८-४०

९२. ५।१७।१७

९३. अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते।
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्॥ —गीता १२।६-७

लिया जाये, क्योंकि भिन्न भिन्न अवतारों में जो भिन्न-भिन्न दिव्य कर्म हुए हैं वे इसलिए कि उसके स्मरण-चिन्तन से अन्धकारपूर्ण हमारी अनात्मवादी धारणा का बहिष्कार हो जाये। निराकार नित्य सत्यता तो कुछ अंशों में दुर्बोध है, जब तक वह हमारे समक्ष साकार रूप से प्रत्यक्षीकृत नहीं हो जाता है। जैसे आजकल स्वास्थ्य विभाग के डॉक्टर चित्रप्रदर्शन के द्वारा जनता को संक्रामक विपत्तियों और स्वास्थ्य के सिद्धान्तों से अवगत करा देते हैं और सचित्र अभिनय दर्शकों की धारणा को दृढ कर देता है[९४]।

अन्ततोगत्वा तत्त्वस्मरण अथवा लीलास्मरण दोनों एक ही तत्त्व हैं जब कि दोनों का तात्पर्य समस्त पदार्थों के अभ्यन्तर उसकी विद्यमानता को सिद्ध 'स्मरण' भक्ति की प्रतिष्ठा के द्वारा समस्त प्राणियों के भीतर समझ लेना है। इसकेपश्चात् भक्ति का क्रम है पादसेवन—भगवान् के चरणों की पूजा।

पादसेवन—पराशर मुनि का कथन है कि अपने मातापिता की सेवा करने से ध्रुव के मान, वैभव और प्रभाव की वृद्धि हुई और देवासुरों के आचार्य शुक्र ने ध्रुव का यशोगान किया[९५]। एक स्थल पर भगवान् वराह के स्तवन में कथन है—"हे यूपरूप डाढ़ों वाले प्रभो, आपके चरणों में चारों वेद हैं। "अन्य स्थल पर कहा गया है कि मेरु पर लक्ष्मी, विष्णु, अग्नि एवं सूर्य आदि देवताओं के अत्यन्त सुन्दर मन्दिर हैं जिनकी सेवा श्रेष्ठ किन्नर आदि जातियाँ करती है[९६]। एक वार श्राद्धक्रिया के वैधानिक वर्णन में राजा सगर से और्व ने कहा था कि घर में आये हुए ब्राह्मणों का प्रथम पादशुद्धि आदि सत्कार करे[९७]।

अपने पुराण में साक्षात् भगवान् के पादसेवन का प्रसंग स्पष्टरूप में नहीं आया है किन्तु देवमन्दिरों की सेवा और ब्राह्मणों की पादसेवा का स्पष्ट वर्णन है जिसे पादसेवन भक्ति के अन्तर्गत माना जा सकता है।

इस भक्तिक्रम के प्रसंग में श्री प्रेम का कहना है कि हमे यहां श्रुति का वह वचन स्मरण करना चाहिये जिसमें कहा गया है कि स्थूल चक्षुओं से उसका रूप देखा नहीं जा सकता—न चक्षुषा गृह्यते' (मु० उ० ३।१।८)। यदि उसका आकार हमारी आंखों का गोचर नहीं हो सकता तब हम उसके

---

९४. स० फॉ० ट्र० ३०-३१
९५. १।१२।९७-९९
९६. १।४।३२ और २।२।४७
९७. ३।१५।१२

चरणों की सेवा कैसे कर सकते हैं? इसका समाधान दूसरी श्रुति में हो जाता है। श्रौत प्रदिपादन है कि 'सम्पूर्ण विश्व परमेश्वर का पाद है—"पादोऽस्य विश्वा भूतानि" (शुक्ल यजुर्वेदीय रुद्राष्टाध्यायी २।३)। इससे अब हम समझ सकते हैं कि किस प्रकार यह अवस्था पूर्वावस्था से आगे बढ़ती है। इस क्रम के अभ्यास के द्वारा कुछ अंश में अशेष प्राणियों के भीतर नित्यसत्ता के अस्तित्व को समझ लेने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि आगे का क्रम है संम्पूर्ण प्राणियों में उसकी सेवा करना और इसी को 'पादसेवन' भक्ति कहा जाना विधेय है।

इस अवस्था में पहुंचने पर कुछ भय या आशंका यह है कि हम भूलकर केवल मनुष्य जाति के प्रेम में फँस जायँ—यद्यपि यह कार्य तो सुन्दर है, किन्तु यही पर्याप्त नहीं है इसमें भी एक बड़ी आशंका यह है कि हम यह भूल कर सकते हैं कि समस्त प्राणियों के प्रति सेवार्पण ही भगवान् की सेवा है और इस मात्रा में भी फँस सकते हैं कि मानवता से भिन्न किसी नित्य की सत्ता नहीं है। इसी भूल से बचने के लिए हमें प्रभु का पूजन अर्थात् 'अर्चन' भक्ति को अपना लेना चाहिये[९८]।

अर्चन—पूजनार्थक अर्च धातु आगे करण अर्थ में ल्युट् प्रत्यय के योग से अर्चन शब्द की निष्पत्ति हुई है। अतः गन्धपुष्पादि विविध उपकरणों का भगवान् को समर्पण करना अर्चन भक्ति के अन्तर्गत आ सकता है। अर्चनभक्ति के विषय में पुराण में अनेक प्रसंग मिलते हैं। यथा—जम्बूद्वीप में यज्ञमय यज्ञपुरुष भगवान् विष्णु के सदा यज्ञों के द्वारा अर्चन-पूजन का प्रमाण है इसके अतिरिक्त अन्य द्वीपों में उनकी और प्रकार से उपासना का वर्णन है[९९]। निःसंग, योगयुक्त और तपस्वी (राजा भरत) भगवान् की पूजा के लिए केवल समिध, पुष्प और कुश का ही सञ्चय करते थे[१००] कालिय नाग ने कृष्ण के पूजोपकरण के सम्बन्ध में कहा था कि जिनकी पूजा ब्रह्मा आदि देवगण नन्दन आदि वन के पुष्प, गन्ध और अनुलेपन आदि से करते हैं, उन आपका मैं किस प्रकार अर्चन कर सकता हूँ। देवराज इन्द्र जिनके अवतार रूपों का सर्वदा अर्चन करते हैं, उन आपका मैं किस प्रकार अर्चन कर सकता हूँ। योगिगण अपनी इन्द्रियों को अपने विषयों से खींचकर ध्यान के द्वारा जिनका अर्चन करते है, उन आपका मैं किस प्रकार अर्चन कर सकता हूँ। जिन प्रभु के

९८. स० फा० टु० ३१–३२

९९. २।३।२१

१००. २।१३।११

स्वरूप की चित्त में भावना कर योगिजन भावमय पुष्प आदि से ध्यान के द्वारा उपस्थित करते हैं, उन आपका मैं किस प्रकार अर्चन कर सकता हूँ[१०१] कृष्ण ने अपने निजरूप से गोपों के साथ गिरिशिखर पर आरूढ होकर अपने ही द्वितीय रूप का अर्चन किया था[१०२]। जिस समय मथुरा में कृष्ण-बलराम माली के घर गये उस समय उस माली ने उनके अर्चन करने के लिए अपने को धन्य माना था[१०३]। अन्य एक प्रसंग पर पराशर मुनिका कथन है कि ज्येष्ठ मास के शुक्ल पक्ष की द्वादशी को मथुरापुरी में उपवास करते हुए यमुनास्नान कर समाहितचित्त से अच्युत का सम्यक् अर्चन करने से मनुष्य को अश्वमेध-यज्ञ का सम्पूर्ण फल मिलता है[१०४]।

जिस प्रकार भगवान् प्राणियों के भीतर हैं उसी प्रकार बाहर भी उनकी सत्ता है। भगवान् का अर्चन वहीं पर करना श्रेयस्कर है जहाँ वे हमारे लिए उपलभ्य हो सकते हैं। उनका अर्चन उस सर्वोत्तम मूर्ति में करना चाहिये जो जगत् के भीतर रह कर भी सम्पूर्ण जगत् से बाहर है। उनका पूजन उसी बाह्य जगत् में किया जाना श्रेयस्कर हो सकता है, क्योंकि वे शून्य आकाश में हैं। यह भगवान् की वह मूर्ति वा आकृति है जो 'अर्चन' भक्ति के अभ्यास के द्वारा अनुभूत होती है। इस 'अर्चन' भक्ति की प्रतिष्ठा के पश्चात् 'वन्दन' भक्ति का क्रम आता है[१०५]।

श्री मद्भगवद्गीता में अर्चन भक्ति के सुन्दर प्रसंग मिलते हैं। एक स्थल पर भगवान् कृष्ण कहते हैं—"त्रिवेदज्ञ, सोमरसपायी और निष्पाप व्यक्ति यज्ञों से मेरा अर्चन-पूजन कर स्वर्ग प्राप्ति की प्रार्थना करते हैं। वे पुण्यात्मा इन्द्र लोक को पाकर देवभोग्य सुखों का उपभोग करते हैं[१०६]। पुनः कृष्ण कहते हैं कि देव, ब्राह्मण, गुरु और विद्वानों का पूजन शारीरिक तप है[१०७]।

वन्दन—शब्दशास्त्रानुसार वन्दन शब्द का अर्थ होता है—प्रणाम, अभिवादन और नमस्कार आदि। ध्रुव की तपस्या के प्रसंग में पौराणिक प्रति-

---

१०१. ५।७।६६-६९
१०२. ५।१०।४८
१०३. ५।१९।२१
१०४. ६।८।३३-४
१०५. स० फॉ० ट्र० ३२
१०६. ९।२०
१०७. १७।१४

पादन है—"श्री अच्युत को किरीट तथा शंख, चक्र, गदा, शार्ङ्ग धनुष और खड्ग धारण किये देख कर ध्रुव ने पृथिवी पर शिर रखकर प्रणाम किया[१०८]। एक अन्य स्थल पर पुनः यमराज अपने से भगवद्वन्दन की महिमा में कहता है—'जो भगवान् के सुरवन्दित चरणकमलों की परमार्थबुद्धि से वन्दना करता है, घृताहुति से प्रज्वलित अग्नि के समान समस्त पापबन्धन से मुक्त हुए उस पुरुष को तुम दूर से ही छोड़कर निकल जाना[१०९]।

श्रीमद्भगवद्गीता में वन्दन भक्ति का प्रतिपादन हुआ है : जब महायोगेश्वर भगवान् कृष्ण ने अर्जुन के समक्ष अपने परम ईश्वरीय विराट् रूप को प्रकट किया तब अर्जुन ने आश्चर्य-चकित तथा रोमाञ्चित और बद्धाञ्जलि होकर अनेकों वार भगवान् को प्रणाम किये[११०]।

'वन्दन' का अर्थ केवल मन्दिरों में अथवा महात्माओं के समक्ष साष्टाङ्ग प्रणाम करना मात्र नहीं है—यह मानसिक नमन का व्यापार है। इस 'वन्दन' भक्ति में केवल शारीरिक नमन का विशेष तात्पर्य नहीं है। अपने को कुछ विशेष महत्त्व न देकर प्रभु के चरणों पर धूल के समान अपने आपको सम्पूर्ण-रूप से अर्पित करना है। प्रथम 'अर्चन' साधन के परिणामस्वरूप हमे अपना अस्तित्व भगवान् के भीतर समझ लेना है तथा भगवान् का अपने (हमारे) भीतर। परमात्मा को अपने हृदय के भीतर पा लेने के पश्चात् हमें समझना चाहिये कि वह सम्पूर्ण विश्व के हृदयों में है और सम्पूर्ण विश्व उसी 'विश्वम्भर' में व्याप्त है[१११]।

दास्य—भगवान् को अपने कर्मों का अर्पण कर देना तथा उनकी अनन्य सेवा में अपने को लगा देना ही दास्य भक्ति है[११२]। देवगण निरन्तर यही गान करते हैं कि वे पुरुष धन्य हैं जो फलाकांक्षा से रहित अपने कर्मों को परमात्मा विष्णु को अर्पण करने से निष्पाप होकर उस अनन्त में ही लीन हो जाते हैं[११३]। इन्द्र आदि देवगणों के साथ ब्रह्माने किङ्करभाव से आज्ञा मांगते

---

१०८. तु० क० १।१२।४५

१०९. ३।७।१८

११०. ११।१४ और ३९–४० आदि

१११. स० फा० ट्रु० ३१

११२. दास्यं कर्मार्पणं तस्य कैङ्कर्यमपि सर्वथा।

—कल्याण (साधनांक) ११०

११३. तु० क० २।३।२४–२५

हुए कहा था—"हे सुरनाथ, इन्हें अथवा मुझे अशेष कर्तव्य कर्मों के लिए आज्ञा दीजिये। हे ईश, आपकी आज्ञा का पालन करते हुए हम सम्पूर्ण दोषों से मुक्त हो सकेंगे[११४]। भागवत पुराण में दास्य (सेवा) भक्ति के सम्बन्ध में स्पष्ट प्रतिपादन है कि भगवान् की सेवा जो मनुष्य स्वार्थ बुद्धि से करते हैं उनमें वह सच्चा दास्य भाव नहीं है—वह वाणिज्य-व्यापार के समान है[११५]।

श्री प्रेम के मत से 'दास्य' भाव में हमारे लिए यह आवश्यक हो जाता है कि हम अपने किसी विशिष्ट भाव के सहित प्रभु के साथ अपना सीधा सम्बन्ध स्थापित कर दें और प्रभु के सेवन या दास्य भाव के द्वारा यह संभव है। यह भाव उसी साधक के हृदय में उत्पन्न होगा जिसने पूर्व की अवस्था में अनुभूति प्राप्त करली है। इस अवस्था में संभव है कि भगवान् के उत्तमोत्तम प्रकाश एवं शक्ति की अनुभूति से साधक चकित हो जाये। वह यह भी अनुभव कर सकता है कि यही सम्बन्ध अस्तित्व में रहेगा। इस अवस्था में साधक अपने समस्त व्यापारों को अपने हृदय की भावानुभूति की ओर मोड़ देगा और अपने समस्त क्रियमाण कर्म परमात्मा की सेवा की भावना से करेगा। इस अवस्था के अभ्यासक्रम से साधक शनैः शनैः अपने को लोकासक्ति से पृथक् कर लेगा और गीता में प्रतिपादित निष्काम कर्मयोग को अवगत करने लगेगा कि कर्म केवल करना है—उसके फल से कोई सम्बन्ध नहीं है। इसके पश्चात् हम भक्ति की अग्रिम अवस्था में पहुँचने के लिए प्रस्तुत होंगे जो 'सख्य' भाव है[११६]।

सख्य—भगवान् में अटल विश्वास और उनके साथ मित्रता सदृश व्यवहार—इन दोनों का नाम सख्य कहा गया है[११७]। सख्य भक्तिविषयक तो इस पुराण में अनेक उदाहरण उपलब्ध होते हैं : राम, कृष्ण और गोपाल वालों के सम्बन्ध में वर्णन है कि कभी एक दूसरे को अपने पीठ पर ले जाते हुए खेलते तथा कभी अन्य गोपबालों के साथ खेलते हुए वे बछड़ों को चराते साथ साथ घूमते रहते थे। गोकुल में बालकृष्ण और बलराम समवयस्क गोपकुमारों के साथ साधारण सख्यभाव से विविध प्रकार के खेल खेलते थे[११८]। कृष्ण

---

११४. ५।१।५७-५८

११५. यस्त आशिष आशास्ते न स भृत्यः स वै वणिक्। —७।१०।४

११६ स० फॉ० टु० ३२-३३

११७. विश्वासो मित्रवृत्तिश्च सख्यं द्विविधमीरितम्।

—कल्याण (साधनांक) १११

११८. तु० क० ५।६।३४-५१

की सुरम्य गीतध्वनि को सुन कर गोपियाँ अपने-अपने घरों को छोड़कर तत्काल जहाँ मधुसूदन थे वहाँ चली आती थीं। वहाँ आकर कोई गोपी तो उनके स्वर में स्वर मिलाकर धीरे-धीरे गाने लगती थी और कोई मन ही मन उनका स्मरण करने लगती थी। कोई 'हे कृष्ण, हे कृष्ण' ऐसा कहती हुई लज्जावश संकुचित हो जाती थी और कोई प्रेमोन्मादिनी होकर तुरन्त ही उनके पास जा खड़ी होती थी। रासक्रीडा के समय एक गोपी ने नृत्य करते-करते थक कर चञ्चल कंकण की झनकार करती हुई अपनी बाहुलता मधुसूदन के गले में डाल दी थी। किसी निपुण गोपी ने भगवान् के गान की प्रशंसा करने के व्याज से भुजा प्रसारित कर मधुसूदन को आलिङ्गन कर चूम लिया था[११९]।

उपर्युक्त अध्ययन से अवगत होता है कि सख्यभक्ति-प्राप्त भक्तों का भगवान् में अनन्य श्रद्धा एवं पूज्य भाव के रहने पर भी वे भगवान् के साथ अभिन्न मित्रों के समान व्यवहार करते हैं।

वैदिक साहित्य में भी यत्र तत्र सख्य भक्ति का विवरण मिलता है। यथा—"हम देवों के साथ मैत्री करें"[१२०]। भगवान् में मित्र भाव से प्रेम करना ही सख्य भक्ति है और वह सख्य भाव उनकी पूर्ण कृपा के द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। प्राचीन वाङ्मयों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि सख्य भक्ति रामावतार में कपिराज सुग्रीव और विभीषणादि को तथा कृष्णावतार में व्रजनिवासी गोप गोपाङ्गनाओं को एवं उद्धव और अर्जुन आदि कतिपय भाग्यशाली जनों को ही प्राप्त हो सकी है।

दास्य भाव के अभ्यास से भगवान् के साथ सम्बन्ध स्थापित हो जाने पर यह भाव रूपान्तर में परिणत हो जायगा। जिस प्रकार शिशु की देख-रेख के लिए नियुक्त दास शनैः शनैः उस शिशु का प्रेमपात्र बन जाता है और माता-पिता के पश्चात् वही विश्वास-पात्र रहता है उसी प्रकार साधक के लिए प्रभु की सेवा का व्यापार क्रमशः न्यूनतर होता हुआ प्रेमाभिमुखी हो जायगा। साधक को यह धारणा होती जायगी कि कृष्ण विश्व के स्वामी ही नहीं अपितु आत्मप्राणी के महान् सखा एवं आत्मप्रियतम भी हैं। इसका अभिप्राय यह है कि आत्मा (प्राण) की भगवान् से अलग सत्ता नहीं है, किन्तु उन्हीं का अभिन्न अंश है। मैत्री का भाव समप्रकृति पुरुष के साथ रह सकता है। भक्त और भगवान् के मध्य में जो वर्धमान मैत्री रहती है इसका मूल कारण यह है कि यह उस प्रकाश की छोटी-सी किरण है, जिस (प्रकाश) के समष्टिरूप

---

११९ तु० क० ५।१३।१७–१९ और ५३–५४

१२०. देवानां सख्यमुपसेदिमा वयम्। —ऋ. वे. १।८९।२

साक्षात् भगवान् है। यह उस सच्चिदानन्दसागर का एक बिन्दु है जो पूर्ण परमात्मा है। सख्य के इस भाव में साधक का समस्त प्राणिसमुदाय के साथ जो विभिन्नता का भाव रहता है वह मैत्री में परिणत हो जाता है। अब तक जो कार्य वह भय से करता था वह अब प्रेम के आवेश में करने लगता है और उस का हृदय चैतन्य की ओर अधिक मात्रा में अग्रसर होता है। प्रतिष्ठित सख्यभाव साधक को उस अन्तिम अवस्था पर पहुंचा देता है जिसका अभिधान है "आत्मनिवेदन" अर्थात् अपने आपको सर्वतोभावेन भगवदर्पण कर देना[१२१]।

आत्मनिवेदन—अहंकाररहित अपने तन, मन, धन और परिजन सहित अपने आप को श्रद्धा और प्रेमपूर्वक भगवान् को समर्पण कर देना—सर्वथा शरणापन्न हो जाना आत्मनिवेदन भक्ति है। अपने अनुचर को हाथ में पाश लिये देखकर यमराज ने उसके कान में कहा था—"भगवान् मधुसूदन के शरणागत व्यक्तियों को छोड़ देना, क्योंकि मैं ऐसे व्यक्तियों का स्वामी हूँ, जो विष्णु की भक्ति से रहित है। "हे कमलनयन वासुदेव! आप हमें शरण दीजिये"—जो लोग इस प्रकार पुकारते हों उन निष्पाप व्यक्तियों को तुम दूर से ही त्याग देना[१२२]।

श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् कर्मार्पण—आत्मनिवेदन के महिमावर्णन में कहते हैं कि जो अपने समस्त कर्मों को अनन्य भक्ति से मुझे समर्पण कर देते हैं उनका मैं मृत्युसंसारसागर से उद्धार कर देता हूँ[१२३]।

इस सम्बन्ध में श्रीप्रेम ((Nixon) का प्रतिपादन है कि इस अवस्था के वर्णन में वाणी असमर्थ है। जिस प्रकार प्रेमी अपनी प्रेमिका का क्षणिक वियोग भी सहने में असमर्थ होकर वह निरन्तर उसी के साथ संमिलित रहना चाहता है उसी प्रकार यह जीवात्मा, जो परमात्मा का छोटा अंश है अपने अस्तित्व को भगवान् में सदा के लिए विलीन कर देना चाहता है। यही है जडीभूत आत्मा की सम्पूर्ण परिणतावस्था और यही अवस्था यथार्थतः वाणी के लिए वर्णनातीत है। इस अवस्था में जीव अपने पार्थक्य-भाव को पूर्णरूपेण खो देना चाहता है तथा अपने अस्तित्व को पूर्णतया प्रेमी में विलीन कर देना भी चाहता है। यह अवस्था इतनी अवर्णनीय है कि इसका भाव किसी भी रूपक के द्वारा अभिनीत होना संभव नहीं क्योंकि रूपक में भौतिक पदार्थ को

---

१२१. स० फॉ० ट्रू० ३२

१२२. तु० क० ३।७।१४ और ३३

१२३. तु० क० पा० टी० ९३

ही प्रदर्शित करने की क्षमता है, पर इस अभिनय में जीव का जीव के साथ—आत्मा का आत्मा के साथ मिलन होता है और यह वह मिलन है जिसमें जीवात्मा—प्राण का अस्तित्व सम्पूर्णरूपेण खो जाता है और तब इसकी एक रूपता का बोध प्रथम वार किन्तु सदा के लिए होता है। यह वह अवस्था है जिसकी अनुभूति के विषय में बुद्ध ने कहा था—"निर्वाण प्राप्त कर लेने पर मनुष्य न तो अपना अस्तित्व रखता है और न अपने अस्तित्व को खो देता है और जिस अवस्था के विषय में ईसामसीह ने कहा था—"जो अपने को खो देगा वह उस (परमेश्वर) को प्राप्त करेगा" और कृष्ण ने कहा है—"तू मेरे पास आयेगा; मैं प्रतिज्ञा करता हूँ, तू मेरा प्यारा है"।

यही है नवधा भक्ति—एक पद्धति है जो लौकिक चमत्कार पर निर्भरित नहीं है, किन्तु यह मार्ग सुगमता और स्वाभाविकता से एक अवस्था से दूसरी अवस्था तक साधक को तब तक ले जाता रहता है जब तक साधक अन्तिम लक्ष्य पर नहीं पहुँच जाता। इसमें अन्धविश्वास प्रयोजनोय नहीं और साम्प्रदायिक वाद-विवाद से, जो प्रत्येक युग में धर्म के नाम को कलंकित करता आया है, ऊपर उठाता है एवं साधक को शनैः शनैः तथा स्वाभाविक रूप से सिद्धि के उस वर्धमान मार्ग के द्वारा उस लक्ष्य पर पहुँचा देता है जहाँ परम तत्त्व की अनुभूति हो जाती है और फिर अविद्या की ओर लौटना नहीं होता है[१२४]।

इस प्रकार विष्णुपुराण में स्पष्टास्पष्ट रूप से नवधा भक्ति की विवृति उपलब्ध होती है। नवधा भक्ति की साधना से मानव प्राणी ऐहलौकिक एवं पारलौकिक—दोनों सम्पत्तियों को प्राप्त कर सकता है। भक्ति की प्रतिष्ठा हो जाने पर भक्त और भगवान् में कोई भेद नहीं रह जाता है। कहीं-कहीं तो भगवान् ने अपने से बड़ा भक्त को ही निर्देशित किया है।

अष्टाङ्गयोग—

इस प्रसङ्ग में सर्वप्रथम योग का शाब्दिक विवेचन कर लेना उपादेय प्रतीत होता है। दिवादिगणीय 'युज' धातु समाध्यर्थक है; रुधादिगणीय 'युजिर्' धातु योगार्थक अर्थात् मेलनार्थक है और चुरादिगणीय 'युज' धातु संयमनार्थक है। इन तीनों धातुओं के आगे 'घञ्' प्रत्यय लगाने से 'योग' शब्द व्युत्पन्न होता है और तब शब्दशास्त्र के अनुसार इस 'योग' का अर्थ होता है—चित्तवृत्ति का निरोध, मिलाना या संयम करना। चित्त का एक नामान्तर मन है। मन स्वभावतः चंचल रहता है। मन को चंचलता से हटाकर किसी एक

१२४. स० फॉ० ट्रु० ३३–४४

ही वस्तु पर उसे स्थिर करना योग है। योग मन को संयत करता है तथा पाशविक वृत्तियों से उसे खींचकर सात्विक एकाग्र वृत्ति में निहित कर देता है। किसी भी क्षेत्र में जीवन की संपूर्ण सफलता संयत मन पर ही निर्भरित रहती है। मन की स्थिरता के अभाव में कर्ता किसी भी कार्य में सफल नहीं हो सकता। अध्यापक मन की एकाग्रता के अभाव में छात्रों को सरल पाठ्य विषय भी अच्छी तरह नहीं समझा सकता तथा छात्र भी मानसिक एकाग्रता के अभाव में सरल विषय को भी सम्यक् रूप से हृदयंगम नहीं कर सकता। वायुयान का चालक थोड़ी-सी मानसिक अस्थिरता में अपने एवं यात्रियों के प्राण खो बैठता है। साधारण से साधारण कार्यों में भी सर्वत्र मानसिक संयम का उपयोग लाभप्रद होता है। कर्ता अपने कार्य में जब तक तन्मय नहीं हो जाता तब तक उसे सफल कार्यकर्त्ता नहीं देखा जाता है। एक निरक्षर कुली भी अपनी श्वास-क्रिया को रोके बिना भारी बोझ उठाने में असमर्थ होता है। भारी बोझ उठाने के समय वह (कुली) अपने मन को पूर्ण एकाग्र कर अनजाने पूरक तथा कुम्भक नामक प्राणायामरूप यौगिक क्रिया के द्वारा ही सफल होता है, भले ही वह (निरक्षर कुली) एकाग्रता, पूरक और कुम्भक क्रिया की शाब्दिक या यौगिक निष्पत्ति या परिभाषा का अर्थज्ञाता न हो। हिन्दू अपनी सगुण वा निर्गुण उपासना में, ईसाई बाइबिल-निर्दिष्ट प्रार्थना में और मुस्लिम कुरान की साधना में पूर्ण सिद्धि के लिए मानसिक एकाग्रता को सर्वोत्तम साधन समझते हैं।

योग की उपयोगिता केवल आध्यात्मिक वा पारलौकिक व्यापार में ही नहीं, अपितु लौकिक वा दैनिक व्यवहार में भी हम इसे निरन्तर अनुभूत और दृष्टिगोचर करते हैं। हममें से अधिकांश व्यक्तियों को इसका अनुभव होगा कि कलकत्ता जैसे किसी महानगर के चतुष्पथ पर सायकिल पर चढ़कर चलते हुए सायकिलिस्ट को अपने प्राणों को अपनी मुट्ठी में समेट कर चलना पड़ता है—एक ओर ट्राम जा रही है और दूसरी ओर से दौड़ती हुई दो मोटरें आ रही हैं, उनमें से कौन-सी मोटर मुड़ कर पार्श्ववर्ती पथ से जाने वाली है और वह बायीं ओर मुड़ेगी या दाहिनी ओर, इसका कोई अनुमान नहीं होता। मोटरें अपने नियम के अनुसार पथ के निर्दिष्ट भाग पर जायगीं यह मान लेना पड़ता है, किन्तु उनकी गति कितनी तीव्र या धीमी होगी, इसका अनुमान होना चाहिये और उसी बीच में एक भारवाहिक अपने सिर पर लम्बे-लम्बे बाँसों का एक गट्ठा लिये जा रहा है, वह यदि कहीं पीछे की ओर मुड़ जाय तो पूरी कपालक्रिया हो जाय। इसी अभ्यन्तर में एक आया दो बच्चों की अँगुलियाँ पकड़े पथ के मध्य भाग में सुरक्षित पटरी पर जाने की

धुन में है। इन अवस्थाओं में और अन्य असुविधाओं को स्मरण में रख कर रास्ता निकालना तथा दृष्टि को सावधान रख कर पूरी परिस्थिति का सहसा अनुमान लगा लेना और कौन-कौन-सी आपदाएँ संभव हैं, यह पल भर में सोच कर एवं सारी चाल का झट-पट हिसाब लगा कर मन में अन्तिम निर्णय कर लेना तथा उस निर्णय पर आत्मविश्वास रख कर पैडल चलाने वाले पाँवों से और हैण्डल पकड़ने वाली मुट्ठी और गटठों से एक में एक होकर और एकजीव होकर पथ तय करने की अवस्था में कोई भी सायकिल-चालक अनायास यह मान लेगा कि ऐसी अवस्था में उसका सारा मन पूरा एकाग्र हो जाता है—इसी को योगबल या यौगिक शक्ति कहते हैं। योगबल वा मनःसंयम का तात्पर्य एक समय में किसी एक ही पदार्थ या तत्त्व पर चित्त को स्थिर करना है। महर्षि पतञ्जलि ने अपने दर्शन के प्रारम्भ में ही कहा है कि चित्त की वृत्तियों का निरोध अर्थात् सर्वथा रुक जाना 'योग' है[१२५]। अपने पुराण में प्रतिपादन है कि आत्मज्ञान के प्रयत्नभूत यम, नियम आदि के अपेक्षक मन की जो विशिष्ट गति है, उसका ब्रह्म के साथ संयोग होना ही 'योग' कहलाता है[१२६]। पातञ्जल परिभाषा में 'ब्रह्म' का उल्लेख न कर चित्तवृत्तियों के केवल निरोध को ही योग कहा गया है किन्तु पौराणिक परिभाषा में प्रारम्भ में ही 'ब्रह्म' का नामनिर्देश हुआ है किन्तु चरम लक्ष्य दोनों पद्धतियों का एक ही है।

महर्षि पतञ्जलि ने यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—ये आठ योग के अङ्ग निर्दिष्ट किए हैं[१२७]। अपने पुराण में भी केशिध्वज ने योग के ही आठ अङ्ग खाण्डिक्य को समझाये हैं। संभवतः इन आठ अङ्गों में से प्रत्येक का एक दूसरे के साथ क्रमिक सम्बन्ध है। साधक प्रथम में प्रतिष्ठित हो जाने पर ही द्वितीय अङ्ग—सोपान पर जाने का अधिकारी हो सकता है और इसी क्रम से तृतीय से चतुर्थ, पञ्चम, षष्ठ, सप्तम और अन्त में अपने चरम लक्ष्य समाधि की स्थिति में।

१. यम—केशिध्वज ने क्रमिक रूप से यम-साधना के ब्रह्मचर्य, अहिंसा, सत्य, अस्तेय (अचौर्य कर्म) और अपरिग्रह (संग्रह का अभाव)—ये पाँच

---

१२५. योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः (यो० द० १।२)

१२६. आत्मप्रयत्नसापेक्षा विशिष्टा या मनोगतिः।
तस्या ब्रह्मणि संयोगो योग इत्यभिधीयते ॥ —६।७।३१

१२७. यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि।
—पा० यो० द० २।२९

अङ्ग निर्दिष्ट किये हैं।[१२८] पतञ्जलि ने इन पञ्चाङ्गों के निर्देशन में क्रमभङ्ग किया है। उनका क्रम है अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह।[१२९] यह निश्चयन कठिन है कि इनमें कौन सा क्रम समीचीनतर है।

२. नियम—यम के ही समान केशिध्वज ने नियम-साधना के भी स्वाध्याय, शौच, सन्तोष, तपश्चरण और आत्मनियमन—ये पाँच अङ्ग निर्दिष्ट किये हैं[१३०]। पतञ्जलि ने यमक्रम के ही समान नियम के प्रतिपादन में भी क्रमभङ्ग किया है। उनका क्रम है—शौच, सन्तोष, तपश्चरण, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान[१३१]। पौराणिक प्रतिपादन है कि इन यम-नियमों का सकाम आचरण करने से अलग-अलग फल मिलते हैं और निष्काम भाव से सेवन करने से मोक्ष प्राप्त होता है[१३२]। यम-नियमों के आचरण करने से कौन-से विशिष्ट फल मिलते हैं—इस दिशा में हमारा पुराण मौन है किन्तु पतञ्जलि ने अलग-अलग फलों का विश्लेषण किया है। ब्रह्मचर्य-फल के सम्बन्ध में महर्षि की घोषणा है कि जब साधक में ब्रह्मचर्य की पूर्णतया दृढ स्थिति हो जाती है, तब उसके मन, बुद्धि, इन्द्रिय और शरीर में अपूर्व शक्ति का प्रादुर्भाव हो जाता है; साधारण मनुष्य किसी कार्य में भी उसकी समता नहीं कर सकते[१३३]। अहिंसाव्रत के सम्बन्ध में पातञ्जल मत है : जब योगी का अहिंसाभाव पूर्णतया दृढ हो जाता है, तब उसके निकटवर्ती हिंसक जीव भी वैरभाव से रहित हो जाते हैं[१३४]। सत्यप्रतिष्ठा के फल के प्रतिपादन में योगशास्त्रीय प्रतिपादन है कि जब योगी सत्य के पालन में पूर्णतया परिपक्व हो जाता है, उसमें किसी प्रकार की न्यूनता नहीं रहती, उस समय वह योगी कर्तव्यपालनरूप क्रियाओं के फल का आश्रय बन जाता है। जो कर्म किसी ने नहीं किया है, उसका भी फल उसे प्रदान कर देने की शक्ति उस योगी में आ जाती है अर्थात् जिसको जो वरदान, शाप या आशीर्वाद देता है, वह सत्य हो जाता है[१३५]। अस्तेय

---

१२८. ब्रह्मचर्यमहिंसां च सत्यास्तेयापरिग्रहान्। —६।७।३६

१२९. अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः। पा० यो० २।३०

१३०. स्वाध्यायशौचसन्तोषतपांसि नियतात्मवान्। —६।७।३७

१३१. शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः। —पा० यो० २।३२

१३२. विशिष्टफलदाः काम्या निष्कामाणां विमुक्तिदाः। —६।७।३८

१३३. ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः। —पा० यो० २।३८

१३४. अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः। —वही २।३५

१३५. सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्। —वही २।३६

के फल के विषय में महर्षि का कथन है कि जब साधक में चौर्यकर्म का अभाव पूर्णतया प्रतिष्ठित हो जाता है, तब पृथ्वी में जहाँ-कहीं भी गुप्त स्थान में पड़े हुए समस्त रत्न उसके समक्ष प्रकट हो जाते हैं[१३६]। यमसाधना के अन्तिम अंग अपरिग्रह के सम्बन्ध में कहा गया है कि जब योगी में अपरिग्रह का भाव स्थिर हो जाता है, तब उसे अपने पूर्वजन्मों के और वर्तमान जन्म के समस्त वृत्तान्त ज्ञात हो जाते हैं[१३७]।

अब नियम-साधना के प्रथम अङ्ग के फल प्रकाशन में महर्षि का कहना है कि शास्त्राभ्यास और मन्त्र-जपरूप स्वाध्याय के प्रभाव से योगी जिस इष्टदेव का दर्शन करना चाहता है, उसी का दर्शन हो जाता है[१३८]। शौच के विषय में कहा गया है कि बाह्य शुद्धि के अभ्यास से साधक को अपने शरीर में अपवित्रता की बुद्धि होकर उससे वैराग्य हो जाता है और सांसारिक मनुष्यों के संग में भी प्रवृत्ति या आसक्ति नहीं रहती[१३९]। नियम के तृतीय अंग सन्तोष के अभ्यास से ऐसे सर्वोत्तम सुख का लाभ होता है, जिससे उत्तम कोई सुख नहीं है[१४०]। चतुर्थ तपश्चरण के सम्बन्ध में प्रतिपादन है कि तप के प्रभाव से जब शारीरिक और ऐन्द्रियिक मल का नाश हो जाता है तब योगी का शरीर स्वस्थ, स्वच्छ और हल्का हो जाता है और तब काय-सम्पद्रूप शरीर-सम्बन्धी सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं[१४१]। नियम के पञ्चम अङ्ग आत्मनियमन अर्थात् ईश्वरप्रणिधान के अभ्यास के फल के सम्बन्ध में पतञ्जलि की घोषणा है कि साधना से समाधि की सिद्धि हो जाती है[१४२]।

३. आसन—योग के तृतीय सोपान आसन के सम्बन्ध में केशिध्वज का प्रतिपादन है कि यम-नियमादि गुणों से युक्त होकर यति को भद्र आदि आसनों में से किसी एक का अवलम्बन कर योगाभ्यास करना चाहिये[१४३]। पतञ्जलि ने किसी विशिष्ट आसन का नामनिर्देश न कर केवल सुखपूर्वक बैठने का ही

---

१३६. अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्। —वही २।३७
१३७. अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासंबोधः। —वही २।३९
१३८. स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः। —वही २।४४
१३९. शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः। —वही २।४०
१४०. संतोषादुत्तमसुखलाभः। —वही २।४२
१४१. कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः। —वही २।४३
१४२. समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्। —वही २।४५
१४३. एकं भद्रासनादीनां समास्थाय गुणैर्युतः।
यमाख्यैर्नियमाख्यैश्च युञ्जीत नियतो यतिः॥ —६।७।३९

नाम 'आसन' कहा है[१४४]। भद्रासन के परिभाषण में स्वामी स्वात्माराम का प्रतिपादन है कि भद्रासन में वृषणों के नीचे एवं सीवनी के दोनों पार्श्वभागों में इस प्रकार गुल्फों को रखे कि, वाम गुल्फ सीवनी के वामपार्श्व में और दक्षिण गुल्फ दक्षिण पार्श्व में स्थिरता से लगजाय। और सीवनी के पार्श्वभागों में समीप में गये पादों को भुजाओं से दृढ बाँधकर अर्थात् परस्पर में मिली हुई जिनकी अंगुली हों और जिनका तल हृदय पर लगा है ऐसे हाथों से निश्चल रीति से थाम कर जिसमें स्थित होने से सम्पूर्ण व्याधियों का नाश हो वह भद्रासन होता है[१४५]। स्वामी स्वात्माराम ने स्वस्तिक, गोमुख, वीर, कूर्म, कुक्कुट, उत्तानकूर्म, धनुः, मत्स्येन्द्र, पश्चिमतान, मयूर, शव, सिद्ध, पद्म, सिंह और भद्र—इन आसनों का नामनिर्देश एवं तत्तत्फल.प्रतिपादन किया है[१४६]।

४. **प्राणायाम**—केशिध्वज का परिभाषण है कि अभ्यास के द्वारा जो प्राणवायु को वश में किया जाता है उसे प्राणायाम समझना चाहिये[१४७]। इस प्रसंग में पतञ्जलि की उक्ति है कि आसनसिद्धि के पश्चात् श्वास और प्रश्वास की गति का रुक जाना 'प्राणायाम' है। यहाँ आसनसिद्धि के पश्चात् प्राणा-याम का सम्पन्न होना बतलाया गया है अतः यह प्रतीत होता है कि आसन की स्थिरता के अभ्यास के बिना ही जो प्राणयाम करते हैं वे उचित पथ पर नहीं हैं। प्राणायाम के अभ्यास के समय आसन की स्थिरता परम आवश्यक है[१४८]। केशिध्वज ने सबीज और निर्बीज भेद से प्राणायाम को दो भागों में विभक्त करते हुए कहा है कि जब योगी प्राण और अपान वायु द्वारा एक दूसरे का निरोध करता है तो [क्रमशः रेचक और पूरक नामक] दो प्राणायाम होते हैं और इन दोनों का एक ही समय संयम करने से [कुंभकनामक] तीसरा प्राणायाम होता है। जब योगी सबीज प्राणायाम का अभ्यास आरम्भ

---

१४४. स्थिरसुखमासनम्। —पा० यो० २।४६

१४५. गुल्फौ च वृषणस्याधः सीवन्याः पार्श्वयोः क्षिपेत्।
सव्यगुल्फं तथा सव्ये दक्षगुल्फं च दक्षिणे॥
पार्श्वपादौ च पाणिभ्यां दृढं बद्ध्वा सुनिश्चलम्।
भद्रासनं भवेदेतत्सर्वव्याधिविनाशनम्॥ —ह० यो० प्र० १।५३-५४

१४६. ह० यो० प्र० १।१९–५४

१४७. प्राणाख्यमनिलं वश्यमभ्यासात्कुरुते तु यत्।
प्राणायामस्स विज्ञेयः·················॥ —६।७।४०

१४८. तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः।
—पा० यो० २।४९

करता है तो उसका आलम्बन भगवान् अनन्त का हिरण्यगर्भ आदि स्थूल रूप होता है[१४९]।

५. प्रत्याहार—केशिध्वज के मत से शब्दादि विषयों में अनुरक्त हुई अपनी इन्द्रियों को रोक कर अपने चित्त की अनुगामिनी बनाना प्रत्याहार नामक योग का पञ्चम सोपान है, इसके अभ्यास से अत्यन्त चञ्चल इन्द्रियाँ योगी के वश में आ जाती हैं। इन्द्रियों को वश में किये बिना कोई भी योग-साधना नहीं कर सकता[१५०]। प्रत्याहार के सम्बन्ध में पतञ्जलि का मत है कि प्राणायाम का अभ्यास करते-करते मन और इन्द्रियाँ शुद्ध हो जाते हैं, उसके पश्चात् इन्द्रियों की बाह्य वृत्ति को सब ओर से समेट कर मन में विलीन करने के अभ्यास का नाम 'प्रत्याहार' है[१५१]।

६. धारणा—केशिध्वज कहते हैं कि भगवान् का मूर्त रूप चित्त को अन्य आलम्बनों से निःस्पृह कर देता है। इस प्रकार चित्त का भगवान् में स्थिर करना ही 'धारणा' कहलाता है[१५२]। पतञ्जलि के मत से किसी भी एक देश में (बाहर या शरीर के भीतर कहीं भी) चित्त को ठहराना 'धारणा' है[१५३]।

७. ध्यान—ध्यान के सम्बन्ध में पौराणिक केशिध्वज का प्रतिपादन है कि जिसमें परमेश्वर के रूप की ही प्रतीति होती है, ऐसी जो विषयान्तर की स्पृहा से रहित एक अनवरत धारा है उसे ही 'ध्यान' कहते हैं; यह अपने से पूर्व यम-नियमादि छह अंगों से निष्पन्न होता है[१५४]। पतञ्जलि का मत है कि जिस ध्येय वस्तु में चित्त को लगाया जाय, उसी में चित्त का एकाग्र हो जाना अर्थात् केवल ध्येयमात्र की एक ही प्रकार की वृत्ति का प्रवाह चलना, उसके बीच में किसी भी दूसरी वृत्ति का न उठना 'ध्यान' है[१५५]।

---

१४९ तु० क० ६।७।४०-४२

१५०. ६।७।४३-४४

१५१. स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः। पा० यो० २।५४

१५२. मूर्तं भगवतो रूपं सर्वापाश्रयनिःस्पृहम्।
एषा वै धारणा प्रोक्ता यच्चित्तं तत्र धार्यते॥ —६।७।७८

१५३. देशबन्धश्चित्तस्य धारणा। —पा० यो० ३।१

१५४ तद्रूपप्रत्यया चैका सन्ततिश्चान्यनिःस्पृहा।
तद्ध्यानं प्रथमैरङ्गैः षष्ठभिर्निष्पाद्यते··· ॥ —६।७।९१

१५५. तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्। —पा० यो० ३।२

समाधि—अब अन्त में खाण्डिक्य के प्रति चरमलक्ष्य 'समाधि' के परिभाषण में केशिध्वज कहते हैं कि उस (ध्यानगत) ध्येय पदार्थ का ही जो मन के द्वारा ध्यान से सिद्ध होने योग्य कल्पनाहीन (ध्याता, ध्येय और ध्यान के भेद से रहित) स्वरूप का ग्रहण किया जाता है उसे ही 'समाधि' कहते हैं[१५६]। एतत्सम्बन्ध में महर्षि पतञ्जलि का भी कथन है कि ध्यान करते-करते जब चित्त ध्येयाकार में परिणत हो जाता है, उसके अपने स्वरूप का अभाव-सा हो जाता है, उसकी ध्येय से भिन्न उपलब्धि नहीं होती, उस समय उस ध्यान का ही नाम 'समाधि' हो जाता है[१५७]।

इस प्रकार अपने पुराण में पातञ्जल योगदर्शन के समान अष्टांगयोग का पूरा विवरण उपलब्ध होता है।

भगवद्गीता में भगवान् कृष्ण ने इसी प्रकार के ज्ञानयोग का प्रतिपादन करते हुए अर्जुन से कहा है—'ज्ञान प्राप्त हो जाने पर सम्पूर्ण कर्मसंस्कार ऐसे नष्ट हो जाते हैं जैसे अग्नि से इन्धन और तब पुरुष सांसारिक बन्धन—जन्म-मरण से सदा के लिए मुक्त होकर परम गति को प्राप्त होता है[१५८]। जिनका पाप ज्ञान से धुल गया है ऐसे साधक उसी (परमात्मा) में बुद्धि, उसी में चित्त, उसी में निष्ठा और उसी में तत्परता के द्वारा फिर नहीं लौटने के लिए जाते हैं[१५९]।

प्रणवब्रह्म

कोषकार ने ॐकार और प्रणव—इन दोनों शब्दों को समानार्थक तथा परस्पर में एक दूसरे का पर्यायवाचक निर्दिष्ट किया है[१६०]। अपने पुराण में एकाक्षर और अविनाशी ॐरूप प्रणव को ब्रह्म का वाचक प्रतिपादित किया गया है तथा ब्रह्म को बृहत् और व्यापक। पौराणिक मान्यता के अनुसार सम्पूर्ण त्रिलोकी—भूर्लोक, भुवर्लोक और स्वर्लोक ॐरूप प्रणव-ब्रह्म में ही स्थित है।

---

१५६. तस्यैव कल्पनाहीनं स्वरूपग्रहणं हि यत्।
मनसा ध्याननिष्पाद्यं समाधिः सोऽभिधीयते॥ —६।७।९२

१५७. तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः।
—पा० यो० ३।३

१५८ यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा॥ ४।३७

१५९. तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः॥ —वही ५।१७

१६०. ॐकारप्रणवौ समौ (अ० को० १।४)।

प्रणव ही वेदचतुष्टय—ऋक्, यजुस्, सामन् और अथर्व का प्रतीक है तथा प्रणवरूप ब्रह्म ही जगत् की उत्पत्ति एवं प्रलय का कारण भी है। शब्द-शास्त्र के अनुसार अकार, उकार और मकार—इन तीन भिन्न-भिन्न अक्षरों के योग से ॐ शब्द की निष्पत्ति हुई है। पौराणिक मत से इन त्र्यक्षरों से भिन्न होकर भी ॐ रूप प्रणव [ज्ञानदृष्टियों के लिए] अभिन्न है—एक है। प्रणव-ब्रह्म से भिन्न अथवा पृथक् किसी भी अन्य तत्त्व वा पदार्थ के अस्तित्व की स्वीकृति नहीं हुई है[१६१]। ॐकार को जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तिरूप तीन धर्मों से युक्त साक्षात् भगवान् विष्णु का अभिन्न रूप ही माना गया है तथा सम्पूर्ण वाणियों (वेदों) का अधिपति भी घोषित किया गया है। पौराणिक मत से सूर्य भी विष्णु का अतिश्रेष्ठ अंश है और विकाररहित अन्तर्ज्योतिःस्वरूप तथा ॐकार उसका वाचक है[१६२]।

शाब्दिक निष्पत्ति के विचार से 'ओम्' शब्द में जिन अकार, उकार और मकार—इन तीन अक्षरों का योग है उनमें से प्रत्येक ब्रह्मा (सृष्टिकर्ता), विष्णु (पालनकर्ता) और शिव (संहारकर्ता) का वाचक है अतः 'ॐ' तो सर्वशक्तिमान् पूर्ण परमेश्वर का रूप ही है[१६३]।

भगवान् कृष्ण ने सच्चिदानन्दघन ब्रह्म का तीन प्रकार का नामनिर्देश किया है। यथा (१) ॐ, (२) तत् और (३) सत्। इस नामत्रय से ही सृष्टि के आदिकाल में ब्राह्मण, वेद और यज्ञ आदि की रचना हुई[१६४]। इन तीन नामों में प्रणव को ही प्रथम मान्यता दी गयी है।

ॐकार के महत्त्व के वर्णन में उपनिषद् का प्रतिपादन है कि सम्पूर्ण वेद जिस पद का वर्णन करते हैं, समस्त तपश्चरण जिसकी प्राप्ति के साधन हैं और जिसके संकल्प से [मुमुक्षुजन] ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, संक्षिप्तरूप 'ॐ' ही वह पद है। अत एव इस अक्षर 'ॐ प्रणव' को ही जान कर जो (साधक) जिस पद की इच्छा करता है वही (पद) उसका हो जाता है। अतः

---

१६१. तु० क० ३।३।२२-३१

१६२. ओङ्कारो भगवान्विष्णुस्त्रिधामा वचसां पतिः।
...............२।८।५५॥
वैष्णवोंऽशः परः सूर्यो योऽन्तर्ज्योतिरसम्प्लवम्।
अभिधायक ॐकारस्तस्य तत्प्रेरकः परः॥ २।८।५५-५६

१६३. स० श० कौ०

१६४. ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा॥ गीता १७।२३

यह श्रेष्ठ और पर आलम्बन है और इस आलम्बन को जान कर साधक ब्रह्म-लोक में महिमासमन्वित हो जाता है[१६५]।

प्रणव की महिमा के वर्णन-प्रसंग में योगेश्वर भगवान् कृष्ण की घोषणा है कि पुरुष को अपने इन्द्रियद्वारों को रोक कर मन को अपने हृद्देश में स्थिर करना चाहिये। पुनः उस वशीकृत मन के द्वारा प्राण को मस्तक में स्थापित कर और परमात्मसम्बन्धी योगधारण में स्थिर होकर जो पुरुष 'ॐ' इस एकाक्षर ब्रह्म को उच्चारण करता एवं उसके अर्थस्वरूप मुझ निर्गुण ब्रह्म का चिन्तन करता हुआ शरीर को त्याग कर जाता है वह पुरुष परम गति अर्थात् मोक्ष को प्राप्त हो जाता है[१६६]।

उपनिषद् में 'ओम्' इस पद को परमात्मा का अतिसन्निहित नाम माना गया है। इस नाम के उच्चारण से वे उसी प्रकार प्रसन्न होते हैं जिस प्रकार प्रिय नाम के लेने से सांसारिक लोगों को प्रसन्नता होती है[१६७]। शङ्कराचार्य ने भी ब्रह्म का अर्थ 'प्रणव' बतलाया है और कहा है कि प्रणव के द्वारा मन और इन्द्रियों को नियमित कर प्रणवब्रह्मरूप नौका से विद्वान् भयंकर जलप्रवाहों को पार कर लेता है[१६८]। उपनिषद् में यह भी प्रतिपादन है कि ओङ्कार से भिन्न कोई भी तत्त्व नहीं है। 'ॐ' यह अक्षर ही सब कुछ है। यह जो भूत, भविष्यत् और वर्तमान है, उसी की व्याख्या है। अतः यह सब ओङ्कार ही है।

---

१६५. सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्त पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्॥
एतद्धयेवाक्षरं ब्रह्म एतद्धयेवाक्षरं परम्।
एतद्धयेवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥
एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते॥ क० उ० १।२।१५–१७

१६६ सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणम्॥
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्॥
गीता ८।१२–१३

१६७. ओमित्येतदक्षरं पमात्मनोऽभिधायकं नेदिष्ठम्, तस्मिन् हि प्रयुज्यमाने स प्रसीदति प्रियनामग्रहण इव लोकः॥ छा० उ० शा० भा० १।१।१।

१६८. श्वे० उ० शा० भा० २।८

इसके अतिरिक्त भी जो कुछ अन्य त्रिकालातीत वस्तु है वह भी ओङ्कार ही है[१६९]।

पुराण में कथन है कि स्वायम्भुव मनु ने प्रणवसहित भगवन्नाम के जप के प्रभाव से त्रैलोक्यदुर्लभ एवं मनोवाञ्छित सिद्धि प्राप्त की थी और सप्तर्षियों के उपदेश से औत्तानपादि ध्रुव ने इसी मंत्रजप के प्रभाव से त्रिलोकी में सर्वोत्कृष्ट, अक्षय तथा उच्चतम पद को प्राप्त किया था[१७०]।

यहां पर स्वाभाविक रूप से यह समस्या उपस्थित हो सकती है कि वह कौन-सा मंत्र है जिसके जप से साधक मुक्ति पाकर कृतकृत्य हो सकता है। इसके समाधान में भगवान् के असंख्य नामों का निर्देशन हो सकता है किन्तु उपयोगितम होने के कारण यहाँ पर योगदर्शन का मत ही उल्लेखनीय है। पतञ्जलि ने प्रणव अर्थात् ओङ्कार को ईश्वर का वाचक अर्थात् पर्याय घोषित किया है और कहा है कि साधक योगी के लिए उस प्रणव का जप और उसके अर्थस्वरूप परमेश्वर का चिन्तन करना परश्रेयस्कर है, क्योंकि प्रणव के जप से विघ्नों का अभाव और आत्मस्वरूप का ज्ञान प्राप्त होता है[१७१]।

वैदिक वाङ्मय में भी भगवन्नामकीर्तन का प्रसंग आया है। कीर्तनकर्ता मनुष्य भगवान् से निवेदन करते हैं—'हे प्रभो, हम मनुष्य मरणशील हैं और आप अमर हैं। हम आपके नामकीर्तन का पुनः पुनः अभ्यास करते हैं'[१७२]।

भागवत पुराण में तो अनेक स्थलों पर भगवान् के नामकीर्तन की महिमा गायी गयी है। एक प्रसंग पर कहा गया है कि भगवान् के नाम का कीर्तन वा जपन समस्त पापों का नाशक होता है[१७३]।

श्रुति में प्रणव को आत्मोपलब्धि में करणरूप से विवृत करते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार अरणि में स्थित अग्नि की मूर्ति—स्वरूप को मन्थन से

---

१६९. ओमित्येतदक्षरमिदँ सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव। यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एव। मा० उ० १।१

१७०. तु० क० १।११-१२

१७१. तस्य वाचकः प्रणवः। तज्जपस्तदर्थभावनम्। ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च पा० यो० १।२७-२९।

१७२. मर्ता अमर्त्यस्य ते भूरि नाम मनामहे॥ ऋ० वे० ८।११।५

१७३. नामसङ्कीर्तनं यस्य सर्वपापप्रणाशनम् १२।१३।२३।

पूर्व दृष्टिगत नहीं किया जा सकता और न उसके लिङ्ग अर्थात् सूक्ष्म रूप का नाश ही होता है। तथा अरणि में स्थित वह अग्नि फिर इन्धनयोनि से पुनः-पुनः मन्थन करने पर ग्रहण किया जा सकता है। उन दोनों (अग्नि और अग्निलिङ्ग) के समान, जैसे मन्थन से पूर्व उनका ग्रहण नहीं होता था किन्तु मन्थन करने पर वे दृष्टिगोचर होने लगते हैं, उसी प्रकार अग्निस्थानीय आत्मा उत्तरारणिस्थानीय प्रणव के द्वारा मनन से अधरारणिस्थानीय देह में ग्रहण किया जा सकता है[१७४]।

आत्मपरमात्मतत्त्व

प्रतिपादन है कि सर्वविज्ञानसम्पन्न आर्षभ भरत आत्मा को निरन्तर प्रकृति से परे देखता था और आत्मज्ञानसम्पन्न होने के कारण वह देवता आदि सम्पूर्ण प्राणियों को अपने से अभिन्न रूप से देखता था[१७५]। ब्राह्मणकुलजन्मा उस भरत ने आत्मतत्त्वसम्बन्ध में महात्मा सौवीरराज से कहा था कि आत्मा तो शुद्ध, अक्षर, शान्त, निर्गुण, और प्रकृति से परे है तथा समस्त जीवों में वह एक ही ओतप्रोत है। अतः कभी उसके वृद्धिक्षय नहीं होते हैं[१७६]।

आत्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में उपनिषद् की घोषणा है कि वह सर्वव्यापक, शुद्ध, अशरीरी, अक्षत, स्नायुरहित, निर्मल, धर्माधर्मरूप पाप से रहित, सर्वद्रष्टा, सर्वज्ञ, सर्वोत्कृष्ट और स्वयम्भू है[१७७]।

शब्दशास्त्रीय व्युत्पत्ति के अनुसार यह आत्मा निरन्तर गतिशील है; ज्ञानमय है; मोक्षस्वरूप है और प्राप्तिरूप है, क्योंकि सततगत्यर्थक 'अत् धातु और मनिण् प्रत्यय के योग से आत्मन् शब्द की सिद्धि हुई है और व्याकरण-परम्परा में गतिशब्द के उपर्युक्त चार अर्थों की मान्यता है। अपने पुराण में भी कहा गया है कि यह निर्मल आत्मा ज्ञानमय तथा निर्वाणस्वरूप—

---

१७४. वह्नेर्यथा योनिगतस्य मूर्तिर्न दृश्यते नैव च लिङ्गनाशः।
स भूय एवेन्धनयोनिगृह्य तद्वोभयं वै प्रणवेन देहे॥
श्वे० उ० १।१३

१७५. तु० क० २।१३।३६-३८

१७६. आत्मा शुद्धोऽक्षरः शान्तो निर्गुणः प्रकृतेः परः।
प्रवृद्ध्यपचयौ नास्य एकस्याखिलजन्तुषु॥ २।१३।७१

१७७. स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविर ॐ शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः········ ई० उ० ४॥

मोक्षस्वरूप है। दुःख आदि जो अज्ञानमय धर्म हैं वे प्रकृति के हैं, आत्मा के नहीं[१७८]।

औपनिषदिक प्रमाण से आत्मा की सतत गमनशीलता भी सिद्ध होती है—क्योंकि कहा गया हैं कि आत्मा मन से भी तीव्र गतिशील है[१७९]।

परमात्मतत्त्व के सम्बन्ध में पौणिक सिद्धान्त यह है कि वह (परमात्मा) सब का आधार और एक मात्र अधीश्वर है; उसी का वेदों और वेदान्तों में विष्णुनाम से वर्णन किया गया है। वैदिक कर्म दो प्रकार का है—प्रवृत्तिरूप (कर्मयोग) और निवृत्तिरूप (सांख्ययोग)। इन दोनों प्रकार के कर्मों से उस सर्वभूत पुरुषोत्तम का ही भजन किया जाता है। मनुष्य ऋक्, यजु और सामवेदोक्त प्रवृत्ति-मार्ग से उस यज्ञपति पुरुषोत्तम यज्ञपुरुष का ही पूजन करते हैं तथा निवृत्तिमार्ग में स्थित योगिजन भी उन्हीं ज्ञानात्मा ज्ञानस्वरूप मुक्तिफलदायक भगवान् विष्णु का ही ज्ञानयोग के द्वारा यजन करते हैं। ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत—इन त्रिविध स्वरों से जो कुछ कहा जाता है तथा जो बाणी का विषण नहीं है वह सब भी अव्ययात्मा विष्णु ही है। वह विश्वरूप-धारी विश्वरूप परमात्मा श्रीहरि ही व्यक्त, अव्यक्त एवं अविनाशी पुरुष है। उस सर्वव्यापक और अविकृत रूप परमात्मा में ही व्यक्ताव्यक्तरूपिणीं प्रकृति और पुरुष लीन हो जाते हैं[१८०]।

श्रुति कहती है कि वह हस्तरहित होकर ग्रहण करता है; पादरहित होकर महावेग से चलता है; नेत्रहीन होकर भी देखता है, और कर्णरहित होकर भी सुनता है। वह सम्पूर्ण वेद्यवर्ग को जानता है, किन्तु उसका ज्ञाता कोई नहीं है। उसे सबका आदि, पूर्ण एवं महान् कहा गया है[१८१]।

कृष्ण का कथन है कि वह सम्पूर्ण इन्द्रियविषयों का ज्ञाता है परन्तु वास्तव

---

१७८. निर्वाणमय एवायमात्मा ज्ञानमयोऽमलः।
दुःखज्ञानमया धर्माः प्रकृतेस्ते तु नात्मनः॥
—६।७।२२

१७९. ई० उ० ४

१८०. तु० क० ६।४।४०–४६

१८१. अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्॥
श्वे० उ० ३।१९

में समस्त इन्द्रियों से रहित है तथा आसक्तिरहित होने पर भी सब का धारक-पोषक और निर्गुण होने पर भी गुणों का भोक्ता है[१८२]।

पौराणिक मान्यता से भी वह अव्यक्त, अनिर्वाच्य, अचिन्त्य, नामवर्णरहित, हस्त-पाद तथा रूप से रहित, शुद्ध, सनातन और पर से भी पर है। कर्ण आदि समस्त कर्मेन्द्रियों से रहित होकर भी सम्पूर्ण इन्द्रिय-विषयों का व्यापार करता है तथा स्वयं अज्ञेय होकर भी वह सर्वज्ञ है[१८३]।

पौराणिक सिद्धान्त के अनुसार मन ही मनुष्य के बन्धन और मोक्ष का कारण है; विषय का संग करने से वह (मन) बन्धनकारी और विषयशून्य होने से मोक्षकारक होता है। अतः विवेकज्ञानसम्पन्न मुनि के लिए यह विधेय है कि वह अपने मन को विषयों से हटा कर मोक्षप्राप्ति के लिए ब्रह्म-स्वरूप परमात्मा का चिन्तन करे। जिस प्रकार अयस्कान्त मणि अपनी शक्ति से लोहे को खींच कर अपने में संयुक्त कर लेता है उसी प्रकार ब्रह्मचिन्तनकर्ता मुनि को परमात्मा स्वभावतः ही स्वरूप में लीन कर लेता है[१८४]।

भगवान् कृष्ण ने भी मन की निश्चलता को परमात्मा की उपलब्धि में सहायक बतलाते हुए कहा है कि भक्तियुक्त पुरुष अन्तकाल में भी योगबल से भृकुटी के मध्य में प्राण को सम्यक् प्रकार से स्थापित कर फिर निश्चल मन से स्मरण करता हुआ उस दिव्यस्वरूप परम पुरुष परमात्मा को ही प्राप्त होता है[१८५]।

नास्तिक सम्प्रदाय

जैन, बौद्ध और चार्वाक—ये तीन दर्शन नास्तिक सम्प्रदाय के अन्तर्गत माने गये हैं। नास्तिक सम्प्रदाय में परलोक के अस्तित्व एवं वेद की अपौरुषेयता की मान्यता नहीं है। जैन और बौद्ध सम्प्रदायों में वेद का तो स्पष्ट खण्डन है, किन्तु परलोक के अस्तित्व की मान्यता है। अतः ये दो सम्प्रदाय

---

१८२. सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च॥ गीता १३।१४

१८३. तु० क० ५।१।३९-४०

१८४. वही ६।७।२८-३०

१८५. प्रयाणकाले मनसाचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥
गीता ८।१०

अपूर्ण नास्तिकवादी नाम से अभिहित किए जाते हैं, किन्तु चार्वाकीय सिद्धान्तों में तो परलोक और वेद—दोनों का स्पष्ट रूप से उपहासमय खण्डन किया गया है। इस कारण से चार्वाक एक मात्र नास्तिकवादी सम्प्रदाय में घोषित किया गया है। अपने पुराण में उपर्युक्त तीनों दार्शनिक सिद्धातों का संकेत मिलता है।

जैन—पुराण के एक स्थल पर मयूरपिच्छधारी दिगम्बर और मुण्डितकेश मायामोह नामक एक असुर को दैत्यों के प्रति मधुर वाणी में संशयात्मक और वेदविरोधी मतों का उपदेश करते हुए पाया जाता है। मायामोह के उपदेश निम्न प्रकार के थे—"यह धर्मयुक्त है और धर्मविरुद्ध है, यह सत् है और यह असत् है, यह मुक्तिकारक है और यह अमुक्तिकारक है, यह परमार्थ है और यह परमार्थ नहीं है, यह कर्त्तव्य है और यह अकर्त्तव्य है, यह ऐसा नहीं है और यह स्पष्टतः ऐसा ही है, यह दिगम्बरों का धर्म है और यह साम्बरों (श्वेताम्बरों) का धर्म है"—ऐसे अनेक प्रकार के अनन्त वादों को दिखला कर मायामोह ने उन दैत्यों को स्वधर्म से च्युत कर दिया। उसने दैत्यों से कहा था कि मेरे उपदिष्ट धर्म में प्रवृत्ति करने के तुम 'अर्हत'[१८८] अर्थात् योग्य हो। अत एव इस धर्म के अवलम्बनकर्त्ता 'आर्हत' नाम से अभिहित हुए[१८७]। जैनमतावलम्बी सम्प्रदाय आर्हत नाम से अभिहित होते हैं। पुराण के समीक्षात्मक अध्ययन अत एव सम्भावनाबुद्धि से अवगत होता है कि उपर्युक्त मायामोह ही जैन धर्म का प्रवर्त्तक था।

बौद्ध—तत्पश्चात् मायामोह ने रक्त वस्त्र धारण कर अन्यान्य असुरों के निकट जाकर उनसे मृदु, अल्प और मधुर शब्दों में कहा—"यदि तुम लोगों को स्वर्ग अथवा निर्वाण की कामना है तो पशु-हिंसा आदि दुष्ट कर्मों को त्याग कर बोध प्राप्त करो। यह सम्पूर्ण जगत् विज्ञानमय है—ऐसा जानो। मेरे वाक्यों का बोध करो। इस विषय में बुध जनों का ऐसा ही मत है कि संसार निराधार है, भ्रमजन्य पदार्थों की प्रतीति पर ही स्थिर है तथा रागादि दोषों से दूषित है। इस संसार-संकट में जीव निरन्तर भटकता रहता है। इस प्रकार बुध्यत (जानो), बुध्यध्वम् (समझो), बुध्यत (जानो) इत्यादि

---

१८६. संस्कृत व्याकरण के 'लोट्' मध्यमपुरुष के बहुवचन में पूजार्थक 'अर्ह' धातु का रूप "अर्हत" होता है। इस "अर्हत" क्रियावाची शब्द का अनुज्ञात्मक अर्थ होता है "योग्य बनो"।

१८७. तु० क० ३।१८ २-१२

शब्दों से बुद्ध धर्म का निर्देश कर मायामोह ने दैत्यों से उनका निज धर्म छुड़ा दिया। इस प्रकार मायामोह से उपदेश पाकर दैत्यों ने परम्पराक्रम से इस धर्म का प्रचार करते हुए श्रुतिस्मृतिविहित धर्मों को त्याग दिया[१८८]। इस प्रकार उन दैत्यों में से कोई वेदों की, कोई देवताओं की, कोई याज्ञिक कर्मकलापों की और कोई ब्राह्मणों की आलोचना और निन्दा करने लगे। इस प्रसंग से ध्वनित होता है कि बौद्धधर्म का प्रचारक सम्भवतः यह मायामोह ही था।

चार्वाक—प्रत्यक्षैकप्रमाणवादी चार्वाकसम्प्रदाय के दार्शनिक सिद्धान्तों में प्रमुख रूप से परलोकास्तित्व एवं वेद की अपौरुषेयता की अमान्यता है। यह सम्प्रदाय पूर्ण रूप से अनात्मवादी तथा अनीश्वरवादी है। आनुषङ्गिक रूप से चार्वाकसम्प्रदाय में देहात्मवाद, इन्द्रियात्मवाद, मानसात्मवाद, बुद्ध्यात्मवाद, प्राणात्मवाद, कालवाद, स्वभाववाद, नियतिवाद, यदृच्छावाद और भूतवाद की मान्यता है[१८९]।

पुराण में भी इसी प्रकार के मत का प्रचारक मायामोह नामक एक व्यक्ति विवृत हुआ है। जिस समय असुरगणों ने नर्मदानदी के तट पर पारलौकिक फल की कामना से तपश्चरण आरम्भ किया था उसी समय मायामोह ने वहाँ जाकर वेद एवं परलोकादिविरोधी विविध पाषण्डों के उपदेश के द्वारा तपोनिष्ठ असुरगणों को मोहित कर दिया और इस प्रकार थोड़े ही समय में मायामोह के द्वारा मोहित होकर तपस्याचारी असुरगणों ने वैदिक-धर्मविषयक वार्तालाप करना भी छोड़ दिया। उनमें से कोई वेदों की, कोई देवताओं की, कोई याज्ञिक कर्म-कलापों की तथा कोई ब्राह्मणों की निन्दा करने लगे। और असुरगण वैदिक धर्म की कटु एवं नग्न आलोचना करने लगे [१९०]।

अपने पौराणिक प्रसंग से प्रतीत होता है कि यही मायामोह चार्वाक मत का आद्य प्रवर्तक एवं प्रचारक था। चार्वाकसम्प्रदाय धूर्त, सुशिक्षित और सुशिक्षिततर—इन तीन सम्प्रदायों में विभक्त थे[१९१]। मायामोह धूर्त-सम्प्रदायी अवगत होता है, क्योंकि इसके उपदेश से असुरगण वैदिक कर्मकाण्डों का नग्न उपहास करने लग गये थे।

---

१८८. ३।१८।१५–२१
१८९. चा० शा० स० १०६–१३२
१९०. तु० क० ३।१८
१९१. चा० शा० स० ५३–५७

निष्कर्ष

दर्शन के प्रमुख तीन अंगों—ज्ञानमीमांसा, तत्त्वमीमांसा और आचार-मीमांसा—का सामान्य समीक्षण सम्पन्न हुआ। पुराण में स्पष्टास्पष्ट रूप से ज्ञान के उपकरणों में प्रमा, प्रमाता, प्रमेय एवं प्रमाण का; तत्त्वसम्बन्धी सर्वेश्वरवाद, प्रलय, कालमान और देवमण्डल का तथा आचारविषयक नवधा भक्ति और अष्टाङ्ग योग का विवरण पाया जाता है। यहाँ तदनुसार इन समस्त विषयों का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। निष्कर्ष रूप से विष्णु-पुराण में वैदिक एवं अवैदिक—आस्तिक एवं नास्तिक—अशेष भारतीय दर्शन-सम्बन्धी विवेचनीय तत्त्वों की उपलब्धि होती है और तदनुकूल पद्धति से उनकी समीक्षा सम्पन्न करने की चेष्टा की गयी है।

दशम अंश

कला

[प्रस्ताव, प्रकृतकलाकार, वास्तुकला, धार्मिकवास्तु, नागरिकवास्तु, संगीत, उत्पत्ति, नृत्य, चित्रकला, निष्कर्ष ।]

[प्रयुक्त साहित्य : (१) विष्णुपुराणम् (२) अमरकोषः (३) भारतीय वास्तुकला (४) नीतिशतकम् (५) Cultural History from Vāyu Purāna (६) वैदिक इण्डेक्स (७) Pre-Buddhist India और (८) Position of women in Ancient India]

प्रस्ताव

सूक्ष्म से सूक्ष्म वा अणु से अणु एवं विशाल से विशाल वा महान् से महान् सम्पूर्ण निर्मित तत्वों में अविकल्प रूप से कलात्मकता की ही अनुभूति होती है। वट का एक सूक्ष्म — तिल के तुल्य अणु—बीज अंकुरित होकर एक महा-विशाल वृक्ष के रूप में परिणत हो जाता है। पुष्प का छोटा बीज लता के रूप में परिणत होकर सुन्दर एवं आकर्षक विविध प्रकार के सुमन उत्पन्न कर देता है। इसी प्रकार रत्नगर्भा धरा की श्यामल आदि विभिन्नरूपता में, अनन्त सागर की चंचल तरंग-माला में, वर्षाकालीन मेघमाला की अस्थिर विद्युल्लता में, रूपरहित वायु की स्पर्शनशीलता में और सूर्योदय एवं सूर्यास्त कालीन निस्सीम नभोमण्डल की रंग विरंग आकृति में विश्व की कलात्मकता का दर्शन होता है। सम्पूर्ण विश्वब्रह्माण्ड कलामय है अथवा समस्त कला विश्व-ब्रह्माण्डमय है।

प्रकृत कलाकार

पौराणिक निर्णय से एकमात्र विष्णु ही प्रकृत कलाकार सिद्ध होते हैं, क्योंकि यह सम्पूर्ण जगत् विष्णु से उत्पन्न हुआ है, उन्हीं में स्थित है, वे ही इसकी स्थिति और लय के कर्ता हैं तथा यह जगत् भी वे ही हैं[1]।

वैदिक वाङ्मय की घोषणा है कि वह (परब्रह्म) पूर्ण है और यह (कार्य ब्रह्म) भी पूर्ण है; क्योंकि पूर्ण से पूर्ण की ही उत्पत्ति होती है। तथा [प्रलय काल में] पूर्ण [कार्यब्रह्म] का पूर्णत्व लेकर (अपने में लीन कर) पूर्ण [पर-ब्रह्म] ही शेष रहता है[2]। गीता के विश्वदर्शनसम्बन्धी अध्याय में कला की चरम परिणति हुई है। जब अर्जुन कृष्ण के विश्वव्यापी रूप में नग नगर, नदी-निर्झर, तृण-तरु एवं कोटि-कोटि प्राणियों को अन्तर्भूत देखते हैं, जिनके ऊपर शस्त्र उठाते ही उनकी हथेली ठण्डी एवं शिथिल पड़ जाती है, अंगुलियों की गाँठ-

---

१. विष्णोः सकाशादुद्भूतं जगत्तत्रैव च स्थितम्।
स्थितिसंयमकर्तासौ जगतोऽस्य जगच्च सः॥ —१।१।३१

२. पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥ —ई० उ० (शान्ति पाठ)

गाँठ में पीड़ा होने लगती है, वह सम्पूर्ण भी जब कृष्ण के विकराल आनन में समाये, दाढ़ तले दबे दृष्टिगत होते हैं तो जैसे कला ने विशद आकार ग्रहण कर उन्हें इतना ही सत्य दिखलाया कि कृष्ण सारे संसार को अपने बाहुपाश में बाँधे हुए हैं[3]।

उस विश्वात्मा का प्रत्येक क्रियाव्यापार उसकी अलौकिक कलाकारिता का परिचायक है : पृथिवी के उद्धार के प्रसंग में कहा गया है कि महावराहरूप-धारी धरणीधर ने घर्घर शब्द से गर्जना कर अपनी डाढ़ों से पृथिवी को उठा लिया और वे कमलदल के समान श्याम तथा नीलाचल के सदृश विशालकाय भगवान् रसातल से बाहर निकले। निकलते समय उनके मुख के श्वास से उछलते हुए जल ने जनलोक के निवासी महातेजस्वी सनन्दनादि मुनीश्वरों को भिगो दिया। जल महान् शब्द करता हुआ उनके खुरों से विदीर्ण हुए रसातल में नीचे की ओर जाने लगा और जनलोक के निवासी सिद्ध गण उनके श्वास वायु से विक्षिप्त होकर इधर-उधर भागने लगे[4]।

धरणीधर के इस लोकोत्तर कलात्मक दृश्य ने तत्कालीन द्रष्टाओं के मस्तिष्क को विस्मित कर दिया होगा।

वास्तुकला

भवननिर्माण एवं शिल्प-विज्ञान का नाम वास्तुकला है[5]। वास्तुकला का विकास मानव-सभ्यता के विकास के साथ हुआ—ऐसी कल्पना स्वभावतः की जा सकती है। संसार के प्राणिमात्र में आत्मरक्षा और सुख-साधन का भाव नैसर्गिक रूप से पाया जाता है। हम देखते हैं कि पक्षी नीडनिर्माण करते हैं और चूहे आदि बिल खोद लेते हैं। इस प्रकार बुद्धिशून्य कहे जाने वाले जीव-जन्तुओं एवं पशु पक्षियों में भी आत्मरक्षा के लिए सुन्दर से सुन्दर कलापूर्ण निवास निर्माण की भावना पाई जाती है, तो यह कल्पना स्वाभाविक है कि मानव में यह भावना—यह आकांक्षा और भी तीव्र रही होगी। उसने जन्म के साथ ही शीतोष्णता और वर्षा आदि से रक्षा की आवश्यकता का अनुभव किया होगा और उसी समय वास्तुकला का जन्म हुआ होगा।

पौराणिक कथन है कि सम्पूर्ण प्रजा ने द्वन्द्व, ह्रास और दुःख से आतुर होकर शीतोष्णादि से सुरक्षा के लिए मरुभूमि, पर्वत और जल आदि के स्वाभाविक तथा कृत्रिम दुर्ग और पुर तथा खर्वट (पहाड़ और नदी के तट-

---

३. तु० क० ११।१५-३०

४. १।४।२५-२८

५. अ० को० २।२-१९

स्थित छोटे टोले) आदि स्थापित किये। उन पुर आदिकों में शीत और आतप आदि बाधाओं से रक्षा के लिए आरम्भकालीन प्रजा ने यथायोग्य गृहनिर्माण किया[६]। पूर्व के अध्याय में महाराज पृथु के प्रसंग में यह कहा जा चुका है कि उनके पहले पुर और ग्राम आदि का कोई नियमित विभाग नहीं था, क्योंकि उस समय पृथिवी समतल नहीं थी। पृथु ने ही अपने धनुष की कोटि से सैकड़ों-सहस्रों पर्वतों को उखाड़ कर उन्हें एक स्थान पर व्यवस्थित किया था। देवशिल्पी विश्वकर्मा का वास्तुविज्ञान पौराणिक जगत् में प्रसिद्ध है। वे सम्पूर्ण शिल्पविज्ञान के विशिष्ट आचार्य थे। महर्षि सौभरि की पत्नियों के लिए उन्होंने अल्पकाल में पृथक्-पृथक् प्रासादों का निर्माण किया था। उन प्रासादों में प्रफुल्ल कमल और कूजते हुए सुन्दर हंस तथा कारण्डव आदि जलपक्षियों से सुशोभित जलाशय थे। सुकोमल उपधान, शय्या और परिच्छदों का निर्माण किया गया था[७]। विश्वकर्मा सहस्रों शिल्पों के कर्ता, समस्त शिल्पकारों में श्रेष्ठ और सब प्रकार के आभूषणों के निर्माता थे। ये ही देवताओं के विमानों की रचना करते थे। इन्हीं की शिल्पकला के आश्रय से मनुष्य आज भी जीवननिर्वाह करते हैं[८]।

धार्मिकवास्तु

पर्वत-कन्दराओं में सुन्दर सुन्दर देवमन्दिरों का वर्णन है और वे हैं लक्ष्मीमन्दिर, विष्णुमन्दिर, अग्निमन्दिर और सूर्यमन्दिर[९]। पुराण में इन मन्दिरों की आकृति आदि के विषय में कोई संकेत नहीं है।

वैदिक साहित्य में धार्मिक वास्तु के रूप में यज्ञवेदी और यज्ञशाला का उल्लेख मिलता है। उसे ही भारतवर्ष का आदिम धार्मिक वास्तु कह सकते हैं। अनुमानतः तत्कालीन यज्ञवेदी मिट्टी और कुश के बने चबूतरे और यज्ञशाला प्रारंभिक छाजन वाली झोपड़िया रही होंगी। पश्चात् वेदिका को कलात्मक रूप दिया गया होगा। तैत्तिरीयसंहिता में पक्षी, रथ अथवा करोत्तान मानव आदि के आकार की वेदिका के निर्माण का निर्देश पाया जाता है। यज्ञशाला के वर्णन से ज्ञात होता है कि ये पवित्र धार्मिक भवन संभवतः बाँस और फूस के बनाये जाते थे। वैदिककालीन वास्तुसम्बन्धी इन अनुमानों के अतिरिक्त

---

६. तु० क० १।६।१७-१९
७. वही ४।२।९७-९८
८. वही १।१५।१२०-१२१
९. तु० क० अ० ८ पा० टी० ९०

ई० पू० षष्ठी शताब्दी तक किसी भी अन्य धार्मिक वास्तु का ज्ञान नहीं था। उस शताब्दी में गौतम बुद्ध ने भारत की प्राचीन धार्मिक अवस्था को एक नवीन रूप दिया था। उस धार्मिक रूप के आधार पर उनके निर्वाण के पश्चात् 'स्तूप' वास्तु का विकास हुआ जिसका मूल वैदिककालीन समाधि है। तदनन्तर स्तूपभवन और विहार नामक दो अन्य वास्तु प्रकार का विकास हुआ जिनका सम्बन्ध बौद्ध धर्म से ही अधिक था और उनका अन्त भी बौद्ध धर्म के पतन के साथ ही हो गया। इन वास्तुप्रकारों के साथ-साथ एक अन्य वास्तु का विकास होता रहा जो मन्दिर नाम से प्रौढ होकर चतुर्थ शताब्दी के पश्चात् से अब तक अत्यधिक संख्या में भारतवर्ष में सर्वत्रप्राय है[१०]। पुराण में धनुश्शाला और कार्मुकालय नामक दो वास्तुओं का विवरण है, किन्तु वे धार्मिक वास्तु नहीं हैं—सांग्रामिक हैं[११]।

प्रासादवास्तु

राजप्रासाद के सम्बन्ध में पौराणिक विवरण से ज्ञात होता है कि प्रासाद निर्माण कला अतिशय विकसित और उन्नत अवस्था में थी। बहुमूल्य स्फटिक मणियों एवं अभ्रशिलाओं के निर्मित प्रासाद अत्यन्त मनोहर होते थे[१२]। पर्वत से भी ऊँचे सौ योजन में उच्छ्रित राजप्रासाद होते थे[१३]।

शुक्राचार्य ने नीतिसार के प्रथम अध्याय में राजप्रासाद के निर्माण का कुछ संकेत किया है। उससे ज्ञात होता है कि राजप्रासाद अष्टकोण अथवा पद्म के सदृश एक से लेकर एक सौ पचीस मंजिल तक होते थे[१४]।

नागरिकवास्तु

नागरिक वास्तु-निर्माणकला भी अत्यन्त उन्नतावस्था में थी: कृष्ण ने इन्द्र की अमरावती पुरी के समान उद्यानों, गंभीर परिखाओं, सैकड़ों सरोवरों और ऊंचे प्रासादों से सुशोभित द्वारकापुरी का निर्माण किया था। यह पुरी बारह योजनों में विस्तृत थी। इसका निर्माण ऐसी कलात्मक पद्धति से किया गया था कि जिसके दुर्ग में बैठकर स्त्रियां भी सुरक्षित रूप से युद्ध कर सकती

---

१०. तु० क० भा० वा० ३६ ३८

११. तु० क० ५।२०।१४ और १७

१२. तत्र प्रनृत्ताप्सरसि स्फाटिकाभ्रमयेऽसुरः।
पपौ पानं मुदा युक्तः प्रासादे सुमनोहरे॥ —१।१७।९

१३. वही १।१९।११

१४. तु० क० भा० वा० २३

थीं। उस दुर्ग में स्थित लोगों को अधिक से अधिक दुष्ट शत्रुगण भी पराभूत नहीं कर सकते थे।[१५]

ऋग्वेद में भवननिर्माण के अत्यन्त उन्नत आदर्शों का वर्णन है। उनमें एक स्थान पर सहस्र स्थूणों के भवन का उल्लेख है। लिखा है कि प्रजा का द्रोही न होकर राजा तथा मंत्री दृढ़, उत्तम तथा सहस्र स्तम्भों के भवन में रहे।[१६] उसमें अन्यत्र पत्थर के सौ फलकों से बने एक भवन का उल्लेख है।[१७] इसी प्रकार उसमें लोहे और पत्थर के बने नगरों का भी वर्णन है।[१८] आर्य-जीवन की उन्नत अवस्था में ही सम्भवतः ऐसा रहा होगा, उसके प्रारम्भिक काल में तो वास्तुकला बहुत ही शैशवावस्था में होगी। अन्य देशों की तरह लोग वृक्षों अथवा गुफाओं में रहते होंगे और वास्तुनिर्माण की चेष्टा मिट्टी, बाँस अथवा वल्लियों से आरम्भ हुई होगी। पश्चात् सामान्य जीवन में काष्ठ का प्रयोग मुख्य रूप से होने लगा होगा।

संगीत

संगीत कला के महिमा-वर्णन में भर्तृहरि का कहना है कि जो व्यक्ति संगीत कला में अनभिज्ञ है वह निस्सन्दिग्ध रूप से पशु है। अन्तर इतना है कि वह पुच्छ और सींग से रहित है।[१९]

गान्धर्व विद्या—संगीत विज्ञान—को क्रमिक अठारह विद्याओं में एकतम की मान्यता दी गयी है। अठारह विद्याएँ हैं—चार वेद, छः वेदांग, मीमांसा, न्याय, पुराण, धर्मशास्त्र, आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्व और अर्थशास्त्र।[२०]

उत्पत्ति

वैन्य पृथु के पूर्व न तो गान्धर्व विद्या (संगीत) का प्रसंग ही उपलब्ध है और न इस कला की उत्पत्ति का विवरण ही। अनुमानतः संगीत कला के आद्याचार्य सूत और मागध हैं। सूत और मागध की उत्पत्ति के विषय में पौराणिक प्रतिपादन यह है कि पृथु ने उत्पन्न होते ही पैतामह यज्ञ का अनुष्ठान

---

१५. ५।२३।११-१४

१६. तु० क० २।४१।५

१७. वही ४।३ ३०।२०

१८. वही १।११५८।८, २।२।२०।८ और ७।१।३।७ एवं ७।१।१५।१४

१९. साहित्यसंगीतकलाविहीनः साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः।
—नी० श० १२

२०. तु० क० ३।६।२८-२९

किया था। उस अनुष्ठीयमान यज्ञ से सोमाभिषव के दिन सूति (सोमाभिषव-भूमि) से महामति सूत की उत्पत्ति हुई और उसी महायज्ञ में बुद्धिमान् मागध का भी जन्म हुआ। मुनीश्वरों के आदेश से सूत और मागध ने पृथु के भावी कर्मों के आश्रय से स्वरसहित स्तवन किया और उनके द्वारा वर्णित गुणों को अपने हृदय में उन्होंने धारण भी किया।[२१] पुराण में बारह गन्धर्व उल्लिखित हुए हैं: (१) तुम्बुरु, (२) नारद, (३) हाहा, (४) हूहू, (५) विश्वावसु, (६) उग्रसेन, (७) वसुरुचि, (८) विश्वावसु, (९) चित्रसेन, (१०) ऊर्णायु, (११) धृतराष्ट्र और (१२) सूर्यवर्चा।[२२] जनार्दन के जन्म के अवसर पर गन्धर्वराज ने प्रसन्न होकर गान किया था।[२३]

जातककाल में भी गन्धर्वों का संगीत के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध सूचित होता है, क्योंकि जातकसाहित्यां में भी संगीतकला को गान्धर्ववेद के नाम से अभिहित किया गया है और इसे अठारह शिप्पों—विद्याओं—में एकतम की मान्यता दी गयी है। संगीतविद्या ऋग्वेद के युग में ही उन्नतावस्था में थी और संगीत-वाद्य भी व्यवहार में आ चुके थे। स्वयं वैदिक मंत्र ही यह प्रमाणित करते हैं कि संगीत के लिए समाज में सम्मानित स्थान था। संगीत की प्राचीनता का महत्तम साक्षी तो सामवेद ही है। यह भी निर्देश है कि संगीत ऋग्वेद का व्यावहारिक उपकरण था। सामगान में कठोर नियमों का प्रतिबन्ध था। जातकयुग में संगीतकला को उपेक्षामय तिरस्कार की दृष्टि से देखा जाता था किन्तु संगीत-सिद्धान्त का प्राचीनतम प्रसंग ऋक्प्रातिशाख्य में मिलता है। ऋग्वेद के अनुसार संगीत का प्रयोग यज्ञानुष्ठान में होता था। यह भी संकेत मिलता है कि सोमलता को दबाने के समय ब्राह्मण मंत्रगान करते थे[२४]। मागध और सूत का प्रसंग भी ऋग्वेद में आया है और वह मागध को चारण माना गया है[२५]। सूत को एग्लिग के मत से चारण और राजकवि होने की मान्यता दी गयी है[२६]।

अपने पुराण में ब्रह्मलोक में व्यवहृत संगीत कला की उत्कृष्टता के प्रतिपादन में हाहा और हूहू नामक दो संगीतनिष्णात गन्धर्वों का उल्लेख

---

२१. तु० क० १।१३।५१–६४
२२. वही २।१०।३–२०
२३. वही ५।३।५
२४. क० हि० वा० २१६
२५. वैं० इ० २।१३०
२६. वही २।५११

हुआ है। उनके गान में अतितान और त्रिमार्ग (चित्रा, दक्षिणा और धात्री) नामक कलाओं के प्रयोग का वर्णन हुआ है। रेवत एक समय अपनी रेवती कन्या के साथ उसके योग्य वर की जिज्ञासा से ब्रह्मा के पास गये थे। ब्रह्मलोक में उस समय उपर्युक्त दोनों गन्धर्व दिव्य गान गा रहे थे। उनके विलक्षण गान में इतनी मनोमोहकता थी कि अनेक युग-युगान्तर के व्यतीत हो जाने पर भी मुहूर्तमात्र ही प्रतीत हुआ था[२७]। संगीत में वाद्यों का भी प्रयोग होता था। पौराणिक वाद्यों में वीणा, वेणु, मृदंग, तूर्य, भेरी, पटह, शंख, काहल और गोमुख के नाम उल्लिखित हुए हैं[२८]। वीणा को पश्चात्कालीन संहिताओं और ब्राह्मणों में भी वाद्ययन्त्रों का द्योतक माना गया है। यजुर्वेद में एक वीणावाद (वीणावादक) को पुरुषमेध के बलिप्राणियों की तालिका में सम्मिलित किया गया है और उसका अन्यत्र भी उल्लेख है। ऐतरेयारण्यक में, जिसमें यह कहा गया है कि यह यंत्र एक समय केशयुक्त चर्म से आवृत था, इसके विभिन्न भागों की गणना करायी गयी है। यथा—शिरस्, उदर, अम्भण, तन्त्र और वादन। शतपथ ब्राह्मण में 'उत्तरमन्द्रा' या तो एक राग है अथवा एक प्रकार की वीणा[२९]। जातकयुग में इस वाद्य की बड़ी प्रसिद्धि थी[३०]।

वेणु और वाण—ये दोनों एक दूसरे के पर्यायी सम्भावित हैं। अथर्ववेद और तैत्तिरीय संहिता में वेणु को बांस के एक टुकड़े का द्योतक माना गया है। तैत्तिरीय संहिता में इसे खोखला (सु-षिर) बताया गया है। ऋग्वेद में यह केवल एक वालखिल्य सूक्त की दानस्तुति में आता है, जहाँ रौथ के विचार से 'नरकट की वंशियों' से तात्पर्य है और पश्चात्कालीन ग्रन्थों में 'वेणु' का यही आशय है[३१]। जातक ग्रन्थों में वेणु अथवा बाँसुरी वायुवाद्य के रूप में प्रसिद्ध है[३२]।

मृदंग का उल्लेख ऋग्वेद में नहीं है। जातक साहित्य में 'मूतिगा' का नाम है। सम्भवतः यह मृदङ्ग का ही अपभ्रंश रूप है[३३]। कौटिल्य मृदङ्ग से

---

२७. तु० क० ४।१।६७–६९

२८. वही २।५।११ और ४।४।९९

२९. वै० इ० २।३५४

३०. प्रि० बु० इ० ३१३–४

३१. वै० इ० २।३६३

३२. प्रि० बु० इ० ३१५

३३. वही ३१२–५

सम्यक् परिचित हैं[३४]। तूर्य का उल्लेख वैदिक साहित्य में प्रायः नहीं उपलब्ध होता है, किन्तु पाणिनि तूर्य नामक वाद्य से परिचित ज्ञात होते हैं, क्योंकि उन्होंने तूर्य का नामोल्लेख किया है[३५]।

भेरी—इसका ऋग्वेद में उल्लेख नहीं है, किन्तु जातकसाहित्य में इसका वर्णन है[३६]। रामायण में सैनिक वाद्य—तुरही वा दुन्दुभी के नाम से भेरी का उल्लेख है। महाभारत में इसकी प्रायः चर्चा है[३७]।

पटह नामक वाद्य का वैदिक ग्रंथ में नामोल्लेख नहीं मिलता है। अमरसिंह ने आनक—डुग्गी—का पर्यायवाची के रूप में इसे माना है[३८]।

शंख को अथर्ववेद में कृशन उपाधि के साथ कवच के रूप में प्रयुक्त मोती के शंख का द्योतक माना गया है। पश्चात्कालीन साहित्य में यह फूँक कर वजाये जाने वाला शंख माना गया है[३९]। गीता में विभिन्न योद्धाओं के विभिन्न शंखों का वर्णन है[४०]।

काहल नामक वाद्य की वैदिक साहित्य में कोई चर्चा नहीं है। संभवतः यह हिन्दी के ढोल का वाचक है।

गोमुख—शंख की श्रेणी का गोमुखाकृति एक वायुवाद्य यंत्र है। वेदों और जातक साहित्यों में गोमुख की कोई चर्चा नहीं है। कौटिल्य ने भी इसके सम्वन्ध में कोई विवरण नहीं दिया किन्तु महाकाव्यों में इसकी बहुधा चर्चा मिलती है[४१]।

नृत्य

पौराणिक साहित्य में नृत्य कला को भी संगीत का एक प्रमुख अंग माना गया है। नृत्य के साथ संगीत का अथवा संगीत के साथ नृत्य का संयोग बड़ा ही उपयोगी माना जाता था। अप्सराओं का नृत्य अतिशय प्रशस्त माना जाता था। देवगणों के साथ भी अप्सरोनृत्य का प्रसंग पाया जाता है।

---

३४. क० हि० वा० २१८
३५. पा० व्या० २।४।२
३६. प्रि० बु० इ० ३१५
३७. क० हि० वा० २१७
३८ अ० को० १।७।६
३९. वै० इ० २।३९०
४०. तु० क० १।१२-१८
४१. क० हि० वा० २१७-८

चैत्र से आरंभ कर फाल्गुन पर्यन्त बारहों मासों में सूर्य के सम्मुख नर्तनशील भिन्न-भिन्न बारह अप्सराओं का नामोल्लेख पाया जाता है। यथा—(१) ऋतुस्थला, (२) पुंजिकस्थला, (३) मेनका, (४) सहजन्या, (५) प्रम्लोचा, (६) अनुम्लोचा, (७) घृताची, (८) विश्वाची, (९) उर्वशी, (१०) पूर्वचित्ति, (११) तिलोत्तमा और (१२) रम्भा।[४२] हम पुराणपुरुष कृष्ण को ही नृत्यकला का सफल आचार्य मान सकते हैं। उन्होंने कालिय नाग के फण पर एक अद्भुत नृत्य किया था। नाचते हुए कृष्ण के चरणों की धमक से नाग के प्राण मुख में आ गये थे। वह अपने जिस मस्तक को उठाता था उसी पर कूद कर कृष्ण उसे झुका देते थे। कृष्ण की भ्रान्ति, रेचक तथा दण्डपात नाम की (नृत्यसम्बन्धिनी) गतियों के ताडन से वह महासर्प मूर्च्छित हो गया था।[४३] गोपियों के साथ रासक्रीडा में सम्पन्न कृष्ण का संगीतमय नृत्य अत्यन्त भावोत्पादक है। उस रासनृत्य में शरच्चन्द्रिका धरा पर धवल रंग निक्षेप कर रही थी। प्रथम गोपियों के चंचल कंकणों की झनकार हुई और फिर क्रमशः शरद्वर्णनसम्बन्धी गीत होने लगे। कृष्णचन्द्र उस समय चन्द्र, चन्द्रिका और कुमुदवनसम्बन्धी गान करने लगे, किन्तु गोपियों ने बार-बार केवल कृष्ण नाम का ही गान किया। फिर एक गोपी ने नृत्य से थक कर चंचल कंकण की झनकार करती हुई अपनी बाहुलता मधुसूदन के गले में डाल दी। किसी दक्ष गोपी ने भगवान् के संगीत की प्रशंसा करने के व्याज से भुजा पसार कर और मधुसूदन को आलिंगन कर चूम लिया। हरि की भुजाएं गोपियों के कपोलों का चुम्बन पाकर उन (कपोलों) में पुलकावलिरूप धान्य की उत्पत्ति के लिए स्वेदरूप जल के मेघ बन गयीं। कृष्ण जितने उच्च स्वर से रासोचित गान करते थे उससे द्विगुणित शब्द से गोपियां "धन्य कृष्ण! धन्य कृष्ण!!" की ही ध्वनि लगा रही थीं। हरि के आगे जाने पर गोपियाँ उनके पीछे जातीं और लौटने पर सामने चलतीं, इस प्रकार वे अनुलोम और प्रतिलोम गति से हरि का साथ देती थीं। मधुसूदन भी गोपियों के साथ इस प्रकार रास में नृत्यगान कर रहे थे कि उनके बिना एक क्षण भी गोपियों को करोड़ों वर्षों के समान व्यतीत होता था।[४४] राजभवनों में भी अप्सराओं के नृत्य का प्रसंग मिलता है। हिरण्यकशिपु के स्फटिकों और अभ्रशिलाओं से बने प्रासादों में अप्सराओं के उत्तम नृत्य का वर्णन है।[४५]

---

४२. तु० क० पा० टी० २२
४३. तु० क० ५।७।४५-६
४४. वही ५।१३।५१-५८
४५. तु० क० पा० टी० १२

ऋग्वेद में नृत्यकला के अभ्यास का वर्णन मिलता है। कुमारी—युवती कन्याओं के नृत्य का प्रसंग बहुधा उपलब्ध होता है। यह भी सूचना है कि उस समय स्त्रियों के अतिरिक्त पुरुष भी अवसर-अवसर पर नृत्य करते थे। शतपथब्राह्मण में नृत्य, संगीत और क्रीडा में व्यस्त रहने वाली अप्सराओं का उल्लेख हुआ है, किन्तु वैदिक साहित्य में किन्नरों की चर्चा नहीं है। जातक साहित्यों के अनुसार बौद्ध काल में नृत्यकला को तिरस्कार की दृष्टि से देखा जाता था,[४६] किन्तु अप्सराओं और किन्नरों को वहाँ नृत्यक्रिया से सम्बद्ध प्रदर्शित किया गया है[४७]। पाणिनि नृत्यकला से परिचित प्रतीत होते हैं, क्योंकि उन्होंने गात्रविक्षेपार्थक नृती धातु के ऊपर अपनी टीका में शिलालिन् और कृशाश्विन् नामक दो व्यक्तियों को नृत्यसम्बन्धी दो सूत्रों के प्रणेता के रूप में विवृत किया है[४८]। अर्थशास्त्र में भी नर्तकी कन्याओं के जीवन और कर्त्तव्यों का वर्णन किया गया है[४९]।

ज्ञात होता है कि प्रारंभिक काल में ही राजपरिवार की महिलाओं एवं धनिक परिवारों ने नृत्य कला का बीज-वपन किया था। किन्तु जातक युग में आकर उच्च परिवारों की उपेक्षा से इस कला का पतन हुआ और तदनन्तर वंश-परम्परागत क्रम से एक विशिष्ट वर्ग के व्यवसाय के रूप में यह परिणत हो गयी।[५०]

चित्रकला

ज्ञात होता है कि पौराणिक समाज में चित्रण-कला भी अत्यन्त उन्नत अवस्था में थी। बाणासुर के मन्त्री कुम्भाण्ड की चित्रलेखा नाम की पुत्री इस कला में अतिशय कुशल प्रतीत होती है। चित्रलेखा बाणासुर की पुत्री उषा की सखी थी। एक बार उषा स्वप्न में संभोगकर्ता किसी अज्ञात प्रियतम की चिन्ता में व्याकुल थी। चित्रलेखा ने उसकी चिन्ता को दूर करने के लिए चित्रपट पर अनेक देवताओं, दैत्यों, गन्धर्वों और मनुष्यों के चित्र लिख कर उषा को दिखलाये थे, किन्तु उनमें से कोई स्वप्न में संभोगकर्ता सिद्ध नहीं हुआ। अन्त में जब चित्रलेखा ने राम, कृष्ण और प्रद्युम्न के चित्र लिखने के अनन्तर प्रद्युम्न-तनय अनिरुद्ध का चित्र अंकित किया तब उषा

---

४६. क० हि० वा० २१९-२२०

४७. प्रि० बु० इ० ३१३

४८. क० हि० वा० २२०

४९. तु० क० पो० वि० इ० २१४

५०. वही, २१२

आनन्द मग्न हो गयी, क्योंकि अनिरुद्ध ही स्वप्न में संगमकर्त्ता उषा का प्रियतम था।[51]

निष्कर्ष

इस अध्याय के अध्ययन से अवगत होता है कि हमारी सम्पूर्ण सृष्टि अन्धकार और प्रकाश के संगम का परिणाम है। जब ज्योति ने तिमिर को ज्योति की माला पहनायी तब सृष्टि का उद्भव सम्पन्न हुआ। कला की सृष्टि भी उसी परिस्थिति में संभव होती है जब मानव चेतना अज्ञान की कुहेलिका को कारयित्री कल्पना की किरणों से भेद कर मूर्त आधारों के माध्यम से अभिव्यक्ति के पथ को प्रशस्त करती है। पुराण में सम्पूर्ण कलाओं का स्पष्टा-स्पष्ट रूप से अथवा न्यूनाधिक मात्रा में प्रतिपादन हुआ है किन्तु मुख्यतः वास्तु, संगीत, वाद्य और नृत्य कलाओं का निदर्शन हुआ है। चित्रकला का विवेचन यद्यपि संक्षेप में सम्पन्न हुआ है, किन्तु वहाँ एकान्त सूक्ष्मता की अनुभूति होती है।

---

५१. तु० क० ५।३२।१७-२६

एकादश अंश

उपसंहरण

[विष्णु और परमात्मा, आराधना, भूगोल, समाज, राजनीति, शिक्षा-साहित्य, संग्रामनीति, अर्थ, दर्शन, कला ।]

एकादश अंश : उपसंहरण

विष्णुपुराण में चित्रित भारतीय संस्कृति के अशेष अंगों की स्पष्टास्पष्ट रूप से विवृतियाँ उपलब्ध होती हैं। वर्तमान ग्रन्थ में भूगोल, समाज, राजनीति, शिक्षासाहित्य, संग्राम, अर्थ, धर्म, दर्शन और कला—इन्हीं नौ अंगों का संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

विष्णु और परमात्मा

विष्णुपुराण के सिद्धान्त से विष्णु ही एकमात्र परमात्मा हैं; उनसे भिन्न और कुछ भी नहीं है। जिससे यह चराचर जगत् व्याप्त है वह उन्हीं की महिमा है। यह जो कुछ मूर्त जगत् दृष्टिगोचर होता है ज्ञानस्वरूप विष्णु का ही रूप है। असंयमी पुरुष अपने भ्रमपूर्ण ज्ञान के अनुसार इसे जगद्रूप देखते हैं। इस सम्पूर्ण ज्ञानस्वरूप जगत् को अर्थस्वरूप देखनेवाले बुद्धिहीन पुरुषों को मोहरूप महासागर में भटकना पड़ता है। किन्तु जो शुद्धचित्त ज्ञानी पुरुष हैं वे इस सम्पूर्ण जगत् को परमात्मा का ज्ञानमय स्वरूप ही देखते हैं[1]। जिसका ऐसा निश्चय है कि मैं तथा यह सम्पूर्ण जगत् हरि ही हैं उनसे भिन्न कोई भी कार्य-कारणवर्ग नहीं है, उस पुरुष को फिर सांसारिक राग-द्वेषादि द्वन्द्वरूप रोग नहीं होते[2]।

जो परमार्थतः (वास्तव मे) अत्यन्त निर्मल ज्ञानस्वरूप परमात्मा है वही अज्ञान-दृष्टि से विभिन्न पदार्थों के रूप में प्रतीत हो रहा है[3]। वे विश्वमूर्ति भगवान् ज्ञानस्वरूप हैं, पदार्थाकार नहीं हैं, अतएव इन पर्वत, समुद्र और पृथिवी आदि विभिन्न पदार्थों को ज्ञान का ही विलास जानना चाहिये[4]। क्या घट-पटादि कोई भी ऐसी वस्तु है जो आदि, मध्य और अन्त से रहित एवं सर्वदा एक रूप में ही रहने वाली हो। पृथिवी पर जो वस्तु परिवर्तित होती

---

१. तु० क० १।४।३८-४१

२. अहं हरिः सर्वमिदं जनार्दनो
नान्यत्ततः कारणकार्यजातम्।
ईदृङ्मनो यस्य न तस्य भूयो
भवोद्भवा द्वन्द्वगदा भवन्ति ॥ —१।२२।८७

३. ज्ञानस्वरूपमत्यन्तनिर्मलं परमार्थतः।
तमेवार्थस्वरूपेण भ्रान्तिदर्शनतः स्थितम् ॥ —१।२।६

४. ज्ञानस्वरूपो भगवान्यतोऽसा-
वशेषमूर्तिर्न तु वस्तुभूतः।
ततो हि शैलाब्धिधरादिभेदा-
ञ्जानीहि विज्ञानविजृम्भितानि ॥ —२।१२।३९

रहती है, पूर्ववत् नहीं रहती, उसमें वास्तविकता कैसे हो सकती है ? मृत्तिका ही घटरूप हो जाती है, फिर वही घट से कपाल, कपाल से चूर्णरज और रज से अणुरूप हो जाती है। फिर अपने कर्मों के वशीभूत हो आत्मनिश्चय को भूले हुए मनुष्य इसमें कौन-सी सत्य वस्तु देखते हैं ? अतः विज्ञान के अतिरिक्त कभी कहीं कोई भी पदार्थसमूह नहीं है। अपने-अपने कर्मों के कारण विभिन्न चित्तवृत्तियों से युक्त पुरुषों को एक विज्ञान ही विभिन्न रूप से प्रतीत हो रहा है। राग-द्वेषादि मल से रहित शोकशून्य, लोभादि सम्पूर्ण दोषों से वर्जित, सदा एकरस एवं असंग एकमात्र विशुद्ध विज्ञान ही वह सर्वश्रेष्ठ परमेश्वर वासुदेव है; उससे भिन्न और कुछ भी नहीं है। एक ज्ञान ही सत्य है, और सब मिथ्या है। उसके अतिरिक्त यह जो व्यावहारिक सत्य है वह त्रिभुवनात्मक है[५]।

कर्म अविद्याजनित है और वह समस्त जीवों में विद्यमान है; किन्तु आत्मा शुद्ध, निर्विकार, शान्त, निर्गुण और प्रकृति से अतीत है। सम्पूर्ण प्राणियों में विद्यमान उस एक आत्मा के वृद्धि-क्षय नहीं होते[६]। जो कालान्तर में भी परिणामादि के कारण होनेवाली किसी अन्य संज्ञा को प्राप्त नहीं होती वही परमार्थ वस्तु है। ऐसी वस्तु (आत्मा के अतिरिक्त) और क्या है ?[७] यदि मुझ से भिन्न कोई और पदार्थ होता तो यह, मैं, अमुक अन्य आदि भी कहना उचित हो सकता था। किन्तु जब सम्पूर्ण शरीरों में एक ही पुरुष स्थित है तो 'आप कौन हैं ?' 'मैं वह हूँ' इत्यादि वाक्य वञ्चनामात्र हैं। तुम राजा हो, यह पालकी है, हम तुम्हारे समक्ष चलनेवाले वाहक हैं और ये तुम्हारे परिजन हैं—इनमें से कोई भी बात परमार्थतः सत्य नहीं है[८]। व्यवहार में जो वस्तु राजा है, जो राजसेवकादि हैं और जिसे राजत्व कहते हैं वे परमार्थतः सत्य नहीं हैं, केवल कल्पनामय ही हैं[९]। अविनाशी परमार्थतत्त्व की उपलब्धि तो ज्ञानियों को ही होती है[१०]।

---

५ तु० क० २।१२।४१-४५

६. तु० क० २।१३।७०-७१

७. यत्तु कालान्तरेणापि नान्यसंज्ञामुपैति वै।
परिणामादिसम्भूतां तद्वस्तु......तच्च किम् ॥ —२।१३।१००

८. तु० क० २।१३।९०-९२

९. वस्तु राजेति यल्लोके यच्च राजभटात्मकम्।
तथान्ये च नृपत्वं च तत्तत्संकल्पनामयम् ॥ —२।१३।९९

१०. अनाशी परमार्थश्च प्राज्ञैरभ्युपगम्यते ॥ —२।१४।२४

यदि संक्षेप में विचार किया जाय तो वह सर्वव्यापी, सर्वत्र समभाव से स्थित, शुद्ध, निर्गुण, प्रकृति से अतीत, जन्म और वृद्धि आदि से रहित, सर्वगत एवं अविनाशी आत्मा एक है। वह परम ज्ञानमय है। उस प्रभु का वास्तविक नाम एवं जाति आदि से संयोग न तो है, न हुआ है और न कभी होगा ही। उसका अपने और दूसरों के देहों के साथ एक ही संयोग है। इस प्रकार का जो विशेष ज्ञान है वही परमार्थ है। द्वैतवादी तो अपरमार्थदर्शी होते हैं[११]। इस प्रकार यह सारा जगत् वासुदेवसंज्ञक परमात्मा का एक अभिन्न स्वरूप ही है[१२]।

जिस प्रकार एक ही आकाश श्वेत-नील आदि भेदमय होकर विभिन्न प्रकार का दृष्टिगोचर होता है उसी प्रकार जिनकी दृष्टि भ्रमग्रस्त है उनको आत्मा एक होकर भी पृथक्-पृथक् दृष्टिगत होता है[१३]। इस संसार में जो कुछ है वह सब एक आत्मा ही है और वह अविनाशी है, उससे अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। मैं, तू और ये सब आत्मस्वरूप ही हैं; अतः भेद-ज्ञानरूप मोह को छोड़ देना ही श्रेयस्कर है[१४]।

पुराण के आरम्भ में जब मैत्रेय ने जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय के सम्बन्ध में एवं इसके उपादान-कारण के विषय में अपने गुरु पराशर से जिज्ञासा की तब समाधान रूप में पराशर ने कहा कि यह जगत् विष्णु से उत्पन्न हुआ है. उन्हीं में स्थित है, वे ही इसकी स्थिति और लय के कर्ता हैं तथा यह जगत् भी वेही हैं।[१५] वह एक ही भगवान् जनार्दन जगत् की सृष्टि, स्थिति और संहार के लिए ब्रह्मा, विष्णु और शिव—इन तीन संज्ञाओं को धारण करते हैं। वही स्रष्टा (ब्रह्मा) होकर अपनी ही सृष्टि करते हैं, पालक (विष्णु) होकर पाल्यरूप अपना ही पालन करते हैं और अन्त में स्वयं संहारक (शिव) होकर स्वयं ही उपसंहृत—लीन होते हैं।[१६]

---

११ तु० क० २।१४।२८-३१

१२. एवमेकमिदं विद्धि न भेदि सकलं जगत्।
वासुदेवाभिधेयस्य स्वरूपं परमात्मनः॥ —२।१५।३५

१३. सितनीलादिभेदेन यथैकं दृश्यते नभः।
भ्रान्तदृष्टिभिरात्मापि तथैकः सन्पृथक्पृथक्॥ —२।१६।२२

१४. तु० क० २।१६।२३

१५. विष्णोः सकाशादुद्भूतं जगत्तत्रैव च स्थितम्।
स्थितिसंयमकर्तासौ जगतोऽस्य जगच्च सः॥ —१।१।३१

१६. सृष्टिस्थित्यन्तकरणीं ब्रह्मविष्णुशिवात्मिकाम्।
स संज्ञां याति भगवानेक एव जनार्दनः॥

उपर्युक्त विवरणों से सिद्ध होता है कि विष्णु के अतिरिक्त कहीं अन्य कोई भी सत्ता नहीं है। वही स्रष्टा हैं और वही सृज्यमान अथवा 'सृष्टतत्त्व हैं; वही विश्वम्भर हैं और वही विश्व हैं; वही यज्ञानुष्ठाता हैं और वही यज्ञ हैं और वही इस अनुभूयमान अनन्त विश्व के अभिनेता है और वही सर्वतः दृश्यमान इस विश्वरूप से अभिनयरूप भी हैं। अर्थात् कारण एवं कार्य—उभयरूप से उस विष्णु की ही सत्ता से सारा विश्व सर्वतोभावेन व्याप्त है। इस पौराणिक प्रसंग से पूर्ण अद्वैत भाव की सिद्धि हो जाती है।

आराधना

अद्वैतसिद्धान्त की मान्यता के साथ-साथ द्वैतसिद्धान्त के भी विवरण बहुधा उपलब्ध होते हैं। स्थान-स्थान पर विष्णु की आराधना की उपयोगिता प्रतिपादित की गयी है। आराधना, उपासना, पूजन और भजन—इन में से प्रत्येक परस्पर में एक दूसरे का पर्यायवाचक है। यहाँ आराधक के लिए आराध्य, उपासक के लिए उपास्य, पूजक के लिए पूज्य और भक्त के लिए भगवान् के रूप में एकमात्र विष्णु की ही अधिमान्यता है। किसी के द्वारा अभुक्तपूर्व अलौकिक एवं अक्षय पद के प्राप्ति-मार्ग के विषय में ध्रुव के पूछने पर मरीचि आदि सप्तर्षियों का प्रतिपादन है कि एक मात्र अच्युत विष्णु की ही आराधना करने पर सर्वोत्कृष्ट अक्षय पद की प्राप्ति होती है।[१७] प्राचीनबर्हि नामक प्रजाहितचिन्तक राजा ने अपने पुत्र प्रचेताओं से कहा है कि भगवान् विष्णु की ही आराधना करने से मनुष्य को निःसन्देह इष्ट वस्तु की प्राप्ति होती है और किसी उपाय से नहीं।[१८] विष्णु की उपासना की उत्कृष्टता के प्रतिपादन में और्व ऋषि ने महात्मा सगर से कहा है कि भगवान् विष्णु की आराधना करने से मनुष्य भूमण्डलसम्बन्धी समस्त मनोरथ, स्वर्ग, स्वर्गलोक-निवासियों के भी वन्दनीय ब्रह्मपद और परम निर्वाण-पद भी प्राप्त कर लेता है।[१९]

स्रष्टा सृजति चात्मानं विष्णुः पाल्यं च पाति च।
उपसंह्रियते चान्ते संहर्ता च स्वयं प्रभुः॥ —१।२।६६-६७

१७. तु० क० १।११।४१-४९

१८. आराध्य वरदं विष्णुमिष्टप्राप्तिमसंशयम्।
समेति नान्यथा मर्त्यः··············॥ —१।१४।१४

१९. भौमं मनोरथं स्वर्गं स्वर्गिवन्द्यं च यत्पदम्।
प्राप्नोत्याराधिते विष्णौ निर्वाणमपि चोत्तमम्॥ —३।८।६

इन विवृतियों से यह तो सिद्ध हो जाता है कि भगवान् की पूजा वा आराधना सम्पूर्ण मानव समाज के लिए कर्तव्य है क्योंकि अशेष आस्तिक भारतीयों को यह तो मान्य ही है कि मनुष्य मात्र का भगवान् की आराधना या पूजा में संलग्न होना प्रथम कर्तव्य है—यद्यपि इस विषय में उनके मत विभिन्न हो सकते हैं कि वह आराधना भगवान् की किस विशिष्ट रूप में की जाय? शिव के रूप में या विष्णु के रूप में? राम के रूप में वा कृष्ण के रूप में? अथवा किसी अन्य विशिष्ट रूप में? क्यों कि श्रुति में इसका स्पष्टीकरण है कि भगवान् समस्त प्राणियों में स्थित एक ही हैं तथा शुद्ध और निर्गुण हैं।[२०] अपने पुराण में भी इसी प्रकार का प्रतिपादन हुआ है।[२१] इससे यह सिद्ध होता है कि किसी भी रूप में भगवान्—अपने इष्टदेव की आराधनाएँ की जायें किन्तु वे सभी परम सत्य को ही अर्पित हो जाती हैं अर्थात् उन पूजाओं को साक्षात् भगवान् ग्रहण कर लेते हैं। क्योंकि वे कर्णहीन होकर भी सुनते हैं, नेत्रहीन होकर भी देखते हैं, एक होकर भी अनेक रूपों में प्रकट होते हैं, हस्त-पादादि से रहित होकर भी ग्रहणकर्ता एवं तीव्रगतिशाली हैं तथा सबके अवेद्य होकर भी सर्वज्ञाता हैं।[२२] यह पौराणिक सिद्धान्त श्रुति से भी समर्थित है।[२३]

यह मान लेने पर कि अशेषविध-कृत पूजाएँ एक परम परमात्मा को समर्पित हो जाती हैं—चाहे जिस रूप को चुन लिया जाय किन्तु वह एक रस परम तत्त्व का ही रूप है। इसके पश्चात् अब शेष ज्ञातव्य विषय यह रह जाता है कि आराधना वा पूजा की पद्धति क्या हो? हम प्रायः अपने पूर्वजों की अनुसृत पद्धति से भगवान् की पूजा घण्टी बजा कर, पुष्प, धूप, दीप तथा नैवेद्य आदि अर्पण कर; शंख फूंक कर; स्तोत्रों का पाठ कर; भजनों को गा कर और अपने पूर्वजों के आचरित अन्यान्य विधि-विधानों से पूजा करते हैं। अपनी परम्परागत पद्धति से पूजा कर चुकने के अनन्तर और कर्मों से अपने को मुक्त समझ लेते हैं।

---

२०. तु० क० श्वे० उ० ६

२१. तु० क० ५.१

२२. शृणोत्यकर्णः परिपश्यसि त्व-
मचक्षुरेको बहुरूपरूपः।
अपादहस्तो जवनो ग्रहीता,
त्वं वेत्सि सर्वं न च सर्ववेद्यः॥ —५.१.४०

२३. तु० क० श्वे० उ० ३.१९

उपर्युक्त पद्धति से भगवान् की पूजा अथवा उपासना के सम्बन्ध में श्रीकृष्ण प्रेम का मत है कि निःसन्देह इस प्रकार का सिद्धान्त सरलता के आदर्श को उपस्थित करता है, किन्तु इस प्रकार की बाह्य आराधनाओं से प्रकृत उद्देश्य की सिद्धि नहीं होती। सहस्रों मनुष्य नियमित रूप से इस पद्धति से पूजा-अर्चा करते हैं, किन्तु शास्त्रों एवं महापुरुषों ने पूजा का जो फल प्रतिपादित किया है उस फल की प्राप्ति उन पूजकों वा उपासकों में दृष्टिगत नहीं होती है। अत एव हमें यह विवेचन तो करना ही होगा कि इस पद्धति में कौन-सा दूषण है।

इस प्रसंग में सर्वप्रथम हमें भगवान् के स्वभाव और गुणधर्म के विषय में कुछ ज्ञान प्राप्त कर लेना प्रयोजनीय प्रतीत होता है, क्योंकि जिसके विषय में कोई ज्ञान नहीं उसकी उपासना करना किस प्रकार संभव है? यद्यपि भगवान् के स्वरूप का सच्चा ज्ञान तो उपासना का अन्तिम परिणाम है और वह तो वाणी और मन से अगोचर है—"अवाङ्मनसगोचरः" फिर भी उपासना को आरम्भ करने के लिए कुछ परिमाण का ज्ञान तो अपेक्षित अवश्य है और सौभाग्यवश यह ज्ञान हम अनुभवी महापुरुषों एवं ऋषि-महर्षियों के अनुभूति-वचनों से गुम्फित शास्त्रों से प्राप्त कर सकते हैं। इस दिशा में अभी कतिपय अंशों में परस्पर विरोधी शास्त्रों के सिद्धान्तों पर तर्क-वितर्क अथवा वाद-विवाद करने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि चरम सत्य—परम तत्त्व की मान्यता में अशेष शास्त्र एकमत हैं। जिस नाम में आपकी रुचि हो—आस्था हो उसी नाम से उस आध्यात्मिक चिन्मय को सम्बोधित कर सकते हैं। उपनिषद् के "सत्यं ज्ञानमनन्तम्", भागवत के "अद्वयज्ञानतत्त्व", बौद्धों के "धर्मकाय वा निर्वाण", ईसाइयों के "गॉड" और मुस्लिमों के "अल्लाह" प्रभृति सम्पूर्ण धर्मावलम्बी सम्प्रदाय के सिद्धान्तों में आध्यात्मिक नित्य तत्त्व की ही स्वीकृति है—भौतिक तत्त्वों की नहीं। इसके लिए विविध शास्त्रीय प्रमाणों को खोजकर उद्धृत करना केवल समय को नष्ट करना है[२४]।

अब हमें भजन, सेवा और उपासना—शब्दों का अर्थविवेचन करना प्रयोजनीय है। "भज् सेवायाम्" धातु से भजन और "सेव् सेवायाम्" धातु से सेवा शब्द व्युत्पन्न होते हैं। इन दोनों का शब्दार्थ एक ही है। "उप पूर्वक आस् उपवेशने" धातु से उपासना शब्द की सिद्धि होती है, जिसका अर्थ होता है—'समीप में बैठना'। एतदर्थयुक्त उपासना के प्रयोग से यह स्पष्ट हो जाता है कि चिन्मय भगवान् की उपासना चिन्मय रूप से ही हो सकती

२४. स० फा० द्वृ० २०–२१

है। आध्यात्मिक सत्ता की उपासना भौतिक उपकरणों से होना सम्भव नहीं है और साधरणतः प्रचलित श्लोक—"देवो भूत्वा यजेद्देवम्" की यहां चरितार्थता भी हो जाती है अर्थात् भगवद्रूप से ही कोई भगवान् की उपासना कर सकता है। सारांश यह कि केवल आत्मा ही निकट में रह सकता है—आत्मा ही आत्मा की उपासना कर सकता है।

हम भगवान् के चिन्मय स्वरूप, चिन्मय धाम, उनकी चिन्मयी गङ्गा आदि के विषय में धारावाहिक रूप से बातें तो बहुधा करते हैं, किन्तु यह सोचने की तो चेष्टा कभी नहीं करते कि इन चिन्मय शब्दों का यथार्थ अभिप्राय क्या है। प्रायः अधिकसंख्यक जनसमुदाय सोच समझ कर यही कहता है कि—भगवान् "चिन्मय है" और वह इस चिन्मय शब्द का अर्थ "अत्यन्त सुन्दर" समझता है तथा उनके 'चिन्मय धाम" का अर्थ उसकी समझ से "एक लोक" है जो प्रलयादि काल में भी नष्ट नहीं होता, किन्तु अवश्य ही इस शब्द के ये प्रकृत अर्थ नहीं हैं। इसका अभिप्राय है, जैसा प्रत्येक व्यक्ति जानता है—यदि वह इस विषय में सोचे। चित् + मय = चिन्मय—'चित्" का अर्थ है "चेतना" वा "आत्मा" और "मय" का अर्थ है "निर्मित"। अर्थात् चित्—आत्मा से मय—रचित "आत्मरचित"— अर्थात् भौतिक तत्त्वों से सर्वथा विभिन्न।

अब यदि हम भगवान् की उपासना करना चाहते हैं अर्थात् उनके समीप में बैठना चाहते हैं तो हमें चित् एवं चिन्मय तत्त्वों के स्वरूप को अनुभूत करने की चेष्टा करनी होगी। यह तो सत्य है और पहले कह चुके हैं कि हम चिन्मय विग्रह, चिन्मय मन्दिर और चिन्मयी काशी आदि के विषय में स्वतन्त्र रूप से बोलने के अभ्यासी हैं और इस प्रकार का हमारा व्यापार निस्तत्त्व नहीं है—इस में भी कुछ तत्त्व अवश्य ही निहित है। अभी सहसा हमें इसकी गहराई में पैठना नहीं है, क्योंकि यह तो पूर्ण रूप से सत्य है कि हमारी आत्मा यदि अपने आप में शुद्ध है तो ये दृश्यमान पदार्थ (वस्तुएँ) जडमात्र हैं अत एव ये हमें आत्मिक सत्ता की अनुभूति नहीं करा सकते हैं।

जो कुछ भी हो परन्तु उस आध्यात्मिक परम तत्त्व की सत्ता तो है ही जिस पर अन्तःकरण—मन के अर्धभौतिक स्वभाव का आवरण पड़ा हुआ है। हमें इसका प्रत्यक्ष अनुभव होता है और हमारे हृदयों में वह आध्यात्मिक तत्त्व, जिसे हम आत्मा कहते हैं चरम ज्ञान का ही प्रकाश है। यह सत्य है कि हम में से अधिकांश लोग उस आत्मप्रकाश को केवल गोचरीभूत करते हैं, अनुभूत नहीं कर सकते क्योंकि उसकी अनुभूति शुद्ध अन्तःकरण से ही हो सकती है। यह अपने आप को चिन्तन और अनुभवन के व्यापार के द्वारा ही

प्रकाशित करता है— वह आत्मतत्त्व अपने ही बोध से, जो हमें अनुभूत होता है, किसी भी जडतत्त्वों से सर्वथा भिन्न है। यथार्थतः यह अन्तरात्मा भागवत तत्त्व का ही प्रतीक हो सकता है। यदि यह जीव आत्मा की संज्ञा से विशेषित होता है तो वह अन्तरात्मा परमात्मा की संज्ञा से, यदि वह चिद्घन है तो यह चित्कण। अपनी विभूतियों के वर्णनक्रम में भगवान् का कथन है कि मैं ही अशेष प्राणियों के हृदयों में छिपा हुआ आत्मा हूँ[२५]। यथार्थतः वह चर और अचर— समस्त प्राणियों के भीतर तथा सम्पूर्ण पदार्थों के परे है—यह साक्षात् भगवान् कृष्ण का ही प्रतिपादन है[२६]। अपने पुराण में भी ऐसा ही प्रतिपादन है[२७]।

यह समझना भी अयथार्थ ही होगा कि परमात्मा केवल भीतर ही विद्यमान रहता है, बाहर नहीं। जिस प्रकार वह भीतर है ठीक उसी प्रकार वह बाहर भी है। वस्तुतः उसकी सत्ता में बाह्य और अभ्यन्तर नामक कोई अन्तर ही नहीं है और अन्ततोगत्वा यह दृष्टिगत होता है कि सम्पूर्ण परिदृश्यमान तत्त्व वासुदेव ही तो है। तथापि हम अपने हृदय के गंभीरतम गर्त में डूबने पर उसे अवश्य प्राप्त कर सकते हैं, क्योंकि वह उस स्थान पर है जिसके साथ हमारा सीधा सम्पर्क है। अपनी दुर्बलता के कारण जो अपने हृदय में उसकी अनुभूति नहीं कर सकता वह अन्यत्र कहीं भी उसे दृष्टिगोचर नहीं कर सकता। जिसने उसे चिन्मय धाम में एक बार साक्षात्कृत कर लिया है वह उसे समस्त वस्तुओं और समस्त जीवों में प्रत्यक्ष एवं स्पष्ट रूप से देख सकता है[२८]।

हमें वैकुण्ठ, कैलास, गोलोक अथवा साकेतपुरी आदि के विषय में तर्क-वितर्क करना विधेय नहीं है, क्योंकि ऐसे धाम अथवा लोक हमारी वर्तमान अनुभूतियों से पृथक् हैं और जो उन लोकों के विषय में अपनी अभिज्ञता ज्ञापित करते हैं उनमें से अधिकांश उनके विषय में बहुत अल्प ही जानते हैं, क्यों कि उपनिषद् का प्रतिपादन है—"जो सोचता है कि मैं उसे जानता हूँ वह उसे नहीं जानता है"[२९]।

---

२५. अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः। —गीता १०।२०

२६. विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्। —वही १०।४२

२७. तु० क० ५।१

२८. यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥ —६।३०

२९. मतं यस्य न वेद सः॥ —के० उ० २।३।

हम संसारी प्राणी हैं अत एव हमें उसे खोजना अथवा उसकी उपासना करना इस संसार में ही, जहां वह उपलभ्य हो सकता हो, उचित होगा—इस संसार में भी, नामतः, समस्त प्राणियों के हृदयों में। जब हम उस तत्त्व को समझ लेंगे तथा समस्त प्राणियों में उसे प्यार करना वा उसकी सेवा करना सीख लेंगे तब वह हमें अपने स्वरूप की उपासना करने का अधिकार दे देगा। संसार के बड़े बड़े ग्रन्थों के अध्ययन मात्र से अथवा विग्रह की बाह्य पूजामात्र से उस नित्य सत्य का अनायास साक्षात्कार होना सम्भव नहीं है। भागवतपुराण में साक्षात् भगवान् का ही कथन है कि जो मूढ़तावश मुझ परमेश्वर के सच्चे स्वरूप की, जो सम्पूर्ण प्राणियों में विद्यमान है, उपेक्षा कर केवल विग्रह की बाह्य भाव से पूजा करता है वह अपनी पूजन-सामग्रियों (नैवेद्यों) को राख में निक्षिप्त करता है।[30] तात्पर्य यह है कि परमात्मा केवल बाह्य पूजनों से प्रसन्न नहीं होता है, जब तक वह (पूजन) समस्त प्राणियों के प्रति प्रेम से ओत-प्रोत नहीं हो।

इस प्रकार जब हम समस्त प्राणियों के प्रति अभेददृष्टि हो जाते हैं तब हमारा हृदय पवित्र और स्वच्छ हो जाता है तथा हमारी दृष्टि निर्मल हो जाती है। अपनी निर्मल दृष्टि से हम उस चरम सत्य को देख लेते हैं और शुद्ध हृदय से उसकी बाह्य आराधना भी करते हैं और तब भगवान् की प्रतिज्ञा हमारे ऊपर संघटित होती है—"मेरी सच्ची प्रतिज्ञा है तू मुझ में आयेगा क्यों कि तू मेरा प्यारा है[31]।

भूगोल

भौगोलिक सम्बन्ध में जम्बूद्वीप, प्लक्षद्वीप, शाल्मलद्वीप, कुशद्वीप, क्रौंचद्वीप, शाकद्वीप, पुष्करद्वीप—इन सात द्वीपों के साथ उनके अवरोधक क्षार-सागर' इक्षुरससागर, मदिरासागर, घृतसागर, दधिसागर, दुग्धसागर और मधुरजलसागर नामक सात समुद्रों का विवरण मिलता है। जम्बूद्वीप के अन्तर्गत भारतवर्ष, हिमाद्रि, मर्यादा पर्वतों, गंगा आदि अनेक नदियों, सरोवरों और विविध वनोपवनों का प्रसंग मिलता है। यद्यपि पुराण में वर्णित द्वीप, समुद्र और पर्वतादि की सीमा आधुनिक परम्परा के लिए कल्पनातीत्त आभाषित

---

३०. यो मां सर्वेषु भूतेषु सन्तमात्मानमीश्वरम्।
हित्वार्चां भजते मौढ्याद् भस्मन्येव जुहोति सः॥ —३।२९।२२

३१. मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥ — गीता १८।६५

होती है और इस कारण से अमान्य है किन्तु पौराणिक प्रतिपादन शैली तो ऐसी ही है।

समाज

समाज व्यवस्था नामक अध्याय में वर्णव्यवस्था, वर्ण एवं वर्णाश्रम धर्म, चतुर्वर्ण-धर्म तथा उनके कर्तव्यकर्म, ऋषि-मुनियों के लक्षण और कर्त्तव्य का विवरण इस पुराण में सम्यक्रूपेण अधिगत होता है। राजा चक्रवर्ती और सम्राट् का विवेचन पौराणिक आधार पर किया गया है

स्त्रियों के प्रति लोकदृष्टि की विभिन्नता है—कहीं आदर है तो कहीं तिरस्कार भी। उनकी पत्नी आदि विविधरूपता का वर्णन है। उस युग में उन्हें राज्याधिकार से वंचित रखा जाता था।

राजनीति

राजनीतिक संस्थान नामक अध्याय में राजा की आवश्यकता, राजा में दैवी भावना, राज्य की उत्पत्ति और सीमा का विचार पुराण पर ही आश्रित है। पुराण में राजा का लक्षण उनके कर्त्तव्य कर्मों में प्रजापालन एवं दुष्टदमन तथा अश्वमेध और राजसूय आदि विविध यज्ञानुष्ठान सम्बन्धी सामग्रियाँ उपलब्ध होती हैं।

शिक्षा-साहित्य

इस सम्बन्ध में भी अपने पुराण में विविध विवरण दृष्टिगत होते हैं। यथा शिक्षा के उद्देश्य, शिक्षक और शिष्य का पारस्परिक कर्तव्य और सम्बन्ध शिक्षण-संस्था, शिक्षणपद्धति, छात्र-संख्या और शिक्षण-शुल्क सम्बन्धी प्रमाण की उपलब्धि होती है। पाठ्य पुस्तकों की संख्या में वेद, वेदाङ्ग आदि अठारह विद्याओं—साहित्यों—का प्रमाण मिलता है।

संग्रामनीति

संग्राम या युद्ध विषयक प्रकरण में क्षत्रिय ही प्रधान नेता के रूप में अवतीर्ण हुए हैं। युद्ध सम्बन्धी नीतियां योद्धाओं के विविध वेशभूषा, सैनिक शिक्षा और युद्धकला की चमत्कृतियों का निदर्शन हुआ है। भिन्न भिन्न शस्त्रास्त्रों का भी प्रमाण पाया जाता है।

अर्थ

पुराण में वर्णित भारतीय आर्थिक दशा बड़ी सम्पन्न थी। कृषिकर्म और उत्पादन बड़े सन्तोषजनक थे। पुराण में अन्न के अतिरिक्त मांस भोजन का

भी प्रमाण मिलता है। वाणिज्य और गोपालन आदि व्यापार अत्यन्त उन्नत अवस्था में था। निष्क और पण आदि मुद्राओं का प्रचलन था।

धर्म

वैष्णव धर्म का ही प्राधान्य था किन्तु शाक्त धर्म का भी संकेत मिलता है। विष्णु के मत्स्य आदि समस्त अवतारों का प्रसंग है। सूर्य, लक्ष्मी आदि देव-देवियों के पूजन का प्रसंग भी है। कालीपूजा में जीवबलि का भी प्रचलन था।

दर्शन

दर्शन के प्रमुख अंग तीन हैं—ज्ञानमीमांसा, तत्त्वमीमांसा और आचार मीमांसा। स्पष्टास्पष्ट रूप से इन तीनों की विवृतियां पायी जाती हैं।

कला

कलासम्बन्धी विषयों में वास्तुकला, संगीतकला और नृत्यकला—ये ही तीन प्रधान हैं। पौराणिक युग में ये कलाएं उन्नति के चरम शिखर पर पहुंची हुई थीं।
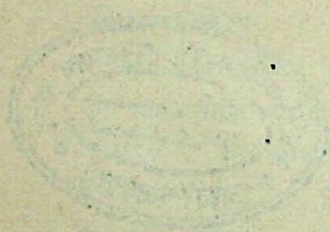
आधार साहित्य

१. विष्णुपुराणम् श्रीधरीटीकोपेतम् : वेङ्कटेश्वरप्रेस-संस्करणम् ।

२. विष्णुपुराणम् : गीताप्रेस-संस्करणम्

प्रमाण साहित्य

मूल-स्रोत

३. अग्निपुराणम् : वेङ्कटेश्वरप्रेस-संस्करणम् ।

४. अथर्ववेदः : सायणभाष्योपेतः ।

५. अमरकोषः : अमरसिंहविरचितः ।

६. ईशावास्योपनिषद् : शाङ्करभाष्योपेता ।

७. उत्तररामचरितम् : भवभूतिविरचितम् ।

८. ऋग्वेदः : सायणभाष्योपेतः (चौखम्बा-प्रकाशितः)

९. ऐतरेयब्राह्मणम् : पूनाप्रकाशितम् ।

१०. कामसूत्रम् : जयमंगलाव्याख्योपेतम् ।

११. काशिकावृत्तिः : श्रीवामनजयादित्यविरचिता । "

१२. कुमारसम्भवम् : कालिदासप्रणीतम् ।

१३. कौटिल्यार्थशास्त्रम् : चौखम्बा-प्रकाशितम् ।

१४. छान्दोग्योपनिषद् : शाङ्करभाष्योपेता ।

१५. तर्कसंग्रहः : अन्नभट्टविरचितः ।

१६. तैत्तिरीयोपनिषद् : शाङ्करभाष्योपेता ।

१७. निरुक्तम् : यास्कप्रणीतम् ।

१८. नीतिशतकम् : भर्तृहरिप्रणीतम् ।

१९. न्यायकोशः : भीमाचार्यझलकीकरप्रणीतः ।

२०. न्यायसूत्रम् : वात्स्यायनभाष्योपेतम् ।

२१. पद्मपुराणम् : बम्बई-प्रकाशनम् ।

२२. पातञ्जलयोगदर्शनम् : गीताप्रेसप्रकाशितम् ।

२३. बृहदारण्यकोपनिषद् : शाङ्करभाष्योपेता ।

२४. भागवतपुराणम् : श्रीधरीटीकोपेतम् ।

२५. मत्स्यपुराणम् : बम्बई-प्रकाशनम् ।

२६. मनुस्मृतिः : कुल्लूकभट्टटीकासहिता ।
२७. महाभारतम् : गीताप्रेसप्रकाशितम् ।
२८. मालतीमाधवम् : भवभूतिप्रणीतम् ।
२९. मार्कण्डेयपुराणम् : वेंकटेश्वरप्रेसप्रकाशितम् ।
३०. मालविकाग्निमित्रम् : कालिदासप्रणीतम् ।
३१. मीमांसादर्शनम् : शाबरभाष्योपेतम् ।
३२. यजुर्वेदसंहिता : सातवलेकरसम्पादिता ।
३३. याज्ञवल्क्यस्मृतिः : मिताक्षरोपेता ।
३४. रघुवंशम् : कालिदासविरचितम् ।
३५. वाचस्पत्याभिधानम् : श्रीतारानाथभट्टाचार्यप्रणीतम् (चौखम्बा-प्रकाशनम्)
३६. वायुपुराणम् : पूनाप्रकाशितम् ।
३७. वाल्मीकिरामायणम् : चौखम्बा-प्रकाशितम् ।
३८. वेदान्तदर्शनम् : शाङ्करभाष्यसहितम् ।
३९. व्याकरणमहाभाष्यम् : कैयटव्याख्यासहितम् ।
४०. शक्तिसङ्गमतन्त्रम् : वङ्गीयप्रकाशनम् ।
४१. शतपथब्राह्मणम : सायणभाष्यसहितम् ।
४२. शब्दकल्पद्रुमः : राजा राधाकान्तदेवप्रणीतः (चौखम्बाप्र०)
४३. सांख्यकारिका : ईश्वरकृष्णविरचिता ।
४४. सामवेदः : सायणभाष्योपेतः ।
४५. सिद्धान्तकौमुदीव्याकरणम् : भट्टोजिदीक्षितविरचितम् ।
४६. हठयोगप्रदीपिका : स्वात्मारामविरचिता ।

आधुनिक भारतीय साहित्य

४७. अमरभारती की प्रतियाँ : सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा ।
४८. अष्टादश पुराणदर्पण : ज्वालाप्रसाद मिश्र ।
४९. आचार्य हेमचन्द्र और उनका शब्दानुशासन : डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री (चौखम्बा-प्रकाशन)
५०. आश्रम चतुष्टय : भूपेन्द्रनाथ सान्याल ।
५१. कल्याण सन्तवाणी अङ्क : गीता प्रेस ।
५२. „ साधनाङ्क : „ ।
५३. „ हिन्दू संस्कृति अङ्क : „ ।

५४. चार्वाकदर्शन की शास्त्रीय-
समीक्षा : डॉ० सर्वानन्द पाठक (चौखम्बा-प्रकाशन)
५५. जातककालीन भारतीय
संस्कृति : मोहनलाल महतो वियोगी
५६. त्रिषष्टिशलाका पुरुषचरित : हिन्दी।
५७. नागरी प्रचारिणी पत्रिका : नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।
५८. परिषद् पत्रिका की समस्त
प्रतियां : बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना।
५९ पाणिनिकालीन भारतवर्ष : डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल (चौखम्बा-प्रकाशन)
६०. पातञ्जल व्याकरणमहा-
भाष्य : किल्हॉर्नसम्पादित।
६१. पालित्रिपिटक : नवनालन्दामहाविहार प्रकाशन।
६२. प्राकृत साहित्य का इतिहास : डॉ० जगदीश चन्द्र जैन (चौखम्बा-प्रकाशन)
६३. प्राचीन भारतीय शिक्षण
पद्धति : डॉ० अनन्त सदाशिव अलतेकर।
६२ भक्ति का विकास : डॉ० मुशीराम शर्मा (चौखम्बा-प्रकाशन)
६५. भारतीय दर्शन : डॉ० उमेश मिश्र।
६६. भारतीय दर्शन : चट्टोपाध्याय और दत्त : पुस्तक भण्डार, पटना।
६७. भारतीय व्यापार का
इतिहास : कृष्णदत्त वाजपेयी।
६८. भारतीय वास्तुकला : परमेश्वरी लाल गुप्त।
६९. वैदिक इण्डेक्स : मैकडॉनल और कीथ : चौखम्बा प्रकाशित।
७०. वैष्णव धर्म : परशुराम चतुर्वेदी।
७१. संस्कृत शब्दार्थकौस्तुभ : चतुर्वेदी द्वारकाप्रसाद शर्मा।
७२. हिन्दी साहित्य का वृहत्
इतिहास : डॉ० राजबली पाण्डेय।
७३. हिन्दू राजतन्त्र १-२ खण्ड : काशीप्रसाद जायसवाल।
७४. हिन्दू संस्कार : डॉ० राजबली पाण्डेय (चौखम्बा-प्रकाशन)

अंग्रेजी साहित्य

75. Agrawala, V. S. : India as known to Pāṇini.
76. Agrawala, V. S. : Vāmana Purāṇa : A study.

77. Agrawala, V. S. : Vedic Lecture.
78. Altekar, A. S. : Position of women in Ancient India.
79. Altekar, A. S. : State Government in Ancient India.
80. Apte, V. S. : Students' Sanskrit-English Dictionary.
81. Ayyangar, M. A. : Kamala Lecture (Indian Cultural and Religious thought) Calcutta University.
82. Barua, B. M. : History of Pre-Buddhistic Indian Philosophy, 1912.
83. Basu, S. C. : Aṣṭādhyāyī of Pāṇini. 2 Vols.
84. Bhandarkar, R. G. : Vaiṣṇavism, Śaivism.
85. Cunningham, A. : Ancient Geography of India.
86. Cunningham, A. : Coins of Ancient India.
87. Cunningham, A. : Coins of Medieval India.
88. Das, S. K. : Economic History of Ancient India.
89. Das Gupta, S. N. : History of Indian Philosophy, Vol. III.
90. De, N. L. : Geographical Dictionary of Ancient and Medieval India.
91. Farquhar, J. N. : Outline of Religious Literature of India.
92. Fick, Richard. : Social organisation in North-east India in Buddha's time.
93. Gyani, S. D. : Agni Purāṇa : A Study.
94. Hastings, J. : Encyclopoedia of Religion and Ethics. Edinburgh.
95. Hazra, R. C. : Studies in the Purānic Records on Hindu Rites and customs, 1940.
96. John Wilson : India three thousand years ago.
97. Journal : Bihar Research Society, Patna.
98. Kane, P. V. : History of Dharma Śāstra.
99. Macdonell, A. A. : India's Past, Oxford, 1927.
100. Macdonell, A. A. : Vedic Mythology.
101. Majumdar, R. C. & Pusalkar, A. D. : The Vedic Age, Bombay.
102. Martin, M. E. R. : Women in Ancient India.
103. Max Muller, F. : India, what It can teach us.
104. Max Muller, F. : Sacred Book of the East.

105. Max Muller, F. : The Six systems of Indian Philosophy.
106. Mees, G. H. : Dharma and Society, London, 1935.
107. Mehta, Rati Lal : Pre-Buddhist India.
108. Monier Williams, M. : Sanskrit-English Dictionary.
109. Monier Williams, M. : English-Sanskrit Dictionary.
110. Mookerjee, R. K. : Education in Ancient India, London, 19;7.
111. Nixon–Sri Kriṣkṇa Prem : Search for truth.
112. Pargiter, F. E. : Ancient Indian Historical Tradition.
113. Pargiter, F. E. : The Purāṇa Text of the Dynasties of the Kali Age.
114. Parkar and Haswel : Text Book of Zoology.
115. Patil, D. K. R. : Cultural History from Vāyu Purāṇa Poona, 1946.
116. Ray Choudhari, H.C.: Studies ịn Indian Antiquities.
117. Research Publication Vols. I–II : Nava Nalanda Mahavihara.
118. Rhys Davids, T. N. : Dialogues of the Buddha.
119. Rhys Davids, T. N. : Pali-English Dictionary.
120. Sarkar, D. C. : Studies in the Geography of Ancient and Medieval India.
121. Shastri, S. Rao : Women in the Vedic Age, Bombay, 1954.
122. Tagore, S. M. : Caste System of the Hindus.
123. Vaidya, C. V. : History of Medieval Hindu India.
124. Westermark, E. : History of Human Marriage, London.
125. Wilson, H. H. : English Edition of Viṣṇu Purāṇa, Calcutta.
126. Winternitz, M. : History of Indian Literature.
127. Wood, Rev. J. : Religions of India.

अनुक्रमणी

क—विषय

ख—नामादि

अ

घ

च

ध

भ

य

र

ल

ग—उद्धरणांशः

विक्रमीय–२०२३–संवत्सरस्य
कार्तिक्यां पूर्णमास्यामारचित

आत्मकुलपरिचयः

(क)

गयापुष्पपुरीमध्ये वर्तमानो विराजते ॥
रेवाँ ग्रामः सुसम्पन्नो दरधाख्य सरित्तटे ॥ १ ॥
वसन्ति धनिकास्तत्र भूमिहारा द्विजातयः ॥
तेषां पुरोहितास्सन्ति दिव्या ब्राह्मणसत्तमाः ॥ २ ॥
कर्मनिष्ठाश्च निर्लोभाः पाठकोपाधिभूषणाः ।
पञ्चदेवार्चकास्सर्वे गायत्रीजपतत्पराः ॥ ३ ॥

+ + + + +

कश्चिदीश्वरदत्तेतिमहात्मा तत्कुलेऽभवत् ॥
शब्दशास्त्रस्य मर्मज्ञस्त्यागमूर्तिर्जितेन्द्रियः ॥ ४ ॥
तस्यापि द्वारकानाथो निर्लोभस्तनयः सुधीः ॥
तत्पुत्रोगणपत्याख्यो बुधः पौराणिकः कविः ॥ ५ ॥
कथा तद्विषया चैका श्रूयते श्रुतिहारिणी ॥
वेदौलीति समाख्याते ग्रामे शारण्यमण्डले ॥ ६ ॥
मातृपक्षादसन्तानात्प्राप्ताऽभून्महती मही ॥
निर्लोभेनावनी तेन लोष्ठवत्सा हि तत्यजे ॥ ७ ॥
पुनरात्मप्रभुत्वेन पौरुष्येण च धीमता ॥
क्रीताऽन्याऽस्त्यूर्वरा भूमिः स्वग्रामे शस्यशोभना ॥ ८ ॥
तत्सुताश्चापि चत्वारः शब्दशास्त्रस्य कोविदाः ॥
गङ्गाधरश्च गोपालो भूपालो मोहनस्तथा ॥ ९ ॥
कर्मनिष्ठो हि भूपालः स्पष्टवक्ता पुरोहितः ॥
शापानुग्रहयोर्दक्षः कृषिकर्मा चिकित्सकः ॥ १० ॥
नन्दश्च जनकश्चैतौ भूपालस्य सुतावुभौ ॥
जनकः कर्मकाण्डी च ज्योतिर्विद्याविदास्तिकः ॥ ११ ॥
कृषिकर्मा कथावाची पौरोहित्यं करोति च ॥
देवीरूपादयामूर्तिर्भार्याऽस्य कविलासिनी ॥ १२ ॥
तयोर्दुहितरस्तिस्रो राधा च ललिता प्रिया ॥
प्रथमे द्वे दिवं याते चान्तिमैतासु वर्तते ॥ १३ ॥

+ + + + +

धर्ममाचरतोर्नित्यं जातः पुत्रैषिणोस्तयोः ॥
एकमात्रस्तु पुत्रोऽहं सर्वानन्देति विश्रुतः ॥ १४ ॥

दिव्या वृन्दावती पत्नी प्रथमाऽऽसीन्मम प्रिया ॥
विवाहात्पञ्चमे वर्षे तरुणी सा दिवं गता ॥ १५ ॥
पत्नी लालमतीदेवी द्वितीया मे पतिव्रता ॥
अस्या एव हि वर्तन्ते पुत्रा मेधाविनस्त्रयः ॥ १६ ॥
ज्येष्ठो रामावताराख्यो विवेकी सुन्दराक्षरः ॥
दानापुरस्थिते मुख्ये डी० एस्० ऑफिस संज्ञके ॥ १७ ॥
महाकार्यालये प्रीत्या दक्षः कार्यं करोत्ययम् ॥
अस्य कार्यविधानेन सन्तुष्यन्त्यधिकारिणः ॥ १८ ॥
मध्यमो जगदीशाख्यः प्रातिभो मेधयार्चितः ॥
एम्० एस्-सी० पदवीधारी भूतत्त्वान्वेषणोद्यमः ॥ १९ ॥
विश्वविद्यालये राँच्या विज्ञानाध्यापकोऽधुना ॥
संस्कृतज्ञः सदाचारोदयालुः पितृसेवकः ॥ २० ॥
कनिष्ठः शिवदत्ताख्यः स्वाभिमानी दृढव्रतः ॥
कुरुते कार्यमस्थायि समाहाध्ययनोऽधुना ॥ २१ ॥
चतस्रस्तनुजास्सन्ति कान्ति-शान्ति प्रभा-दयाः ॥
सर्वास्सौभाग्यवत्यस्तास्सद्गृहिण्यश्च साक्षराः ॥ २२ ॥

\+ + + + +

पत्नी रामावतारस्य कमलेति पतिप्रिया ॥
अनयोरपि वर्तन्ते पुत्रा हि बालकास्त्रयः ॥ २३ ॥
श्रीसतीशो हरीशश्च श्रीशचन्द्रस्तथैव च ॥
सर्वे मेधाविनो भान्ति प्रतीयन्ते भविष्णवः ॥ २४ ॥
सतीशो मे ससम्मानः बी० एस्-सी० वर्गसंस्थितः ॥
पितृव्येन वसन् राँच्यामधीते सुन्दराक्षरः ॥ २५ ॥
मध्यमो मे हरीशोऽपि सप्तवर्षीयबालकः ॥
वर्गे च पञ्चमेऽधीते मनोयोगेन साम्प्रतम् ॥ २६ ॥
कनिष्ठः श्रीशचन्द्रश्च चञ्चलः श्यामलाकृतिः ॥
शिक्षितुं वर्णमालां स समारभत चाधुना ॥ २७ ॥
सुते रामावतारस्य विद्येते द्वे विचक्षणे ॥
वीणा-गीतेति चाख्याते पितुः प्रेमाप्नुतोऽनिशम् ॥ २८ ॥

\+ + + + +

पत्नी श्रीजगदीशस्य माधुरी साक्षरा शुभा ॥
शिशुरेकात्मजोऽप्यस्य श्रीप्रकाशोऽतिशोभते ॥ २९ ॥
एकवत्सरदेशीयः स्मयतेऽयं मुहुर्मुहुः ॥
किञ्चिदस्पष्टभावेन वक्तुञ्चापीह चेष्टते ॥ ३० ॥

\+ + + + +

पत्नी श्रीशिवदत्तस्य राधानाम्नी समागता ॥
गृहकर्मप्रवीणा सा नवोढा सरलाकृतिः ॥ ३१ ॥
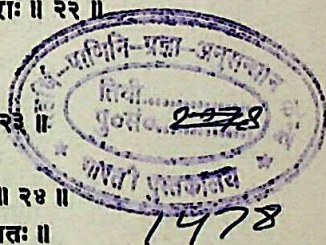
(ख)

शब्दशास्त्रं पठित्वादौ चतुर्भिर्वत्सरैरहम् ॥
काव्यशास्त्रं समारेभे पठितुं गुरुसन्निधौ ॥ ३२ ॥
द्वावास्तां मुख्यरूपेण गुरू शिक्षाप्रदौ मम ॥
पाठको भृगुनाथोहि गौरीलालस्तथाऽपरः ॥ ३३ ॥
देवरूपावुभावेव सदाचारपरायणौ ॥
प्रथमः काव्यमर्मज्ञो द्वितीयः शब्दशास्त्रवित् ॥ ३४ ॥

\+ \+ \+ \+ \+

खृष्टाब्दे वेदपाण्यङ्कवेदजुष्टे समाहितः ॥
वङ्गीयकाव्यतीर्थाख्यमुपाधिं लब्धवानहम् ॥ ३५ ॥
तदानीं लिखिता लेखा विविधाः कवितास्तथा ॥
पत्रिकासु विभिन्नासु रचनास्ताः प्रकाशिताः ॥ ३६ ॥
पञ्चाम्बुराज्यवास्तव्या हरिचन्द महोदयाः ॥
डी० लिट्० विरुदसम्पन्ना आई० ई० एस्० पदस्थिताः ॥ ३७ ॥
विहारे प्राच्यशिक्षाया आसन्नधीक्षकास्तदा ।
तेषामपि कृपालेश आसीन्मयि सुनिश्चलः ॥ ३८ ॥

\+ \+ \+ \+ \+

करनेत्राङ्कचन्द्राब्दे जिलास्कूलेतिसंज्ञके ।
राँच्युच्चविद्याभवने नियुक्तो मुख्यपण्डितः ॥ ३९ ॥
सार्धैकवत्सरं राँच्यां कार्यं सम्पादयन्नहम् ।
तत्राधिकारिणः सर्वान्सन्तुष्टान्कृतवानहम् ॥ ४० ॥
अक्षियुग्माङ्कविध्वब्दे सिंहभूम्याख्यमण्डले ॥
चाईवासाख्यनगरे स्थानान्तरित आगतः ॥ ४१ ॥
ऋषिवर्षाण्यतीतानि सिंहभूमौ हि तिष्ठतः ।
सर्वे तत्रापि सन्तुष्टाः छात्राश्चाप्यधिकारिणः ॥ ४२ ॥
व्योमवेदग्रहाब्जाब्दे जून मासे ततोऽप्यहम् ।
पलामूमण्डलीयोच्च-विद्यालयमुपागतः ॥ ४३ ॥
अत्रैवांग्लीयसाहित्यमध्येतुमुपचक्रमे ।
प्रवेशिकां परीक्षाञ्च दत्वोत्तीर्णोऽभवं युवा ॥ ४४ ॥
पुरे डाल्टेनगंजाख्ये षड्वर्षाण्यवसं सुखी ।
यतमानः समायातुमभीष्टे स्वीयमण्डले ॥ ४५ ॥
शास्त्रश्रुत्यङ्कसोमाब्दे पटनासीटि संज्ञके ।
उच्चविद्यालये चाहं स्थानान्तरित आगतः ॥ ४६ ॥
वर्षत्रयं व्यतीत्यात्र सीटी विद्यालये तदा ।
येन केनाप्युपायेन ततोऽपि परिवर्तितः ॥ ४७ ॥
ग्रहश्रुत्यङ्कविध्वाख्ये पुनः खृष्टीयहायने ।
गर्दनीबाग संस्थानमुच्चविद्यालयं ययौ ॥ ४८ ॥

विद्यालये विशालेऽत्र स्वच्छाम्बुवायुदायके।
वसतो दश वर्षाणि मनोऽरमत सर्वथा ॥ ४९ ॥
छात्रोपयोगयोग्यानि कवितागुम्फितानि च।
साहित्यपुस्तकान्यत्र लिखितानि मुदा मया ॥ ५० ॥
अत्राप्यध्येतुमारेभे शास्त्राणि विविधान्यहम्।
नेत्रेषुग्रहचन्द्राह्वे पुनः खृष्टीयहायने ॥ ५१ ॥
स्थानमुच्चतमं लब्ध्वा सौवर्णपदकन्तथा।
परीक्षाञ्च समुत्तीर्णः पुराणाचार्य सञ्ज्ञिकाम् ॥ ५२ ॥
आँग्लवाचमधीयानो द्वीपेष्वङ्केन्दुवत्सरे।
बी० ए० नाम परीक्षाञ्च समुत्तीर्णः सुखान्वितः ॥ ५३ ॥
एम्० ए० उपाधिसम्पन्नः पालिशास्त्रे कृतश्रमः।
राजकीये प्रतिष्ठाने नालन्दास्थे सुविश्रुते ॥ ५४ ॥
सेवाऽऽयोगेन राज्यस्य पदं वै राजपत्रिते।
प्रोन्नत्यव नियुक्तोऽहं संस्कृताध्यापकोऽभवम् ॥ ५५ ॥

\+ + + +

बौद्धान्विविधदेशीयान्साधून् भिक्षून्समागतान्।
प्राध्यापयमहं प्रीत्या तत्र संस्कृतवाङ्मयम् ॥ ५६ ॥
तत्रोषित्वार्पिवर्षाणि पाठयँश्चाप्यहं पठन्।
जातो लब्धावकाशोऽहमस्मिन्नेव सुवत्सरे ॥ ५७ ॥
समस्तविद्योदधिपारगानां-
मुकर्जिसत्कारिमहोदयानाम् ॥
दिग्दर्शकत्वे कृतशोधकार्यो-
गवेषणाधीतिपरायणोऽहम् ॥ ५८ ॥
अब्देऽक्षिशास्त्राङ्कमृगाङ्कसंज्ञे
समापितान्वेषणशेषकार्यः ॥
कृतश्रमोऽहं विविधासु वाक्षु
पी-एच० डी० त्याख्यमुपाधिमाप ॥ ५९ ॥

\+ + + +

पुराणशास्त्राम्बुनिधौ निमग्नो-
ह्यमूल्यरत्नानि नवानि यानि ॥
उद्धर्तुकामोऽस्म्यधुनापि तानि
गवेषणाकार्यसमाहृतात्मा ॥ ६० ॥

विक्रमीय २०२३ संवत्सरस्य कार्त्तिक्यां पूर्णमास्यां रचितो

वंशवृक्षः